परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

जैनदर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक
साध्वी डॉक्टर प्रियवन्दनाश्री

सम्पादक
नवीनचन्द्र जी सावनसुखा

प्रकाशक
प्रेम सुलोचन प्रकाशन, श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट
पेद्ददतुलम्बलम् (आन्ध्रप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

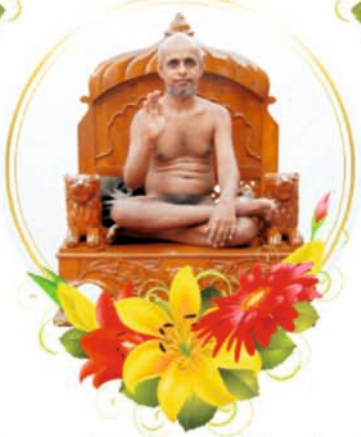

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

जैन दर्शन में

समत्वयोग

एक समीक्षात्मक अध्ययन

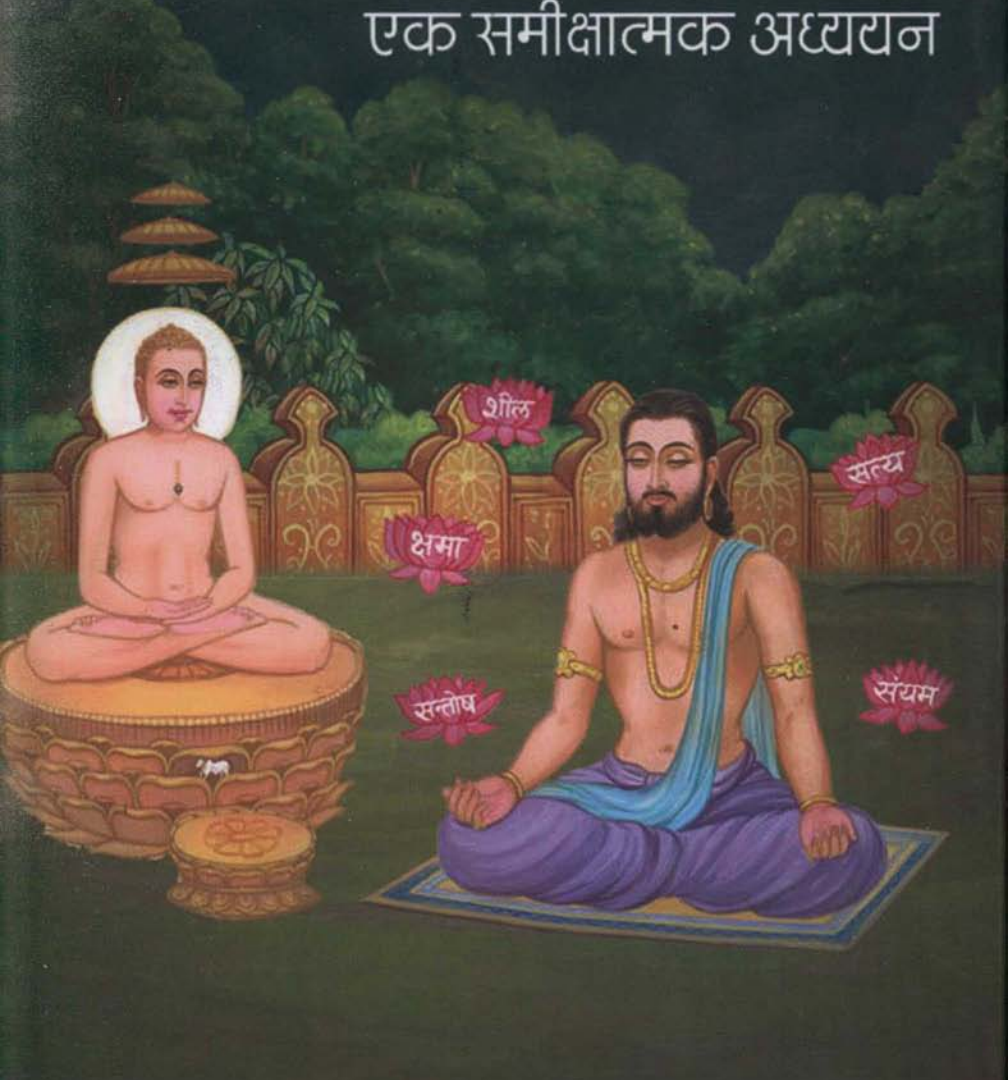

- साध्वी डॉ. प्रिय वंदना श्री

प.पू. गुरुवर्या
सुलोचनाश्रीजी म.सा.

आपकी वाणी में
विनम्रता का वैडूर्य है
आपकी प्रज्ञा में
अद्‌भुत प्रतिभा का सौंदर्य है
आपके कार्य में
कुशलता का शौर्य है
आपके कंठ में
कोयलसी कुक का कोकिलय है

आपके संयमोपवन में
बसन्त का माधुर्य है
आपके चिन्तन में
गुणरत्नों का गांभीर्य है
आपकी पैनीदृष्टि में
गहरी पारदर्शिता का चातुर्य है
आपके जीवन में
सरलता...सहजता का धैर्य है

हे शान्तमना, हे उदार हृदया,
तुम संयम उपवन के हो समता कुञ्जन
हे करूणा सिन्धु ! जीवन बिन्दु !
फलोदी नगर की तुम हो नंदन।
हे पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका
गुरुवर्या श्री तुम्हारे
पावन चरणाविंदों में शत्-शत् वंदन...

नव ग्रह मन्दिर
पेद्दतुम्बळम, आदोनि.

भारतदेशे...आंध्रप्रदेशे...कर्नाटकबोर्डरे...आदोनी समीपे...18 कि.मी. दूर मंत्रालय रोड पर स्थित पेद्दतुम्बलम् गाँव में संभवतः 55 वर्ष पूर्व कुएं के उत्खनन् के समय महाप्रभाविक पार्श्वनाथ परमात्मा की 12वीं शताब्दी की प्रमाणित प्रतिमा प्राप्त हुई। प.पू. द्वय गुरुवर्या श्री सुलोचना श्रीजी म.सा. एवं प.पू. सुलक्षणा श्रीजी म.सा. की पावन प्रेरणा से तीर्थ स्थल में विशाल आराधना भवन, 50 कमरे, 5 हॉल, भोजनशाला, उपाश्रय, भव्य सूरज-भवन, त्रिशिखरबद्ध जिनालय दादावाडी, गुरु मन्दिर और सूर्य मन्दिर का कार्य तीव्रता से प्रगति की ओर...

प्राचीन प्रतिमाजी से तीर्थ स्थापना हुई। वही प्रतिमाजी मूलनायक रूप में विराजमान होगी। यह तीर्थोद्धार है।

तीर्थ का सुरम्य वातावरण जनमानुष को प्रमुदित बनाता है। दर्शन, पूजा का उत्कृष्ट प्रतीक है।

उत्सव प्रसंग है महा मंगलकारी
गुरुवर्या श्री की सन्निधि अति आनंदकारी
पार्श्वमणितीर्थ की पवित्र भूमि पावनकारी
प्रतिष्ठा-महोत्सव की शुभ घड़ियाँ जयकारी... मंगलकारी

2 मार्च 2008 के शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठा

श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

पेद्दतुम्बळम, आदोनि.

जैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन

साध्वी डॉ. प्रियवंदना श्री

जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं (मान्य वि.वि. द्वारा)
पीएच.डी. उपाधि हेतु स्वकृत शोध प्रबन्ध

प्राप्ति स्थान :

पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट
पो. पेद्दतुम्बलम्, वा. आदोनी,
जि. कर्नूल - 518301 (आ.प्र.)
फोन : 08512-257432, 257434

प्राच्य विद्यापीठ
दुपाडा रोड, शाजापुर -465 001. (म.प्र.)

कम्पोजिंग : **नवीनचन्द्रजी सावनसुखा**

प्रकाशक वर्ष : प्रथम संस्करण, ई. सन् 2007
प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 250/-

प्रकाशक :

प्रेम सुलोचन प्रकाशन
श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ ट्रस्ट
पो. पेद्दतुम्बलम्, वा. आदोनी, जि. कर्नूल - 518 307. (आ.प्र.)
फोन : 08512-257432, 257434

मुद्रक :

सुकांत प्रिन्ट एन्टरप्राइसेस
35/12, वालटैक्स रोड, चेन्नई - 600 079.

श्री पार्श्वनाथ परमात्मा

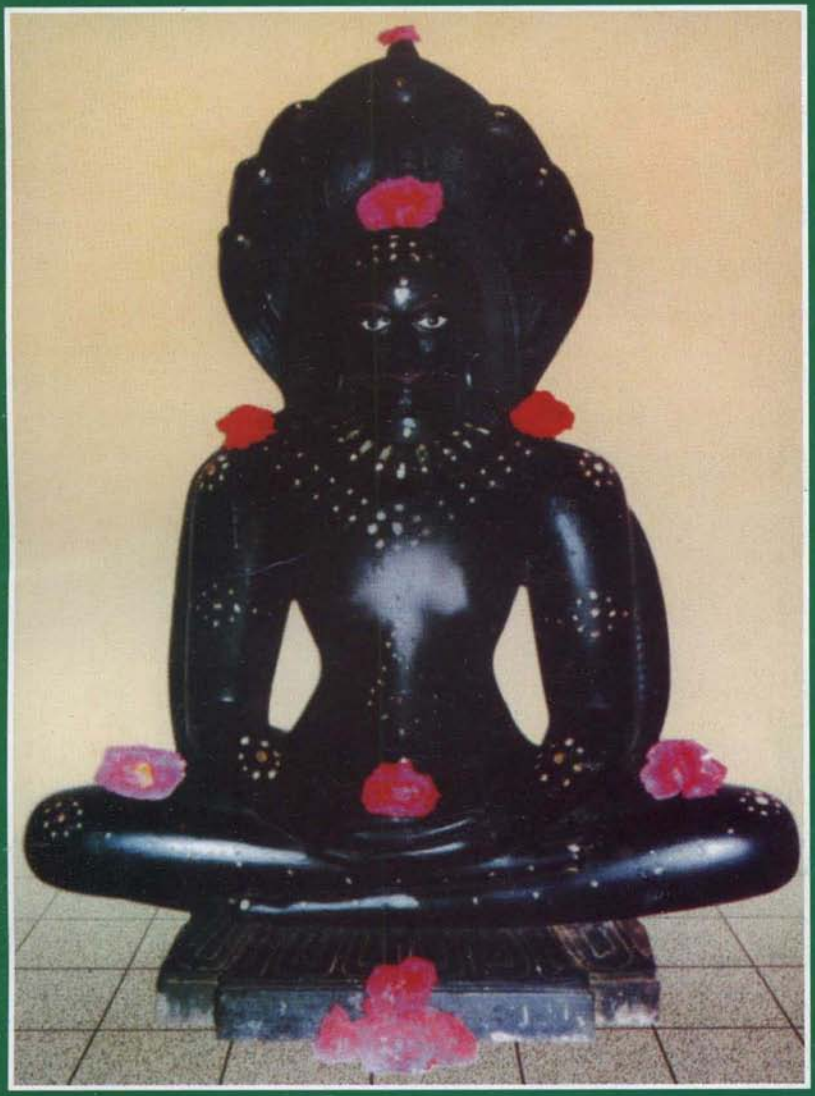

श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

पेद्दतुम्बलम, आदोनी

दादा श्री जिनदत्त सूरीश्वरजी

दादा श्री जिनकुशल सूरीश्वरजी

आचार्य श्री जिनकान्तिसागरजी म.सा.

आचार्य श्री कैलाशसागरजी म.सा.

गुरुवर्या
सुलोचनाश्रीजी म.सा.

उपाध्याय
श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

गुरुवर्या
सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

साध्वी प्रियलताश्रीजी

साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी

दादा श्री जिनदत्त कुशल गुरुभ्यो नमः श्री पार्श्वमणि पार्श्वनाथाय नमः श्री गणनायक सुखसागर गुरुभ्यो नमः

जैन दर्शन में समत्वयोग

एक समीक्षात्मक अध्ययन

दिव्याशीर्वाद :

प.पू. आचार्य श्री मज्जिनकान्ति सागर सूरिश्वरजी म.सा.

प.पू. प्रवर्तनी महोदया श्री प्रेमश्रीजी म.सा.

प.पू. समतामूर्ति तेजश्रीजी म.सा.

आज्ञा प्रदाता :

प.पू. खरतरगच्छाधिपति आचार्य श्री जिन कैलास सागर सूरिश्वरजी म.सा.

शुभाशीर्वाद :

प.पू. उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

सम्प्रेरिका :

प.पू. पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा.

प.पू. उग्रतपस्वीरत्ना सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

लेखिका

साध्वी डॉ. प्रियवंदना श्री

मार्गदर्शन / निर्देशक :

डॉ. सागरमल जैन

संपादक :

डॉ. ज्ञान जैन

अर्थ सौजन्य :

पू. पिताश्री स्व. शा शंकरलालजी चुनीलालजी साकरिया एवं भाई स्व. शा अशोककुमार शंकरलालजी साकरिया की पुण्य स्मृति में पू. माताजी श्रीमती सुखीबाई शंकरलालजी साकरिया की सद्प्रेरणा से

सुपुत्र	-	**सोहनलाल, घेवरचंद, विपिनकुमार**
सुपुत्र वधु	-	**ललीतादेवी, मनफुलादेवी, सोनलदेवी**
सुपौत्र	-	**अभिषेक, कुशल, सफल, अभिजीत, दर्शिल**
सुपौत्र वधु	-	**डिम्पलदेवी, पायलदेवी, केजलदेवी**
सुपौत्री जमाई	-	**रिंकल-संजयकुमारजी शाह**
		अभिलाषा-गौतमजी एवं ध्वनी
प्रपौत्र	-	**ध्वज एवं समस्त साकरिया परिवार**

मरूधर में सांडेराव

फर्म : मंगलदीप ज्वेलर्स

6, रंगनाथ मेन्शन, 145, एवेन्यु रोड, बेंगलौर - 560002

फोन : दुकान 22211440, 41511088 निवास : 26609909

श्रुत सौजन्य में लाभ लेकर, पुण्योपार्जन किया है।
आपकी श्रुत सेवा स्तुत्य, सराहनीय, अनुमोदनीय है।

सर्वांगीण क्षेत्र में आपने अनूठी उदारता का परिचय दिया है।
जिनशासन का गौरव बढ़ाके आपने प्रशंसनीय कार्य किया है।
अपनी तेजस्वी प्रतिभा से साकरिया परिवार का नाम दिपाया है।

अर्थ सौजन्य :

स्व. शा शंकरलालजी चुनीलालजी साकरिया

श्रीमती सुखीबाई शंकरलालजी साकरिया

श्री घेवरचंदजी शंकरलालजी साकरिया

श्रीमती मनफुलादेवी घेवरचंदजी साकरिया

तेरा...तुझको...अर्पण
समर्पण...

जिनकी पावन सन्निधि में, अन्तरंग कलि विकसित हुई,
उत्साहों से भरी पिचकारी, गुरुवर ! आपसे मुझे मिली,
उर उर ऊर्जा किरण से, ज्ञान की ज्योति है प्रगटी
शाजापुर में लेखनी की, श्रुतधारा प्रवाहित हुई,
डॉ. सागरमलजी के निर्देशन में, कलम कागज पर चली,
गुरुवर्याश्री के शुभ आशीष की, बरखा जीवन में बरसी,
ग्रंथ पूर्णाहुति मंगल क्षणों में, अन्तर की कलियाँ महकीं,
उत्कृष्ट भावाञ्जलि सह, नतमस्तक चरणों में धरति,
इस 'समत्वयोग' ग्रंथ को, तुम कर कमलों में समर्पित करती
समर्पण...समर्पण...समर्पण...!!

आस्था के आयाम, परम श्रद्धेया, मातृहृदया
परम पूजनीया गुरुवर्या **श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा.**
परम पूजनीया **श्री सुलक्षणाश्रीजी म.सा.** के
पवित्र...पाद्...पद्मों में सादर समर्पित...!!!

'सुलोचन' शिशु
साध्वी प्रियवंदना श्री

* मंगल संदेश *

माँ शारदा के चरणों में समय, शक्ति और ज्ञान का अर्ध्य अर्पण करने वाली साध्वी डॉ. प्रियवन्दनाश्रीजी सादर सुख साता।

'जैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन' इस ग्रंथ के अंदर तन-मन की अथाह मेहनत के दर्शन होते हैं। निश्चित रूप से आपका यह प्रयत्न स्तुत्य एवं सराहनीय है। आपका यह प्रयत्न साधकों एवं पाठकों के बीच कोहिनूर रत्न की तरह दीप उठे तथा गुरुवरों के आशीर्वाद रूप झरणे आपको सतत अक्षुण्ण रूप से सिंचित करते रहें, इन्हीं मंगल आशीर्वचन के साथ... ''

- खरतरगच्छाधिपति आचार्य जिन कैलाश सागर सूरि

* शुभ संदेश *

जैन दर्शन का प्राण है - समता। समता नहीं है तो कुछ भी नहीं है। समता मोक्ष मार्ग की पहली सीढ़ी है। समता पाये बिना समकित पाया नहीं जा सकता। समता चारित्र है तथा दर्शन और ज्ञान का परिणाम है।

कषाय गिराता है। समता उठाती है। कषाय नरक का द्वारा है। समता मोक्ष का। आत्मा की साधना, समता की साधन है। अनुकूलत हो चाहे प्रतिकूलत, हर परिस्थिति में समत्व का सहज भाव, साधना है। समता का सहज होना, साधना की अनिवार्य शर्त है। थोपी हुई समता मोक्ष का साधन नहीं है।

सहज समत्व की उपलब्धि आत्म-भाव के विज्ञान से उपस्थित होती है। ज्यों-ज्यों आत्मा आत्म-भाव में रमण करती जाती है, त्यों-त्यों वह सहज ही कषाय-दशा से मुक्त होकर समत्व-योग को पुष्ट करती जाती है। यही शुद्ध समता है।

साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी ने समत्व-योग विषय को अपनी शोध यात्रा का सोपान बनाकर समता की गहराईयों का स्पर्श किया है।

यह ग्रन्थ उपयोगी बने, इस कामना के साथ-साथ यह भी काम्य है कि साध्वीजी लेखन के कार्य में निरन्तरता बनाये रखें।

- उपाध्याय मणिप्रभसागर

❊ अन्तराशीष ❊

जीवन में साहित्य का बहुत महत्त्व है। मधुरकंठी प्रियवंदनाश्री ने 'जैन दर्शन में समत्वयोग' पर विशेष दार्शनिक अध्ययन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व के नाम शोध प्रबन्ध लिखा है। प्रियवंदनाश्री की मानव कल्याणकारी चरम लक्ष्य तक पहुँचने वाले समत्वयोग विषय पर यह कृति प्रकाशन की जा रही है। ग्रन्थ को बोधगम्य एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में डॉ. सागरमलजी जैन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। डॉ. ज्ञानचन्दजी जैन ने कुशल सम्पादन करने का प्रयास किया है।

आशा है यह कृति सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगी तथा जीवन को समुन्नत एवं परिष्कृत करने में सहयोगी बनेगी। अपने जीवन को कमल समान सुरभित बनावें। मैत्री, करूणा तथा सम्यग्दर्शन से आत्मा को दीप्तिमान बनावें, आधि, व्याधि और उपाधि के क्षणों में आत्मा समभाव में विराम पाये एवं वे क्षण अवश्य ही कर्म निर्जरा व शुभ बंध अंत में मोक्ष के बीज बनें यही अभिलाषा है।

प्रतिदिन स्वयं और दूसरों को स्वाध्याय में जोड़े, परमात्म वाणी का अनुसरण करें, समत्वयोग प्राप्त कर अल्पकाल में मोक्षाधिकारी बनें अन्तरकामना के साथ शुभाषीष है।

- साध्वी सुलोचनाश्री

❊ आशीर्वचन ❊

आत्मिय, प्रिय, सरल, सौम्य, अध्ययन प्रिय, मधुर कंठी साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी ने जिनका जीवन संयम से सुशोभित है, समत्व योग ग्रंथ लिखकर आम जनता को समत्व का परिचय कराया है। इस शोध प्रबंध में उन्होंने श्रुत साधना का यथार्थ परिचय दिया है। विद्वद्वर्य, प्रज्ञावंत, आगम प्रिय डॉ. सागरमलजी जैन का विशेष सहयोग एवं सहकार मिला। आप युग-युग तक शासन सेवा करें।

मैं देव गुरु से प्रार्थना करती हूँ कि यह कृति पाठकगणों के लिए प्रेरणारूप बने। साहित्य का सृजन करते हुवे आप मानव कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करती रहें, स्वयं समत्व भावों की साधना करें, मुक्ति विलय का वरण करें, यही अन्तर शुभाशीष।

- साध्वी सुलक्षणाश्री

* मंगल शुभेच्छा *

शोध-प्रकाशन की पुनित वेला में बसवनगुड़ी श्रीसंघ अत्यन्त ही गौरव का अनुभव कर रहा है। हम सभी का मन आज पुलकित है। प्रभु की परम कृपा से, गुरुदेव के असीम आशीर्वाद से, गुरुवर्या श्री प.पू. सुलोचनाश्रीजी म.सा. एवं प.पू. सुलक्षणाश्रीजी म.सा. की कृपा से एवं डॉ. सागरमलजी सा के कुशल निर्देशन में द्वय साध्वीवर्या ने अपने वर्षों से संजोये सपने को साकार रूप दिया। उन्होंने अपनी प्रज्ञा छैनी से प्रतिभा का सम्यक् उपयोग किया। निश्चित् रूप से यह श्रुतार्जन गहरी लगन का द्योतक है।

साध्वी श्री प्रियलता श्रीजी ने 'जैन दर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा' ग्रंथ का निर्माण कर बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा दशा का उल्लेख कर जन समुदाय को यथार्थ धरातल पर आत्मसात् करने का मार्गदर्शन कराया। साथ ही साध्वी श्री प्रियवंदना श्रीजी ने 'जैन दर्शन में समत्वयोग' ग्रंथ का आलेखन कर शोध यात्रा को सफलतम ऊँचाइयों तक पहुँचाया।

प्रबल-पुण्योदय से एक साथ दो ग्रंथों के प्रकाशन का अपूर्व अवसर प्राप्त कर हमारा श्री संघ लाभान्वित हो रहा है। द्वय साध्वीवर्या द्वारा संशोधित, नवनिर्मित कृति संत, संघ व समाज के लिए सर्वोपयोगी सिद्ध होगी। सभी दार्शनिकों ने जीवन का मूलाधार आत्मा व समत्व को स्वीकार किया है।

वर्तमान बाह्य परिवेश में..इन्टरनेट, कम्प्युटर युग में ऐसे प्रेरणा-स्रोत ग्रंथों का नियोजन होना चाहिये। पाठकवर्ग के लिए यह कृति ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय हेतु अतीव उपयोगी होगी। पूजनीया साध्वी श्री का सफलतम परिश्रम एवं ज्ञान के प्रति समर्पण स्तुत्य व अभिनन्दीय है। जिनशासन की गोद में अपूर्व धरोहर रूप शोध प्रबन्ध प्रदान किया इसी तरह भविष्य में अनेकविध ग्रंथ प्रदान कर शासन सेवा में रत रहें। साध्वी श्री द्वय को बधाई देते हुए हमारा समस्त श्री संघ गौरवान्वित है। यह कृति जनमानुष के मनोमस्तिष्क का परिमार्जन, परिष्कृत करें। यही शुभेच्छा....

श्री जिनकुशल सूरि जैन दादावाडी ट्रस्ट

72, के.आर. रोड, बसवनगुड़ी, बेंगलौर - 560 004. कर्नाटक

फोन : 080 - 2242 3348

* शुभानुशंसा *

साध्वी श्री प्रियवंदनाश्रीजी का शोध प्रबन्ध 'जैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन' के प्रकाशन की पुण्य वेला पर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि शोध प्रबन्ध के लेखक और मार्गदर्शक दोनों के लिए सर्वाधिक प्रमोद का विषय यही होता है कि उनका ग्रन्थ प्रकाशित हो जाए।

समत्वयोग न केवल जैन धर्म-दर्शन की साधना का उत्स है अपितु समस्त साधना विधियां इस मूलभूत सिद्धान्त को मान्यकर के चलती हैं। समत्व योग की साधना परमात्म पद की आराधना है। गीता में समत्वयोग को सभी योगों का सारतत्व बताया है। समत्वयोग साध्य योग है तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग उसके साधन हैं।

साध्वी श्री प्रियवंदनाश्रीजी ने मेरे मार्गदर्शन और सान्निध्य में रहकर समत्वयोग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर अपना शोध प्रबन्ध लिख कर जैन विश्वभारती संस्थान मान्य विश्वविद्यालय लाडनूं से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की थी। आज उनका यह शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है, यह उनके लिए और हम सबके लिए प्रमोद का विषय है।

प्रस्तुत कृति का स्वाध्याय करके हम सबका जीवन समत्व भावना से सार्थक बने, इसी शुभ भावना के साथ यह अपेक्षा करता हूँ कि साध्वीश्री जी निरन्तर ज्ञानाराधना में रत रहकर स्व-पर कल्याण करें।

- डॉ. सागरमल जैन

संस्थापक-निदेशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र)

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

❊ संपादकीय ❊

शोध प्रबन्ध का संपादन सरल भी है, विषम भी।

'जैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन' के संपादन में हुई अनुभूतियाँ मस्तिष्क में छाप छोड़ गयीं कि समत्वयोग का पुरुषार्थ ही आदर्श जीवन का आधार है जो सिद्धालय प्रवेश निश्चित कर सकता है । जिसने भी इसको अपना लिया वह दु:ख रूपी, दु:खदायी, दु:ख परंपरा वाले संसार से पार हो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त बन गया।

पू. साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी ने अपने शोध प्रबन्ध में समत्वयोग के स्वरूप, हेतु, आश्रय, आलंबन का सुन्दर विवेचन किया है। उनकी सशक्त कलम से प्रेरक तत्त्वों का सतत उद्‌घाटन होता रहे, यही शुभकांक्षा...

डॉ. ज्ञान जैन, B.Tech., M.A., Ph.D.
37, पेरूमाल मुदली स्ट्रीट, चेन्नई - 600 079.

❊ मंगल कामना ❊

आत्मप्रिय...अनुजा...प्रियवंदनाश्रीजी ज्ञानाभिनंदन...
आज खुशियों ने दी दस्तक...हार्दिक बधाई!
हवा में नयी खुशबू बिखराता...अनमोल पल है आया।
आसमां में ज्ञानोदय का कुंकुम अनेरा छाया।
नई उमंगे...नई तरंगे...नये भविष्य का पैगाम लाया।
तुम्हारा संजोया सपना आज यथार्थ धरातल पर उतर आया।
(द्वय) गुरुवर्या श्री के आशीर्वाद से...शोधग्रंथ का प्रणयन लगन से पूर्ण किया।
ज्ञान...ध्यान...तप...त्यागमय घृत से...लेखन को है सजाया॥
अमूल्य धरोहर अर्पणकर...सामाजिक दायित्व बखूबी निभाया।
दृढ़ निष्ठा...निर्णय...क्षमता अनेरी तुम में है पायी॥
तुम में सरल...सहज...गाम्भीर्य गुणों की गागर समायी।
संयम से अनुप्राणित हो...साथ-साथ शिक्षा यात्रा जारी रही।
शोध प्रबंध का सर्जन कर...पीएच.डी. की उपाधि पाई।
अध्ययनप्रियता...स्वाध्याय रूचि को...अभिव्यक्त कर तुमने दिखाया।
श्रुत सागर में डुबकी लगा...अनूठी प्रतिभा को स्फुरित किया।
मूर्धन्यमनीषी डॉ. सागरमलजी का सफल...निश्चल निर्देशन पाया।
जीवन फिजाओं में शोध ग्रंथ प्रकाशन का सावन है आया।
समत्व साधना के सूरों से...अन्तरंग माधुर्य के साज सजे।
गुरु बहना करती मंगल कामनाएँ...हर कल्पना साकार बने।
साहित्य जगत में प्रगति करें...शासन सेवा में निरन्तर बढ़े।
आत्म लक्षी बनकर के...सिद्धत्व उजास की प्राप्ति करें।
यही शुभेच्छा...।

शुभाकांक्षिणी
साध्वी प्रियस्मिताश्री
साध्वी प्रियलताश्री
एवं समस्त भगिनी मंडल

परम पूज्य साध्वी श्री सुलोचना जी म. सा. का शिष्य परिवार

❊ मंगल कामना ❊

साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी द्वारा लिखित नव निर्मित शोधग्रंथ के प्रकाशन के स्वर्णिम पलों में मैं प्रसन्नचित हूँ। इन्होंने 'जैन दर्शन में समत्व योग : एक समीक्षात्मक अध्ययन' ग्रंथ का सर्जन कर अभिवंदनीय कार्य किया है। जैन दर्शन में समत्वयोग यह एक विशिष्ट विषय है। समत्व वही है जो जैनत्व का दूसरा पर्याय है। समत्व के बिना मोक्ष साधना हमेशा अपूर्ण ही रहती है क्योंकि समत्वयोग ही मोक्ष का मूलाधार है।

मुनि जीवन के केन्द्र स्थान में 'समत्वयोग' रहा हुआ है। श्री कल्पसूत्र में भी 'उवसमसारं खु सामणं' कह कर इस साम्यभाव को प्रधानता दी गई है। साम्यभाव से ही मन की स्थिति समाधानमय, आश्वासनजनक एवं वैराग्य मूलक बनती है। वाचिक आन्दोलन एवं कायिक चेष्टा में भी साम्य भाव से संतुलन समन्वय एवं निष्पाप प्रवृत्ति बनी रहती है।

योगसार नामक ग्रन्थ में भी कहा है -

साम्यं मानस भावेषु, साम्यं वचन वीचिषु।
साम्यं कायिक चेष्टा सु, साम्यं सर्वत्र सर्वदा॥

मन-वचन-काया के हर योग में, हर वृत्ति-प्रवृत्ति में, हर क्षेत्र एवं हर काल में साम्य भाव धारण करना वही साधक जीवन की साधना है।

जैन दर्शन की मुख्य साधना-पद्धति सामायिक भाव में निहित है। विशेषावश्यक महाभाष्य जैसे ग्रन्थों में कहा गया है कि सिर्फ सामयिक के एक पद के अवलंबन से अनंत आत्माएँ भूतकाल में मोक्ष में गई हैं एवं भविष्य में जायेगी। सामायिक में प्रधान रूप से समत्य योग की साधना है। समत्व यानि समतुल्यचित्त वृत्ति..। ओ मान-अपमान, जय-पराजय, इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, लाभ-हानि आदि सर्व परिस्थिति में मनःस्थिति को समभाव-तुल्य भाव में ले जाती है।

'जैन दर्शन में समत्वयोग' इस विषय पर विदुषी साध्वी श्री प्रियवंदनाश्रीजी ने विशद् विवेचना पूर्वक आलेखन किया है, अतः उन्हें मैं हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

जडवाद-जमानावाद के बढ़ते प्रवाह में श्रृंगार रसजनक एवं सदाचार को नष्ट करने वाले साहित्य का धूम प्रचार हो रहा है, ऐसे समय में सत्साहित्य का प्रचार अत्यावश्यक है।

मुझे आशा ही नहीं बल्कि पूर्ण विश्वास है कि ऐसे और भी कई निबंध श्रेणियों का सर्जन साध्वी प्रियवंदनाश्रीजी द्वारा होता रहेगा जिससे चतुर्विध संघ में भी स्वाध्याय का सुमधुर कुंजन एवं चिन्तन की गहराई में आत्मा का आलोक सुविस्तृत हो। यही शुभकामना।

आधोई (कच्छ), 2007

- पं. कीर्तिचन्द्र विजय

* एक चिन्तन *

संसार में प्राणी मात्र की अनादिकाल से सदैव एक ही इच्छा रही है कि वह सुखी रहे।

सामान्यतः मानव सुख प्राप्ति हेतु स्वयं के मन एवम् इन्द्रियों को प्रिय भौतिक साधन, सुविधाओं तथा सम्बन्धों को उपलब्ध करने का प्रयास करता है। बहुधा जो साधन प्रिय लगते हैं, वे मात्र सुखाभास होकर अन्ततः उनके परिणाम प्रतिकूल व दुःखों के कारण बनते हैं। पूर्वाग्रह रहित एकाग्रता विवेकपूर्वक चिन्तन करने पर ही सांसारिक पदार्थों, शक्तियों और व्यवहार का वास्तविक ज्ञान हो सकता है। इस हेतु समभाव (सामायिक) का अभ्यास अनिवार्य है।

पूज्य साध्वीजी श्री प्रियवन्दनाश्रीजी का शोध ग्रन्थ 'जैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन' सरल भाषा में बहुउपयोगी कृति है। इसका मनोयोग पूर्वक पठन, चिन्तन, मनन एवम् तदनुसार व्यवहार से प्रत्येक व्यक्ति निश्चित ही शाश्वत सुख की ओर अग्रसर हो सकता है।

नवीनचन्द्र नथमल सावनसुखा

इन्दौर, 26-10-2007

* साधना का मुख्य द्वार *

जिनकथित जैन धर्म में समता, सामायिक और सम्यक्त्व का अधिकाधिक महत्त्व है। और इन तीनों विषयों पर अनेक ज्ञानी परम ऋषियों ने अनेकानेक ग्रन्थ लिखे हैं। सिर्फ लिखे ही नहीं अपितु अपने जीवन में भी उतारा है और औरों के जीवन में भी उतारने का प्रयास किया है। ऐसा ही एक मीठा प्रयास है यह महाकाय ग्रंथ जिसमें समता, सामायिक और सम्यक्त्व इन तीनों पर विशेष तौर से महत्त्व देकर विशद् वर्णन किया गया है। समता आदि को साधने वाला व्यक्ति यदि समता आदि का पूर्ण महत्त्व न जानता हो तो इन धर्मों की कोई सार्थकता नहीं है। यानि इन धर्मों के बलबूते पर हमें हमारी मंजिल नहीं मिल सकती। अत: इन धर्मों की जानकारी भी उतनी ही आवश्यक है जितनी इन धर्मों की आवश्यकता।

श्रुतसमुद्र की सतत समुपासना में संलग्न साधनामय जीवन और चारित्र के उच्चतम आयामों का संस्पर्श करते हुए पूजनीया 'साध्वी डॉ. प्रियवंदनाश्रीजी म.सा.' जिन्होंने चारित्रमार्ग पर आगे बढ़ते अपने कदम-कदम पर श्रुतसागर की तह तक जाकर अपने श्रम सीकरों से सिंचित शोध प्रबन्ध को प्रबुद्ध मनिषिओं एवं साधकों के लिए इस ग्रंथ के रूप में पेश किया है। मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि आपश्री लिखित यह गागर में सागर समान महान् ग्रंथ समस्त मानव समाज को नई राह दिखाएगा।

अंत में...परमात्मा आपको अपने बढ़ाये ग्रंथलेखन के कदम पर सफलता के शिखर पर ले जायें, और वही शिखर आपके साथ-साथ हम सबके लिए भी मोक्ष तक पहुँचने में सहायक बने, यही मंगल कामना के साथ..

नरेन्द्रभाई कोरडिया

प्राचार्य - जैन ज्ञानशाला, नाकोडा तीर्थ, मेवानगर-344 025 (राज.)

❋ सुप्रभातम ❋

साध्वीजी प्रियवंदनाश्रीजी ने 'जैन दर्शन में समत्व योग' पर शोध करने का अद्‌भुत कार्य किया है। विषयगत गंभीरता व लेखन निष्ठा को देखकर उनकी प्रतिभा संपन्नता व परिपक्वता का बोध होता है।

मेरी शुभकामना है कि अपनी गुरुवर्या श्री के कुशल मार्गदर्शन में अविराम अपनी कलम चलाती हुई साहित्य की ऊँचाईयों को स्पर्श करें व आगे भी अधिक परिश्रम पूर्वक तथा सजगता से विविध ग्रन्थों की रचना कर जैन विद्या के भण्डार को समृद्ध करें। इसी मंगल कामना के साथ...

गौतमचन्द कोठारी

प्राचार्य - श. उ. मा. वि., फलोदी

* शुभकामना *

मूर्धन्यमनीषी, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत शिरोमणि डॉ. सागरमलजी के निर्देशन में 'जैन दर्शन में समत्वयोग' पर साध्वी प्रियवंदना श्रीजी ने शोध कार्य को पूर्ण कर, अपनी अध्ययन प्रियता एवं स्वाध्याय रूचि का परिचय दिया, वह अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मोक्ष मार्ग की साधना में समत्वयोग जैसे ग्रंथ की अतिअनिवार्यता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में साध्वी श्रीजी ने तनाव से मुक्ति कैसे हों ? समभाव में कैसे जिऐं ? समत्व की साधना कैसे करें ? श्रावक की भूमिका कैसी हो ? गृह को स्वर्ग कैसे बनाऐं ? घर का वतावरण शांतिमय कैसे हो ? आदि विषयों पर प्रकाश डालकर वर्तमान युवापीढ़ी को जागृति का संदेश दिया है। यह कृति आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आत्मोत्कर्ष हेतु परिलक्षित होती है एवं संत-समाज में अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत शोध प्रकाशन के अवसर पर मेरा मन प्रफुल्लित है, डॉ. साध्वी श्री प्रियवंदना श्रीजी बधाई की पात्र हैं। मैं उनका तहे दिल से अभिनंदन करता हूँ। इसी तरह आप समय-समय पर अगणित ग्रंथ निर्माण करती हुई उत्तरोत्तर ऊँचाईयों का स्पर्श करते हुए वृद्धि को प्राप्त वे अपनी विशिष्ट प्रतिभा के माध्यम से लेखनी को गति प्रदान करती हुई आगमिक क्षेत्र को अपने अवदान से संपरिपूर्ण करें। निकट भविष्य में समत्व की साधना में सफलता प्राप्त करें। यही शुभकामना।

गोविन्दचंद मेहता

अध्यक्ष-कुशल एजुकेशन ट्रस्ट, मुंबई, जहाज मंदिर उपाध्यक्ष, जोधपुर.

❊ आत्मीय स्फुरण ❊

साध्वी श्री प्रियवंदनाश्रीजी का शोध प्रबन्ध 'जैन दर्शन में समत्व योग: एक समीक्षात्मक अध्ययन' एक महत्वपूर्ण कृति है। आपश्री अनेक विध कार्यों में व्यस्त होते हुये भी आपने इस शोध-ग्रंथ का निर्माण कर जिनशासन की शान बढ़ायी है, इसलिए हमें आप पर नाज है। प्रसंगानुसार इसमें श्रावक एवं मुनि वर्ग की सामान्य साधना का भी चित्रण कर अपनी व्यापक अध्ययन दृष्टि का परिचय दिया है।

प्रस्तुत कृति सर्वांगीण क्षेत्र में अतीवउपयोगी रहेगी। नि:संदेह ऐसे सामाजिक, वैचारिक, व्यवहारिक विषमताओं के बारूद पर खड़े मानव समाज के लिए सर्वोपयोगी सिद्ध होगी। हमारे लिए हर्ष का विषय है कि आत्म साधना से सम्बन्धित इस शोध ग्रन्थ का लेखन कर साध्वी श्री प्रियवंदनाश्रीजी ने पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

इस शोध ग्रंथ के प्रकाशन के शुभ अवसर पर हमारे गोलच्छा परिवार की ओर से हार्दिक बधाई। इसी तरह आप दिन दूनी रात चौगुनी साहित्य क्षेत्र में अभिवृद्धि करें एवं जिनशासन में चार चाँद लगाये।

प्रवीण/मनीष गोलच्छा एवं समस्त गोलच्छा परिवार

रायपुर

भूमिका

सभी भारतीय साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य समाधि या समभाव की प्राप्ति रहा है। जैनदर्शन में वीतराग अवस्था, बौद्धदर्शन में वीततृष्ण होना तथा हिन्दू धर्म दर्शन में अनासक्त होना ही आत्मपूर्णता का सूचक माना गया है। वस्तुतः जब चित्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर समभाव में स्थित होता है, तब ही व्यक्ति आत्मपूर्णता या आत्मतोष की अनुभूति करता है। आत्मा की इसी समत्वपूर्ण, निर्विकल्प अवस्था को ही समाधि, निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है।

जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मोक्ष है। समत्व की साधना को न केवल जैनदर्शन ने ही स्वीकार किया है अपितु बौद्धदर्शन, वेदान्तदर्शन और योगदर्शन आदि सभी ने चित्तवृत्ति का निरोध होने या चित्त के निर्विकल्प होने अथवा उसके तनाव और विक्षोभ से रहित होने में ही अपनी साधना का सार माना है। इसे ही समत्वयोग की साधना कहा है।

व्यक्ति की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, मानसिक विक्षोभ, उद्वेग, तनाव आदि उसकी चित्त की स्थिरता को भंग करते हैं। किन्तु समत्वयोग का उद्देश्य व्यक्ति को मानसिक उद्वेगों, तनावों, विक्षोभों आदि से मुक्त करना है।

भगवान महावीर ने भगवतीसूत्र में स्पष्ट रूप से बताया था कि आत्मा का स्वभाव समत्व है और उस समत्व को प्राप्त कर लेना ही जीवन का चरम पुरुषार्थ है। इसी समत्वयोग की साधना को जैनदर्शन में सामायिक की साधना के रूप में माना गया है। संक्षेप में कहें तो जैन धर्म की साधना सामायिक की साधना है और सामायिक की साधना समभाव, समता या वीतरागता की साधना है। वस्तुतः सामायिक और समत्वयोग एक दूसरे के पर्याय ही हैं।

गीता में भी समत्व को योग कहा गया है। श्रीमद्भागवत में समत्व की साधना को अच्युत अर्थात् परमात्मा की आराधना कहा गया है। गीता में ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को समत्व-स्वरूप बताया

गया है। गीता में हमें विविध प्रकार के योगों की चर्चा मिलती है। उसमें योग की परिभाषा देते हुए 'समत्वयोग उच्यते' कहकर समत्व को ही साध्ययोग माना गया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति - ये सभी समत्व की उपलब्धि के साधन हैं। समत्वयोग सभी योगों का साध्य है। समत्वयोग के इस महत्त्व को दृष्टि मे रखकर ही हमने प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में *'जैनदर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन'* प्रस्तुत किया है।

यदि आत्मा का स्वरूप समत्व है तो फिर हमारे जीवन में विक्षोभ और तनाव क्यों उत्पन्न होते हैं? वे क्यों व्यक्ति के चित्त के समत्व को विचलित करते हैं। जैनदर्शन में इन कारणों को राग-द्वेष या कषाय के रूप में वर्णित किया गया है। समत्वयोग की साधना वस्तुतः राग-द्वेष से मुक्ति की साधना है। जब राग-द्वेष का कोहरा हटेगा, तभी विराग का अभ्युदय होगा एवं वीतरागता का पुष्प प्रस्फुटित होगा।

जैन परम्परा में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा मिलती है। वस्तुतः जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र हमें समत्व की दिशा में ले आते हैं तभी वे सम्यक् माने जाते हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमने यह बताया है कि जीवन में राग-द्वेष तथा इच्छाओं और आकांक्षाओं से मुक्ति की साधना ही समत्व की साधना है। सामाजिक जीवन में वही अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का रूप ले लेती है। क्योंकि हिंसा, आग्रह और संग्रह की वृत्तियाँ सामाजिक समत्व को भंग करती हैं। अतः हमारे वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में समभाव बना रहे, इस चर्चा को ही हमने प्रस्तुत शोध में रेखांकित किया है। व्यक्ति का कर्तव्य राग-द्वेष तथा आकांक्षाओंओं से ऊपर उठकर अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह की साधना करना है।

आज सम्पूर्ण मानव समाज विक्षोभों और तनावों से ग्रस्त है। उसे इनसे मुक्त करने का एकमात्र उपाय समत्वयोग ही है। हम यह भी देखते हैं कि इस समत्वयोग की साधना का प्रतिपादन न केवल जैनदर्शन में ही मिलता है, अपितु जैन धर्म की सहवर्ती हिन्दू और बौद्ध परम्परा में भी मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन में समत्वयोग के परिप्रेक्ष्य में इन साधना पद्धतियों का भी अध्ययन किया गया है

और इनमें उपलब्ध तथ्यों की जैन परम्परा से तुलना की गई है।

इसके अतिरिक्त आज मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी मानसिक विक्षोभों व तनावों के कारणों की खोज और उनसे मुक्ति के उपायों की चर्चा विस्तार से मिलती है। प्रस्तुत शोध में हमने उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर भी विचार किया है जिनके कारण व्यक्ति के जीवन में विक्षोभ और तनाव उत्पन्न होते हैं। साथ ही जैन साधना पद्धति में इन विक्षोभों और तनावों से मुक्ति के जो उपाय बताये गए हैं, उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कितनी सार्थकता है, इसकी भी चर्चा की गई है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोधकार्य की उपयोगिता और आवश्यकता को हमने रेखांकित करने का प्रयास किया है। हम अपने प्रयत्न में कितने सफल हुए हैं, यह निर्णय करने का अधिकार तो विद्वज्जनों का है। हम अपनी सीमित योग्यता और क्षमता से जो भी कर सके हैं, उसे इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण में हमें जिन-जिन महानुभावों का सहयोग मिला है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

कृतज्ञता ज्ञापन

मैं प्रस्तुत कृति की पूर्णाहुति के क्षणों में कृपालु परमात्मा के चरणों में प्रणत भाव से भावभीनी वन्दना समर्पित किये बिना नहीं रह सकती।

मैं इस मंगलवेला में परमोपकारी लाखों जैन निर्माता चारों दादागुरुदेव के चरणारविन्दों में अहोभावपूर्वक वन्दन करती हूँ।

मेरी असीम आस्था के महोदधि सदैव स्नेहवात्सल्य के पयोदधि मानवता के मसीहा, दीक्षा प्रदाता प.पू. आचार्य श्री जिन कान्तिसागरसूरिश्वरजी के पावन चरणों में शत-शत वन्दन करती हूँ। आपश्री के दिव्याशीर्वाद के आलोक में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का कार्य व्यवस्थित एवं निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है।

मैं ऐसा मानती हूँ कि महाप्रज्ञावन्त साहित्यमनीषी मेरे जीवन के पथ प्रदर्शक, अनन्त श्रद्धा के केन्द्र उपाध्याय प्रवर प.पू. गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. की असीम अनुकम्पा से ही प्रस्तुत

कृति इतनी अल्पावधि में सानन्द सम्पूर्ण हुई है।

प्रखर मेधावी, मम प्रेरणा के स्रोत, महामनस्वी पन्यास प्रवर प. पू. पं. अग्रजन भ्राता श्री कीर्तिचन्दविजयजी म.सा. की अनन्य कृपादृष्टि के सुप्रसाद से ही प्रस्तुत शोध कार्य इस रूप में प्रस्तुत हो सका है।

शोध ग्रन्थ की पूर्णता की इस पावन वेला में मम जीवन उद्धारिका कुशल मार्ग निर्देशिका, मम जीवन निर्मात्री, मेरे जीवनोपवन में संयम के पुष्प महकाने वाली प.पू. गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा. तथा आत्मरस निमग्ना प.पू. सुलक्षणाश्रीजी म.सा. के पावन पाद प्रसूनों में श्रद्धाभिषिक्त वन्दना समर्पित करती हूँ। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध गुरुवर्याश्री के संजीवन-सम अमोघ असीम आशीर्वाद एवं स्नेहवात्सल्य का ही सुफल है। पूज्याश्री से ही मुझे अध्यात्म विषय चयन की प्रेरणा सम्प्राप्त हुई। आपश्री के अन्तर्हृदय के असीम स्नेहवात्सल्य के सहारे ही यह कार्य मैं सुचारू रूप से सम्पन्न कर पाई हूँ। आपश्री की प्रेरणा, कृपा तथा मार्गदर्शन के अभाव में प्रस्तुत कार्य अशक्य था। मेरे कर्त्तव्य बोध को जाग्रत करने का सम्पूर्ण श्रेय पूज्याश्री को ही जाता है। वे ही इस समग्र कृतित्व की प्राण हैं। उन्हीं के प्रसाद से मेरे हृदय में श्रुतसाधना का दीप प्रज्वलित हुआ है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की परिसमाप्ति के सुअवसर पर मैं प्रशान्तमना सहयोगिनी गुरुभगिनी प.पू. प्रीतिसुधाश्रीजी म.सा., प्रखर मेधावी प.पू. प्रीतियशाश्रीजी म.सा., सद्ज्ञान सरिता प्रियकल्पनाश्रीजी, स्नेहसिक्ता प्रियरंजनाश्रीजी, प्रियश्रद्धांजनाश्रीजी, प्रियस्नेहांजनाश्रीजी, प्रियसौम्यांजनाश्रीजी, प्रियदिव्यांजनाश्रीजी, प्रियस्वर्णांजनाश्रीजी, प्रियश्रुतांजनाश्रीजी, प्रियशुभांजनाश्रीजी, प्रियदर्शांजनाश्रीजी, प्रियज्ञानांजनाश्रीजी, प्रियदक्षांजनाश्रीजी, प्रियश्रेष्ठांजनाश्रीजी, प्रियवर्षांजनाश्रीजी और प्रियमेघांजनाश्रीजी, का मधुर स्मरण किये बिना नहीं रह सकती।

निरन्तर स्नेहामृत की वर्षा करने वाली, शान्त, सौम्य, सरल, सहज तथा ज्येष्ठा भगिनी श्री प्रियस्मिताश्रीजी म.सा. ने धार्मिक, सामाजिक तथा व्यवहारिक जिम्मेदारी को निभाते हुए मुझे अध्ययन करने का अधिकाधिक अवसर प्रदान किया, यह उनकी उदारता है।

आपने स्वच्छ कॉपी तैयार करने एवं लेखन कार्यों में मेरे लिए अमूल्य समय अर्पित किया। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के इस रूप को प्राप्त करने में आपका आत्मीयतापूर्ण सहयोग एवं सतत प्रेरणा रही है, जिसे न तो भुलाया जा सकता है और न ही शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

सहृदया, प्रखर व्याख्यात्री भगिनी श्री प.पू. प्रियलताश्रीजी जिनकी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सदैव प्रेरणा एवं सेवाएँ रही हैं, उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूं। आपने अपनी अस्वस्थता के बावजूद तथा अपनी पीएच.डी. के कार्य में व्यस्त होते हुए भी अपने कार्य को छोड़कर पहले मेरे कार्य में पूर्ण सहयोग देने का कष्ट किया है। यही आपकी सरलता, उदारता, आत्मीयता एवं सहयोग समन्वय भावना का ही प्रतीक है।

अनन्य सेवाभावी प्रियप्रेक्षांजनाश्रीजी और अध्ययनरता प्रियश्रेयांजनाश्रीजी का भी इस शोधकार्य की पूर्णता में सतत् सहयोग रहा है। इन दोनों ने बी.ए. का अध्ययन करते हुए भी वैयावच्च आदि की अनुकूलता का सक्रियतापूर्वक पूर्ण ध्यान रखा। इन सभी गुरु बहनों के आत्मीयतापूर्ण स्नेह, सद्भावना तथा सद्प्रेरणा से इन्हीं के पावन सानिध्य में यह कार्य सम्पन्न हुआ। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैंने तथा प्रियलताश्रीजी म.सा. ने पीएच.डी. करने का दृढ़ निश्चय किया। एतदर्थ हमने प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान, भारतीय संस्कृति के संवाहक, आगमवेत्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के पूर्व निर्देशक तथा प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक डॉ. सागरमलजी जैन से सम्पर्क किया। आरम्भ में डॉ. साहब से दूरभाष के माध्यम से ही विचार-विनिमय होता रहा। बाद में जयपुर आगमन के अवसर पर आपने अध्यात्म में मेरी अभिरुचि देखकर मुझे *'जैनदर्शन में समत्वयोग'* विषय पर शोधकार्य करने का निर्देश दिया। उक्त विषय के निश्चित होने पर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई। मेरे प्रबल पुण्योदय या डॉ. साहब की कृपा से विश्वभारती संस्थान, लाडनूं के द्वारा विषय की स्वीकृति भी प्रदान कर दी गई।

मेरे शोधकार्य की परिपूर्णता का सम्पूर्ण श्रेय प्रख्यात मनीषी,

निर्देशक महोदय, श्री डॉ. सागरमलजी को जाता है। उन्होंने अपनी तमाम व्यस्तताओं एवं उत्तरदायित्वों से समय निकालकर मेरा निरन्तर मार्गदर्शन किया तथा आध्यात्मिक विषय को स्पष्ट करके सरल तथा सुगम बनाया। डॉ. साहब परम प्रखर व्यक्तित्व के धनी प्रकाण्ड विद्वान होकर भी अत्यन्त सरल, सहज, सहृदय एवं उदार हैं। वे अर्थ एवं यश की लिप्सा से पूर्णतः मुक्त हैं। उन्होंने मुझे सर्वदा अधिकाधिक मूल ग्रन्थों का अनुशीलन कर प्रमाणों एवं युक्तियों के आधार पर शोधकार्य करने का निर्देश दिया। आपने अपने स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना अधिकाधिक समय निकालकर निस्वार्थ सेवाएँ प्रदान कीं तथा शोधकार्य को पूर्णता तक पहुँचाया। आपकी इस महती उदारता, सहज अनुकम्पा तथा ज्ञानानुराग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

उन्होंने शोध विषय को अधिकाधिक प्रासंगिक एवं उपादेय बनाने हेतु सतत मार्गदर्शन किया। डॉ. सागरमलजी अत्यन्त सरल, सहज, उदार तथा निःस्वार्थ सेवाभावी हैं। यद्यपि वे नामस्पृहा के लेशमात्र भी अभिलाषी नहीं हैं; तथापि इस शोधकार्य के सूत्रधार होने से उनका नाम प्रस्तुत कृति के साथ स्वतः ही जुड़ गया है। वे मेरे शोध-प्रबन्ध के मात्र निदेशक ही नहीं है, वरन् मेरे आत्मविश्वास के प्रतिष्ठापक भी हैं। उन्होंने मुझे सदैव परिश्रमपूर्वक शोधकार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। इस वृद्धावस्था में भी आपने शारीरिक कष्टों की परवाह किये बिना नियमित मार्गदर्शन तथा कार्यावलोकन करके प्रस्तुत शोधकार्य को पूर्णता प्रदान की। इस हेतु मैं आपके प्रति हृदय के अन्तस्तल से भावभीनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

स्वाध्याय संयुक्त, सरलता, सहजता की प्रतिमूर्ति, यथानाम तथा गुणों से सुशोभित, जैनदर्शन के गहन अध्येता डॉ. ज्ञानजी जैन को मैं विस्मृत नहीं कर सकती हूं। क्योंकि ग्रंथ चेन्नई प्रेस में छप रहा था और हमारा चातुर्मास बेंगलौर था इसी दरमियान प्रुफ लेकर सहज़ ही जाना-आना होता रहा और अपना अमूल्य समय प्रदानकर इस कृति में त्रुटियाँ न रह जायें, उस पर पूरा-पूरा ध्यान केन्द्रित करते हुए सम्पादन किया। आपके निर्मल, निश्चल सहयोग के प्रति मैं तहे दिल से सविनय प्रणत हूं।

इस शोध-सामग्री को कम्प्युटराइज्ड करने में अनन्य निःस्वार्थ सेवाभावी, अगाध ज्ञानप्रेमी, देव गुरु भक्त सुश्रावकरत्न श्रीमान नवीनजी सा बुजुर्गावस्था के साथ-साथ स्वास्थ्य की अस्वस्थता होते हुये भी निरंतर वैशिष्ट्य योगदान प्राप्त हुआ। आपमें जिनशासन के प्रति अपूर्व समर्पण के दर्शन हुए। आप कहा करते थे आप दोनों के शोधग्रंथ के टाइप का सारा कार्य मैं करूंगा व सम्पूर्ण उर्जा लगाकर कार्य पूर्ण किया। धन्य है आपकी महानता को, आपके वात्सल्यसिक्त भावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

इस ग्रंथ प्रकाशन में श्रुत सहयोगी जिन शासन समर्पित, उदारहृदयी, शान्तमूर्ति, भाग्यशाली श्रावकरत्न श्रीमान घेवरचन्दजी साकरिया की सेवाभावनाऐं प्रशंसनीय, अतुलनीय व अनुमोदनीय है। आप साधुवाद के पात्र है। श्रुत सहयोग करके आपने अपनी उदारता का परिचय दिया है एवं जिन शासन का गौरव बढाया है। एतदर्थ मैं उनकी भी हृदय से आभारी हूं।

प्रस्तुत शोधकार्य के लिए जब हमारा शाजापुर आगमन हुआ तो यहाँ पूर्व से शोधकार्य में रत साध्वी श्री दर्शनकलाश्रीजी आदि ठाणा पाँच का सानिध्य भी हमें लगभग आठ माह तक सहज ही प्राप्त हुआ। सह-अध्ययन में उनका सरल एवं सहज आत्मीय व्यवहार सदैव ही स्मरणीय रहेगा।

शाजापुर श्रीसंघ के सदस्यों का स्नेह एवं आत्मीयतायुक्त व्यवहार मेरे इस शोधकार्य का अनुपम सम्बल है। यहाँ का शान्त, स्वस्थ एवं शीतल वातावरण मेरे मन को भा गया, जो मेरे ज्ञान-ध्यान और तप-आराधना में सहायक बना। अध्ययन करने हेतु सुचारू व्यवस्था एवं आवश्यक ग्रन्थ उपलब्ध हुए। सभी धर्मानुरागियों की भावभीनी आत्मीयता सदैव सम्प्राप्त होती रही है, जो मेरे स्मृति के धरातल पर सदेव अमिट रहेगी। सभी का बहुविध सहयोग सराहनीय है।

उदारमनस्वी प्रतिभा सम्पन्न डॉ. वी.के. शर्माजी एवं उपाध्याय भूदेवजी का भी इसमें अनन्य सहयोग रहा है। उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। शाजापुर श्री संघ के अध्यक्ष परमात्मभक्ति के रसिक, मधुर गायक श्री लोकेन्द्रजी नारेलिया, सम्मान्य श्री ज्ञानचन्दजी, श्री मनोजजी नारेलिया आदि का भी समय-समय पर

अटूट सहयोग उपलब्ध होता रहा है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ की कम्प्युटर कॉपी तैयार करने में भी सुनिलजी एवं राजेन्द्रजी का प्राथमिक सहयोग प्राप्त हुआ है। इस प्रुफ रीडिंग एवं संशोधन में श्री चैतन्यकुमारजी सोनी, शाजापुर वालों का भी विशिष्टरूप से सहयोग रहा है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध इन सभी के सहयोग का ही सुफल है। यह सहयोग मेरे स्मृति पटल से कभी विस्मृत नहीं हो सकेगा। इस कार्य को इन्होंने अन्यन्त परिश्रम से सम्पूर्ण किया है। इनकी व्यस्तता अधिक होने पर भी इन्हीं के कारण प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का मुद्रण कार्य शीघ्रातिशीघ्र हो पाया है। मैं इनके प्रति अन्तर्हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इन्दौर निवासी श्रीमान् हेमन्तजी शेखावत, श्री नन्दलालजी सा. लूणिया, श्रीमान् लूणकरणजी सा. मेहता, श्रीमान् प्रकाशचन्दजी सा. मालू आदि भी समय-समय पर यहाँ पधारकर इस शोधकार्य में प्रोत्साहन देते रहे हैं। एतदर्थ वे सभी भी साधुवाद के पात्र हैं।

जोधपुर, विजयनगर, इन्दौर आदि के खरतरगच्छ के श्रीसंघों का भी विविध कार्यों में सहयोग प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

समाज के कर्मठ सेवाभावी श्री गोविन्दजी सा. मेहता, श्री उत्तमचन्दजी सा. बडेर, श्री नेमीचन्दजी सा. झाडचूर, श्री लाभचन्दजी सा. जैन, श्री प्रवीणजी सा. लोढा, मातुश्री मदनबाईसा. गोलेच्छा आदि का भी समय-समय पर इस शोधकार्य में प्रोत्साहन एवं सहयोग उपलब्ध हुआ है।

इन सबके अतिरिक्त जिनका भी प्रस्तुत शोधकार्य के प्रणयन में मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग उपलब्ध हुआ है, उन सभी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। प्रस्तुत कृति समभाव की साधना हेतु साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो, इसी शुभेच्छा के साथ,

– साध्वी प्रियवन्दनाश्री।

अनुक्रमणिका

अध्याय १
जैन साधना में समत्वयोग का स्थान

१.१.१	जैन साधना में समत्वयोग का स्थान	१
१.१.२	समत्वयोग की महत्ता	७
१.२	समत्व की साधना ही धर्म की आराधना है	१०
१.३	योग शब्द का अर्थ	१४
१.४	समत्व शब्द का अर्थ	२१
१.५	समत्व और सामायिक	२४
१.६	समत्व और सम्यक्त्व	२६
१.७	समत्वऔर वीतरागता	२९
१.८	समत्वयोग का तात्पर्य	३१
१.९	समत्व से विचलन के कारण	३५

अध्याय २
जैनदर्शन का त्रिविध साधनामार्ग और समत्वयोग

२.१	सम्यग्दर्शन और समत्वयोग (समयक्त्व) की आधार भूमि	
	-सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य	४३
	वैदिक परम्परा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति	४७
	जैनदर्शन का त्रिविध मोक्षमार्ग	४७
	सम्यग्दर्शन समत्वयोग की आधार भूमि	४९
२.१.१	सम्यग्दर्शन : वीतरागता या समत्व के प्रति अनन्य निष्ठा	५३
२.२	सम्यग्ज्ञान क्या, क्यों और कैसे	५८
	सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का पूर्वापरत्व	५९

२.२.१	सम्यगज्ञान (आत्म-अनात्म विवेक)	६२
२.२.२	भेदविज्ञान का स्वरूप	६४
२.३	सम्यक्चारित्र	६८
२.३.१	सम्यक्चारित्र की साधना समत्वयोग की आधारभूमि	७२
	चारित्र के द्विविध भेद	७३
	जैनधर्म में गृहस्थ-साधना का स्थान	७४
	श्रमण और गृहस्थ जीवन की साधना में अन्तर	७५
	गृहस्थ धर्म की विवेचन शैली	७६
	गृहस्थ साधकों के दो प्रकार	७७
	तीन अणुव्रत	८२
	चार शिक्षाव्रत	८४
	श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप और समत्व की साधना	८७
	श्रमण धर्म	९०
	जैन श्रमणों के प्रकार	९२
	जैन श्रमण के मूलगुण	९३
	पंचमहाव्रत	९३
	अहिंसा महाव्रत	९४
	मृषावाद (सत्य-महाव्रत)	९७
	अस्तेय महाव्रत	१००
	ब्रह्मचर्य महाव्रत	१०३
	अपरिग्रह महाव्रत	१०७
	अष्टप्रवचनमाता : समिति गुप्ति	११०
	समिति	१११
	गुप्ति	११२
	परिषह	११४
	दशविध मुनि धर्म	११८
	बारह भावना (अनुप्रेक्षा)	१२०
२.३.२	सामायिक चारित्र एवं समत्वयोग की साधना	१२१

अध्याय ३

समत्वयोग : साधक, साध्य और साधना

३.१	समत्वयोग में साध्य, साधक और साधनामार्ग का पारस्परिक संबंध	१३१
३.२	समत्वयोग का साध्य समभाव की उपलब्धि	१३७
३.३	समत्वयोग के साधक का स्वरूप	१४१
३.४	समत्वयोग की साधना के विभिन्न चरण	१४३
	१. मिथ्यात्व गुणस्थान	१४७
	२. सास्वादन गुणस्थान	१५१
	३. मिश्र गुणस्थान	१५३
	४.अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	१५४
	५. देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	१५६
	६. प्रमत्त सर्वविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	१५८
	७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान	१५९
	८. अपूर्वकरण (निवृत्तिकरण) गुणस्थान	१६०
	९. अनिवृत्तिकरण (बादर-सम्पराय गुणस्थान)	१६२
	१०. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान	१६३
	११. उपशान्त मोह गुणस्थान	१६४
	१२. क्षीण मोह गुणस्थान	१६५
	१३. सयोगी केवली गुणस्थान	१६६
	१४. अयोगी केवली गुणस्थान	१६७
३.५	समत्वयोगोग और सामायिक	१६९
	सामायिक शब्द के विभिन्न अर्थ	१७०
	सामायिक का शब्दार्थ	१७१
	षडावश्यक और समत्वयोग की साधना	१७३
	१. सामायिक	१७६
	२. चतुर्विंशतिस्तव (भक्ति)	१७८
	३. वन्दन	१८०

	४. प्रतिक्रमण	१८२
	५. कायोत्सर्ग	१८७
	६. प्रत्याख्यान	१८९
	सामायिक अर्थात् समत्वयोग के लक्षण	१९२
	सामायिक का स्वरूप	१९४
	सामायिक में लगनेवाले दोष	१९८
३.६	सामायिक की साधना के विविध प्रकार	२०२
३.७	समत्वयोग की साधना विधि	२१५

अध्याय ४

समत्वयोग की वैयक्तिक एवं सामाजिक साधना

४.१	समत्व की वैयक्तिक साधना	२१९
४.२	सामाजिक विषमता के कारण	२२३
४.३	वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के संघर्ष	२२६
	१. मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष	२२७
	२. व्यक्ति की आन्तरिक अभिरूचियों और बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष	२२८
	३. वैयक्तिक हित और सामाजिक हित (व्यक्ति और समाज के मत) संघर्ष	२२९
४.४	समाजों के पारस्परिक संघर्ष	२३१
	जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था	२३४
४.५	सामाजिक वैषम्य के निराकरण का आधार अहिंसा	२३५
४.६	वैचारिक वैषम्य के निराकरण का सूत्र अनेकान्त	२३६
४.७	आर्थिक वैषम्य के कारण और अपरिग्रह द्वारा उनका निराकरण	२४६
४.८	मानसिक वैषम्य के निराकरण का उपाय : अनासक्ति	२५४
४.९	समत्वयोग : वीतरागता की साधना	२५७
४.१०	समत्व और मोक्ष	२५९

४.११	समत्व की साधना और बारह भावनाएँ एवं चार अनुप्रेक्षाएँ	२६१
	१. अनित्य भावना	२६४
	२. अशरण भावना	२६८
	३. संसार भावना	२७२
	४. एकत्व भावना	२७५
	५. अन्यत्व भावना	२७७
	६. अशुचि भावना	२८२
	७. आस्रव भावना	२८४
	८. संवर भावना	२८६
	९. निर्जरा भावना	२८९
	१०. लोक भावना	२९२
	११. धर्म भावना	२९३
	१२. बोधिदुर्लभ भावना	२९४
	चार भावनाएँ	२९६
	१. मैत्री भावना	२९८
	२. प्रमोद भावना	२९९
	३. कारूण्य भावना	३०३
	४. माध्यस्थ भावना	३०७
४.१२	समत्वयोग और ध्यान साधना	३१०

अध्याय ५

समत्वयोग का तुलनात्मक अध्ययन

५.१	उपनिषदों में समत्वयोग	३१९
४.१.१	श्रीमद्भगवद्गीता में समत्वयोग	३२६
५.१.२	महाभारत में समत्वयोग	३३३
५.२	बौद्धदर्शन में समत्वयोग	३३५
५.३	जैनदर्शन के समत्वयोगी और गीता के स्थितप्रज्ञ का	

	तुलनात्मक अध्ययन	३३६
५.४	बौद्धदर्शन अर्थात् अर्हत् का स्वरूप	३३८
५.५	गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षण	३४०
५.६	तुलनात्मक	३४२

अध्याय ६
आधुनिक मनोविज्ञान और समत्वयोग

६.१	विक्षोभों और तनावों के मनोवैज्ञानिक एवं वैयक्तिक कारण	३४५
६.२	विक्षोभों और तनावों के सामाजिक कारण	३४६
६.३	द्वन्द्व निराकरण की प्रविधियाँ	३५८

अध्याय ७ : उपसंहार

उपसंहार	३६१
सहायक ग्रन्थ सूची	३६९

भगवान महावीर और चण्डकौशिक नाग

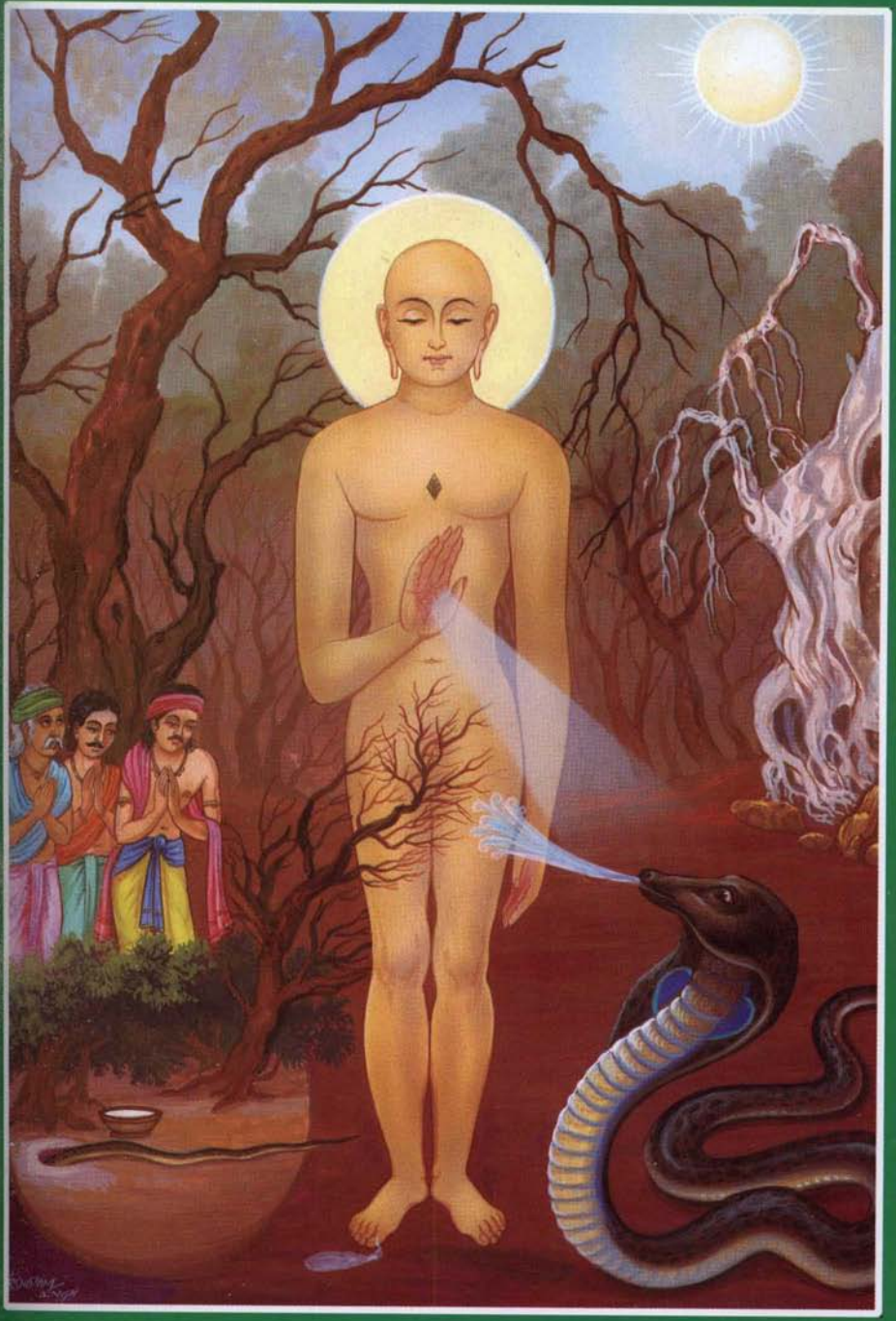

अध्याय १

जैन साधना में समत्वयोग का स्थान

१.१.१ जैन साधना में समत्वयोग का स्थान

समत्वयोग साधना का केन्द्रीय तत्त्व है। जैन साधना को यदि एक ही वाक्य में अभिहित करना हो तो वह समभाव या सामायिक की साधना है। समत्वयोग (सामायिक) की साधना जैन धर्म का 'अथ' और 'इति' है। भगवान् महावीर ने भगवतीसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि "आत्मा समत्व (सामायिक) रूप है और उस समत्व (समभाव) को जीवन में उपलब्ध कर लेना ही सम्पूर्ण साधना का अर्थ या प्रयोजन है।"[१] आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आर्य जनों ने समभाव की साधना को ही धर्म कहा है।[२] जैन साधकों के जो छः आवश्यक कर्त्तव्य माने गए हैं, उनमें सामायिक अर्थात् समत्वयोग का स्थान सर्वोपरि है।

सामायिक की साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना ही है। सामायिक शब्द सम् उपसर्गपूर्वक अय् धातु से निष्पन्न है। 'अय्' ? (इ+धञ्=ए+अ=अय्) धातु के तीन अर्थ हैं ज्ञान, गमन और प्रापण। प्रापण शब्द प्राप्ति या उपलब्धि का वाचक है। सम् उपसर्ग ज्ञानार्थक अय् धातु का अर्थ है कि हमारा ज्ञान सम्यक् होना चाहिए। इसी प्रकार हमारी क्रिया या आचरण और हमारी उपलब्धि भी सम्यक् होनी चाहिए। आचार व व्यवहार सम्यक् होना ही सामायिक या समत्वयोग की साधना है। सामायिक शब्द का सामान्य अर्थ है "जिससे समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक है।" दूसरे शब्दों में समभाव की दिशा में साधक की यात्रा ही सामायिक है। वस्तुतः सामायिक शब्द एक व्यापक अर्थ रखता है, जिसमें

---

[१] 'आयाए समाइए, आया सामाइस्स अट्ठे।' -भगवतीसूत्र १/६/२२८।

[२] 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए।' -आचारांगसूत्रसूत्र १/५/३/१५७।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्-चारित्र तीनों ही समाए हुए हैं। इसलिये आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक के तीन प्रकार बताए गए हैं[३] –

१. सम्यक्त्व-सामायिक; २. श्रुत-सामायिक और ३. चारित्र-सामायिक।

यहाँ सम्यक्त्व-सामायिक का अर्थ सम्यग्दर्शन; श्रुत-सामायिक का अर्थ है सम्यग्ज्ञान और चारित्र-सामायिक का अर्थ है सम्यक्-चारित्र। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी चेतना के तीन पक्ष हैं – अनुभव करना, जानना और संकल्प करना एवम् इन तीनों पक्षों को ही जैनदर्शन में क्रमशः दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के नाम से अभिहित किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व ही सामायिक की साधना है और इसे ही समत्वयोग की साधना भी कहा जा सकता है।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना मानवीय चेतना के तीनों पक्षों अर्थात् अनुभूति, ज्ञान और संकल्प को समत्वपूर्ण या सम्यक् बनाए रखने का प्रयास है और यही समत्वयोग की साधना है जैन-साहित्य में ऐसे सैकड़ों सन्दर्भ उपलब्ध हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि समत्वयोग की साधना ही जैन साधना का आधारभूत केन्द्रीय तत्व है। आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो अथवा अन्य किसी धर्म को मानने वाला हो, यदि वह समभाव की साधना करता है तो वह मुक्ति को अवश्य प्राप्त करता है।[४] यहाँ हम देखते हैं कि समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि यदि मोक्ष की उपलब्धि का कोई मार्ग है तो वह मात्र समभाव या समत्वयोग की साधना है।

आचार्य हरिभद्र का यह कथन ही हमारे इस समग्र प्रतिपादन का मूल आधार है कि समत्वयोग की साधना जैन धर्म-दर्शन का

---

[३] आवश्यकनिर्युक्ति, ७६६।

[४] 'सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा
समभाव भावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहा ।।' -आचार्य हरिभद्र।

केन्द्रीय तत्व है।[५]

जैन साधना में समत्वयोग का जो स्थान एवं महत्त्व है उसे अनेक आधारों से पुष्ट किया जा सकता है। समत्वयोग या सामायिक की साधना का महत्त्व बताते हुए जैनाचार्यों ने अनेक उदाहरण दिये हैं। यथा –

'दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।।[६]

अर्थात् एक व्यक्ति प्रतिदिन लाख-लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करता है और दूसरा समत्वयोग की साधना करता है। इन दोनों में स्वर्ण मुद्राओं का दान करने वाला व्यक्ति समत्वयोग की साधना की समानता नहीं कर सकता।

'तिव्वतवं तवमाणे, जं नवि निट्टवइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्तो, खवेइ कम्मं खणाद्धेण।।[७]

अर्थात् करोड़ों वर्षों तक सतत उग्र तपस्या करनेवाला साधक जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उन्हीं कर्मों को समभावपूर्वक साधना करने वाला साधक मात्र आधे ही क्षण में निर्जरित कर सकता है।

'किं तिव्वेण तवेणं, किं च जवेणं किं चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हुओ कहवि न हु होइ।।[८]

चाहे कोई व्यक्ति कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे या मुनि-अवस्था का धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चारित्र का पालन करे परन्तु समता भाव के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

'जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छन्ति जे गमिस्सन्ति।
ते सव्वे सामाइय-पभावेण त्ति मुणेयव्वं।।[९]

---

५ 'समदर्शी' पृ. ८६। -वही।
६ सामायिकसूत्र (अमरमुनि) पृ. ७७ से उदधृत्।
७ वही।
८ वही पृ. ७८।
९ सामायिकसूत्र (अमरमुनि) पृ. ७८।

अर्थात् आज तक जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे यह सब समत्वयोग (सामायिक) की साधना का ही प्रभाव है।

आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में लिखते हैं कि राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने को ही समभाव की साधना कहते हैं।[१०] इन पर विजय की प्राप्ति का मार्ग बताते हुए वे कहते हैं कि तीव्र आनन्द को उत्पन्न करनेवाले समभावदृष्टि जल में अवगाहन करने वाले साधक की राग-द्वेष रूपी अग्नि सहज ही नष्ट हो जाती है।[११] समत्व के अवलम्बन से अन्तर्मुहूर्त में जो कर्म क्षीण हो सकते हैं, वे तीव्र तपस्या से करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं हो सकते।[१२] जैसे आपस में दो वस्तु चिपकी हुई हों तो बाँस आदि की सलाई से पृथक् की जाती है, उसी प्रकार परस्पर बद्ध आत्मा और कर्म को मुनिजन समत्व भाव की शलाका से पृथक् कर देते हैं।[१३] समभाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह दृष्टि तिमिर का नाश करके योगी अपनी आत्मा में परमात्मा को देखने लगता है अर्थात् वह आत्मानुभूति कर लेता है। इस प्रकार जैन-साधना में समत्वयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह सिद्ध होता है।[१४]

जैन-आगमों में समत्वयोग

जैनागमों में समत्वयोग सम्बन्धी अनेक निर्देश मिलते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि महापुरुषों ने समभाव में धर्म

---

[१०] 'अस्ततन्द्रैरतः पुम्भिनिर्वाणपदकांक्षिभिः ।
विधातव्यः समत्वेन रागद्वेषद्विषज्जयः ।। ४६ ।।' -योगशास्त्र ४ ।

[११] 'अमन्दानन्दजनने साम्यवारणि मज्जताम् ।
जायते सहसा पुंसा, रागद्वेषमलक्षयः ।। ५० ।।' -वही ।

[१२] 'प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत् ।
यत्र हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ।। ५१ ।।' -वही ।

[१३] 'कर्मजीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चयः ।
विभिन्नी कुरुते साधुः सामायिकशलाकया ।। ५२ ।।' -वही ।

[१४] 'रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ।। ५३ ।।' -वही ।

कहा है।[१५] साधक सदैव समभाव में रहे, न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे, वह दोनों में समभाव रखे।[१६] शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी साधक समभाव में रहे।[१७] साधक मन को अविचलित अर्थात् एकाग्र बनाए रखे।[१८] साधक आभ्यन्तर एवम् बाह्य सभी कर्मों का क्षय करके समभाव में जीने का अभ्यास करे।[१९] विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति समान भाव रखना तथा उन्हें आत्मतुल्य समझना ही समभाव की साधना है। जो समभाव की साधना करता है वही श्रमण है।[२०] वस्तुतः समतामय जीवन जीने की कला ही समत्वयोग की साधना है।

कहा भी गया है :

'समभावो सामाइयं तण-कंचनसत्तु-मित्त-विसउत्ति
णिरभिसंगचित्तं उचितपवित्ति पहाणं च।।'

तृण और कंचन, शत्रु और मित्र आदि विषमताओं के प्रसंगों में समभाव से अपने चित्त को आसक्ति रहित रखना और उचित प्रवृत्ति करना ही समत्वयोग की साधना है।[२१]

जो किसी के प्रति न राग करता है और न द्वेष करता है, अपितु समभाव में रहता है वही श्रमण है।[२२]

'दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे-वियोगे भुवने वने वा
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ।।'

"हे प्रभु, मेरा मन ममत्व बुद्धि से रहित होकर सुख-दुःख,

---

[१५] 'समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए ।।१५७।।' -आचारांगसूत्र १/५/३ ।
[१६] जीवियं णाभिकंखेज्जा मरणं णोवि पत्थए ।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा ।। -वही १/८/८/१६ ।
[१७] 'इंदिएहिं गिलायंते समियं साहरे मुणी ।
तहावि से अगरिहे अचले जे समाहिए ।।' -वही १/८/८/२६ ।
[१८] आचारांगसूत्र १/२/३/७५ ।
[१९] 'गंथेहिं विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए। पग्गहीयतरंग चेयं दवियस्स वियाणतो ।।'
[२०] प्रश्नव्याकरणसूत्र २/४ ।
[२१] बोधपाहुड ४६ ।
[२२] 'समियाए सपणो होइ' । -उत्तराध्ययनसूत्र २५/३२ ।

वैरी-बन्धु, संयोग-वियोग, भुवन-वन आदि विषमताओं में भी समत्व का अनुभव करे।"[२३]

चेतना की दृष्टि से प्राणीमात्र समान है; चाहे वह मनुष्य हो, हाथी या कुन्थुआ हो। अतः सभी शरीरधारी जीवों के प्रति समान व्यवहार करना चाहिए।[२४] इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन का निर्देश यह है कि जगत् के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर उनके प्रति व्यवहार करना चाहिए। विचारों के क्षेत्र में अनाग्रह और आचार के क्षेत्र में तृष्णा या आसक्ति तथा राग-द्वेष के प्रत्ययों से ऊपर उठना - यही समत्वयोग की साधना है। संक्षेप में सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सदैव समभाव रखना यही जैन धर्म की समत्वयोग की साधना है और यही समग्र साधना का सार तत्त्व है।[२५]

समत्वयोग आकाश की तरह व्यापक है। यह अन्य समस्त गुणों के लिये आधारभूत है। समत्वविहीन व्यक्ति किसी भी गुण का विकास नहीं कर पाता है। समत्वयुक्त आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र बन जाते हैं। व्यक्ति आत्मलक्षी साधना से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है और इस आत्मलक्षी साधना का आधार सामायिक या समत्वयोग ही है। न केवल जैनदर्शन में अपितु अन्य भारतीय धर्म-दर्शनों में भी इस समत्वयोग की साधना के निर्देश उपलब्ध होते हैं। गीता में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि समत्व की साधना ही योग है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि समत्व की आराधना ही अच्युत अर्थात् परमात्मा की आराधना है।[२६]

---

२३ (क) 'सम्मं में सव्वभूदेसु वेर मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ।। -नियमसार २०१/१०४ ।
(ख) अमितगति -सामायिकपाठ ३ ।

२४ भगवतीसूत्र ७/८ ।

२५ 'जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ७ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

२६ 'समत्वं योग उच्यते' -गीता २/४८ ।

१.१.२ समत्वयोग की महत्ता

जैन साधना में समत्वयोग का क्या महत्त्व और स्थान है ? इसका एक सुन्दर चित्रण आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ के २४ वें सर्ग में किया है। वे लिखते हैं कि राग-द्वेष और मोह के अभाव में समताभाव प्रकट होता है। इस समताभाव के द्वारा ही मोक्ष के कारणभूत ध्यान की सिद्धि होती है। मोहरुपी अग्नि को बुझाने के लिए और संयमरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए तथा रागरूप वृक्ष को समूलतः काटने के लिये समत्व का आलम्बन आवश्यक है।[२७] आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार जिस पुरुष का मन चित्त और अचित्त तथा इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता है, वह पुरुष साम्य है; योग या समत्वयोग को प्राप्त होता है।[२८] "हे आत्मन्! तू कामभोगों से विरक्त होकर शरीर के प्रति भी आसक्ति को छोड़कर समत्व की उपासना कर; क्योंकि यह समत्य ही सर्वज्ञ का रूप व ज्ञानलक्ष्मी को प्रदान करनेवाला है।"[२९] उनकी दृष्टि में परमात्मपद की प्राप्ति केवल समत्वयोग से ही सम्भव है। वे लिखते हैं कि संयमी मुनि समभाव या समत्वयोगरूपी सूर्य की किरणों से रागादिरूपी अन्धकार को नष्ट करके अपनी ही आत्मा में परमात्मस्वरूप का अवलोकन करता है, अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का दर्शन समत्वयोग के द्वारा ही सम्भव है।[३०] व्यक्ति समत्वयोग का आलम्बन लेकर ही अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध करता है और जीव तथा कर्म को पृथक् करता है।[३१] वस्तुतः जिसका समभावरूपी जल शुद्ध है और ज्ञान

---

[२७] 'मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २४ ।

[२८] 'चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः ।
न मुह्यति मनोयस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्' ।। २ ।। -वही ।

[२९] 'विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम्' ।। ३ ।। -वही ।

[३०] 'साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं-परमात्मनः ।। ५ ।।' -वही ।

[३१] 'साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ।। ६ ।। -वही ।

ही नेत्र है, ऐसे सत्पुरुष का ही अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी वरण करती है।[३२] तू समभाव में स्थित होकर अपने आत्मस्वरूप का ध्यान कर, जिससे यह आत्मा राग-द्वेष आदि से आक्रान्त न हो। यह राग-द्वेषरूपी वन मोहरूपी सिंह के रक्षित हैं। समभावरूपी अग्नि की ज्वाला ही इसे दग्ध करने में समर्थ है।[३३] जब व्यक्ति की आत्मा में मोहरूपी कर्दम सूख जाता है, तब रागादि के बन्धन भी दूर हो जाते हैं और व्यक्ति के चित्त में जगत्-पूज्य समभावदृष्टि लक्ष्मी निवास करने लगती है।[३४]

समभाव या समत्वयोग की साधना से आशादृष्टि बेल नष्ट हो जाती है, अविद्या विलीन हो जाती है और वासनारूपी सर्प मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।[३५] इस प्रकार समत्वयोग की शक्ति महान् है। जो कर्म करोड़ों वर्षों तक तप करने पर भी नष्ट नहीं होते, उन्हें समत्वरुपी भूमिका पर आरूढ़ मुनि पलक झपकने जितने काल में नष्ट कर देता है।[३६] समत्व में अवस्थित होने को ही सर्वज्ञ परमात्मा का ध्यान कहा गया है। इतना ही नहीं आचार्य शुभचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि शास्त्रों का जो विस्तार है, वह मात्र समत्वयोग की महिमा को प्रकट करने के लिये है।[३७] समत्वभाव से भावित आत्मा को जो सुख होता है, उसे जानकर ही ज्ञानीजन समत्वयोग का अवलम्बन लेते हैं।[३८] जो व्यक्ति अपनी

---

३२ 'साम्यवारिणिशुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्य लक्ष्मीः सुखी भवेत् ।। ७ ।।' -वही ।

३३ 'रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ।। ६ ।।' -वही ।

३४ 'मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ।। १० ।।' -वही ।

३५ 'आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ।। ११ ।।' -वही ।

३६ 'साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत् ।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ।। १२ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २४ ।

३७ 'साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ।। १३ ।। -वही ।

३८ 'साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम् ।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ।। १४ ।।' -वही ।

आत्मविशुद्धि को चाहता है; वह अपने मन को समभाव में अधिष्ठित करे। इस समत्व या समभाव की प्राप्ति कैसे होती है, इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि जब आत्मा औदारिक, तैजस व कार्मण – इन तीन शरीरों के प्रति अपने रागादि भाव का त्याग करती है और समस्त परद्रव्यों और परपर्यायों से अपने विलक्षण स्वस्वरूप का निश्चय करती है, तभी साम्यभाव में अवस्थित होती है।[३९] वस्तुतः जो समभाव में अवस्थित है, वही अविचल सुख और अविनाशी पद को प्राप्त करता है।[४०] इस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में समस्त साधना का अधिष्ठान यदि कोई है, तो वह समत्वयोग ही है। वे समत्वयोग के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए विस्तारपूर्वक लिखते हैं कि समत्वयोग के प्रभाव से ही परस्पर वैरभाव रखने वाले क्रूर जीव भी अपने वैरभाव को भूल जाते हैं।[४१] समत्वयोग की साधना करनेवाले मुनियों के प्रभाव से वे परस्पर ईर्ष्याभाव को छोड़कर मित्रता को प्राप्त होते हैं।[४२] जिस प्रकार वर्षा के होने पर वन में लगा हुआ दावानल समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार समत्वयोग के साधक योगियों के प्रभाव से जीवों के क्रूरभाव भी शान्त हो जाते हैं।[४३] जिस प्रकार अगस्त्य तारे के उदय होने पर शिशिर ऋतु के आगमन से जल निर्मल हो जाता है, वैसे ही समत्वयुक्त योगियों के

---

३९ 'तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ।। १६ ।।
अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ।। १७ ।।' -वही ।

४० 'तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ।। १८ ।।' -वही ।

४१ 'शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ।। २० ।।' -वही ।

४२ 'भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यं त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ।। २१ ।।' -वही ।

४३ 'शाम्यन्ति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शंक्यते ।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ।। २२ ।।' -वही ।

सान्निध्य से मलिन चित्त भी निर्मल हो जाता है।[४४] आचार्य शुभचन्द्र के शब्दों में चाहे अचल पर्वत भी चलायमान हो जाये किन्तु साम्ययोग में प्रतिष्ठित मुनि का चित्त अनेक उपसर्गों से भी विचलित नहीं होता है।[४५] साम्ययोग के वैभव को कहाँ तक कहें, यदि बृहस्पति भी स्थिरचित्त होकर कहना चाहे तो भी वह साम्ययोग के महत्त्व को नहीं कह सकता।[४६] आचार्य शुभचन्द्र के उपर्युक्त वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि समत्वयोग की साधना वास्तविक साधना है।

१.२ समत्व की साधना ही धर्म की आराधना है

भारतीय दार्शनिक चिन्तन धर्म पर आधारित है। भारत में धर्म और दर्शन में उस प्रकार का अन्तर नहीं है, जैसा आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में है। भारतीयदर्शन धर्म की आराधना को ही महत्त्व देता है। धर्म शब्द का सामान्य अर्थ तो यह है कि जिसके द्वारा निःश्रेयस् की सिद्धि होती हो वही, धर्म है।[४७] दूसरे शब्दों में जो हमारे आत्मकल्याण में साधक है, वही धर्म है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार धर्म वह है जो प्रजा को धारण करता है, अर्थात् जिससे लोकव्यवहार और समाज-व्यवस्था बनी रहे, वही धर्म है।[४८] यदि हम इन परिभाषाओं के सन्दर्भ में विचार करें तो धर्म की आराधना और समत्व की साधना एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं; क्योंकि समत्व की साधना में ही व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण निहित है। व्यक्ति का निःश्रेयस् भी समत्व पर ही आधारित

---

४४ 'भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ।। २३ ।।' -वही ।

४५ 'चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ।। ३० ।।' -वही ।

४६ 'दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया ।
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोदिता देहिनः ।। ३२ ।। -ज्ञानार्णव सर्ग २४ ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं ।
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्विित्रा यदि ।। ३३ ।।' -वही ।

४७ 'यतो निः श्रेयस् सिद्धि सःधर्मः'

४८ 'धर्मो धारयति प्रजाः'

है। सामाजिक समत्व ही लोकव्यवस्था का साधक तत्व है। जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब जीवन समत्वपूर्ण हो।

यदि हम इस प्रश्न पर जैन धर्म की दृष्टि से विचार करें, तो हम यह पाते हैं कि उसमें धर्म की चार प्रकार की परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है कि प्रथमतः, वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। दूसरे, क्षमा आदि दस सद्गुणों को भी धर्म के रूप में व्याख्यायित किया गया है। तीसरे, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को धर्म कहा गया है; तो चौथे, जीवों के रक्षण या अहिंसा को धर्म कहा गया है।[४६] जैन धर्म के द्वारा प्रस्तुत धर्म की इन परिभाषाओं पर डॉ. सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक 'धर्म का मर्म' में विस्तार से प्रकाश डाला है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये चारों परिभाषाएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं; अपितु एक दूसरे की पूरक ही हैं।[४७] यहाँ हम उनके उस ग्रन्थ को उपजीवी मानकर चर्चा करना चाहेंगे।

आचार्य कार्तिकेय ने धर्म की प्रथम परिभाषा वस्तु के स्वभाव के रूप में दी है। लोक व्यवहार के अन्दर भी हम देखते हैं कि वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा जाता है; जैसे आग का धर्म जलाना और पानी का धर्म शीतलता है, किन्तु यह बात तो जड़द्रव्यों के सम्बन्ध में हुई। हमें तो चेतन सत्ता या आत्मतत्व के स्वभाव का विचार करना है। यदि हम यह मानते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, तो यह प्रश्न होगा कि आत्मा का स्वभाव क्या है ? आत्मा के स्वभाव व लक्षणों को लेकर जैन दार्शनिक साहित्य में विस्तृत चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं। वहाँ यह कहा गया है कि आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग से ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग ये दोनों ही गृहीत किए जाते हैं। सामान्य शब्दावली में कहें, तो यहाँ आत्मा का लक्षण जानना या अनुभव करना यह कहा गया है; किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमारे लिये यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैन आगम

---

[४६] 'धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ ४७६ ॥ -कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

[४७] 'धर्म का मर्म' (पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी)। -डॉ. सागरमल जैन।

भगवतीसूत्र में जब भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि आत्मा क्या है और आत्मा का प्रयोजन या लक्ष्य क्या है ? तो उन्होंने एक भिन्न ही उत्तर दिया था। उन्होंने कहा था कि आत्मा समत्वयुक्त है और समत्व को प्राप्त करना यही आत्मा का लक्ष्य है।[५१] इस प्रकार यहाँ हम देखते हैं कि भगवान् महावीर ने समत्व को ही आत्मा का स्वभाव बताया था। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही धर्म है तो हमें यह मानना होगा कि समत्व ही धर्म है; क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का स्वभाव समत्व है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव में जीना नहीं चाहता। समत्व ही धर्म है इस तथ्य को भगवान् महावीर ने आचारांगसूत्र में भी स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा कि "आर्यजन समभाव में धर्म कहते हैं।"[५२] यदि आत्मा का स्वभाव समत्व है और समत्व की साधना ही धर्म है, तो इससे हमारा यह कथन पुष्ट होता है कि समत्व की साधना ही धर्म की आराधना है।

डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' में "वस्तुस्वभावोधर्मः" को एक अन्य दृष्टि से भी परिभाषित किया है। उनके अनुसार हम सब मनुष्य हैं और मनुष्य के रूप में मनुष्यत्व ही हमारा केन्द्रीय तत्त्व या स्वभाव है। चाहे एक बार हम आत्मा की सत्ता को स्वीकार करें या न करें, लेकिन हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि एक मनुष्य के रूप में मानवता ही हमारा सच्चा धर्म है।

यदि मनुष्य मनुष्य नहीं है, तो वह धार्मिक भी नहीं हो सकता। अतः मनुष्यत्व ही धार्मिकता का मुख्य आधार है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि मनुष्यत्व का समत्व और धार्मिकता से क्या सम्बन्ध है ?

आधुनिक मानवतावादी विचारकों ने मनुष्य और पशु जीवन को लेकर तीन कसौटियाँ मानी हैं। उनके अनुसार पशु जीवन की अपेक्षा मनुष्य के जीवन में तीन विशेषताएँ है –

---

[५१] 'आयाए समाइए, आया सामाइस्स अट्ठे ।' -भगवतीसूत्र १/८/३/२ ।
[५२] 'समायाए धम्मे आरियेहिं ।' -आचारांगसूत्र १५७ ।

१. विवेकशीलता; २. आत्मसजगता; और ३. आत्मसंयम ।

ये तीन बातें ऐसी हैं, जिनका पशुओं के जीवन में अभाव होता है। यदि मनुष्य में इन बातों का अभाव हो जाए, तो वह पशुवत् ही समझा जाता है। मनुष्य को मनुष्य होने के लिये इन तीन गुणों से युक्त होना आवश्यक है। यहाँ यह विचार करेंगे कि इन गुणों का समत्व की साधना से क्या सम्बन्ध है।

मानवीय गुणों में पहला स्थान विवेकशीलता का है। विवेकशीलता के अभाव में समत्व की साधना सम्भव नहीं है। विवेकशील व्यक्ति ही अकारण उत्पन्न होनेवाले तनावों से मुक्त रह सकता है और तनावों से मुक्त रहना – यही समत्वयोगी की साधना का मुख्य लक्षण है। वासना और विवेक ये दो विरोधी तत्व हैं। जहाँ वासना है वहाँ इच्छा और आकांक्षाएँ बनी रहेंगी और जहाँ इच्छा और आकांक्षाएँ बनी रहेंगी वहाँ चैतसिक समत्व सम्भव नहीं है। इच्छाएँ और आकांक्षाएँ स्वयं तनाव की स्थिति है। इसलिए इच्छाओं और आकांक्षाओं पर नियन्त्रण हुए बिना समत्वयोग की साधना सम्भव नहीं है। इसलिये विवेकशीलता का विकास समत्वयोग की साधना के लिये आवश्यक है।

मनुष्य का दूसरा गुण आत्मसजगता माना गया है। वासनाएँ हमारी आत्मसजगता को समाप्त कर देती हैं। पशुओं का जीवन वासनाओं या मूल प्रवृत्तियों से संचालित होता है, जबकि मनुष्य का जीवन विवेक से संचालित होता है। विवेक आत्मसजगता की स्थिति में ही सम्भव है। यदि आत्मसजगता नहीं होगी, तो विवेक जाग्रत नहीं रहेगा। विवेक को जाग्रत रखने के लिए आत्मसजगता आवश्यक है। आत्मसजगता का मतलब है, हम जो कुछ कर रहे हैं, उसके सम्बन्ध में सजग रहें। हमारा व्यवहार मात्र अन्ध प्रवृत्ति न बने। जो व्यवहार अन्ध प्रवृत्तियों से युक्त होता है वह हमारे चैतसिक समत्व को स्थापित करने में सहायक नहीं होता। चित्तवृत्तियों में विचलन न हो, इसके लिए आत्मसजगता आवश्यक है। दूसरे, आत्मसजगता की स्थिति में चैत्तसिक विकल्प नियन्त्रित होने लगते हैं। चित्त की विकल्पपूर्ण स्थिति को समाप्त करने के लिये आत्मसजगता आवश्यक है। भगवान महावीर के अनुसार हमारा चित्त एक समय में दो कार्य नहीं कर सकता। यदि वह

सजग है, तो उसमें विकल्प नहीं उठेंगे। अतः विकल्पों से बचने के लिये आत्मसजगता आवश्यक है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में आत्मा को कर्ता-भोक्ताभाव से हटाकर ज्ञाता दृष्टाभाव में स्थापित करना ही वास्तविक साधना है। आत्मा जब ज्ञाता-दृष्टा भाव में होती है, तभी वह समत्व की अवस्था में होती है। अतः समत्व की साधना के लिये आत्मसजगता या अप्रमत्तता आवश्यक है। जिसे पाश्चात्य विचारक आत्मसजगता कह रहे हैं; उसे ही जैनदर्शन अप्रमत्तता कहता है। जैनदर्शन के अनुसार अप्रमत्तता का साधक ही समत्वयोग की साधना का अधिकारी है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आत्मसजगता समत्वयोग की साधना के लिये आवश्यक है।

मानवतावादी विचारकों ने मनुष्य की तीसरी विशेषता आत्मसंयम की शक्ति माना है। जब तक जीवन में वासनाओं और वृत्तियों के नियन्त्रण का प्रयत्न नहीं है तब तक चेतना में समत्व की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। संयम की साधना से ही जीवन में समत्व का विकास होता है। जिस व्यक्ति का अपनी वासनाओं और इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं है, वह सदैव ही तनावग्रस्त रहता है। तनावों से मुक्त रहने के लिये वासनाओं और इन्द्रियों पर नियन्त्रण आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त मानवीय गुणों की उपस्थिति में ही समत्व की साधना सम्भव है। ये मानवीय गुण मनुष्य का स्वभाव है। इनके आधार पर ही मनुष्य मनुष्य रहता है। यदि हम यह मानते हैं कि स्वभाव ही धर्म है तो हमें यह मानना होगा कि मनुष्य के लिये उपरोक्त तीन गुणों की साधना ही धार्मिकता की साधना है और ये तीनों गुण समत्व की साधना के साथ जुड़े हुए हैं। इनके अभाव में समत्व की साधना नहीं होती। अतः हम कह सकते हैं कि समत्व की साधना ही धर्म की आराधना है।

१.३ योग शब्द का अर्थ

जैन साधना के सभी विशिष्ट अनुष्ठानों में समत्वयोग या

सामायिक की साधना प्राथमिक है। समत्वयोग शब्द दो शब्दों से बना है – समत्व+योग। प्राचीन जैन आगम साहित्य में योग शब्द मन, वचन और काया की गतिविधियों का सूचक है।[५३] तत्त्वार्थसूत्र में भी मन, वचन और काया के व्यापार को ही योग कहा गया है।[५४] योगसूत्र में योगरूप मन, वचन और काया की इन प्रवृत्तियों को कर्मों के आस्रव का कारण भी माना गया है।[५५] सर्वार्थसिद्धि में मन, वचन और काया के द्वारा होने वाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहा है।[५६] इस प्रकार जैन परम्परा में योग को बन्धन का कारण बताया गया है, किन्तु इसके विपरीत अन्य परम्पराओं में योग को मुक्ति का साधन माना जाता है। मुक्ति के साधन के रूप में योग शब्द की प्रतिष्ठा जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि ने ही सर्वप्रथम की है। उनके अनुसार योग वह है जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है। वे लिखते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के लिये जो धर्मक्रिया अथवा विशुद्ध प्रवृत्ति की जाती है वह धर्म प्रवृत्ति योग है।[५७] इस प्रकार जैन परम्परा में योग शब्द में एक परिवर्तन हुआ है। कालान्तर में वह बन्धन के कारण के स्थान पर मुक्ति का कारण मान लिया गया है।

संस्कृत भाषा की दृष्टि से योग शब्द 'युज्' धातु से बना है। युज् धातु का अर्थ जोड़ना है। इस धात्वार्थ के आधार पर योग शब्द के दोनों ही अर्थ किये जा सकते हैं। जो आत्मा को कर्मों से या संसार से जोड़ता है, वह योग है। जो आत्मा को मुक्ति से जोड़ता है वह योग है। प्राचीन आगमिक परम्परा में जहाँ योग शब्द को संसार के कारणभूत आस्रव तत्त्व का वाची माना वहीं आचार्य हरिभद्र ने अन्य भारतीय चिन्तकों के समान योग को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि आचार्य हरिभद्र के पूर्व भी कुछ जैन ग्रन्थों में योग शब्द ध्यान और समाधि के वाचक के

---

[५३] स्थानांगसूत्र ३ ।

[५४] 'काय-वाङ्-मनः कर्मयोगः' । -तत्त्वार्थसूत्र ६/१ ।

[५५] 'मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्म शुभाशुभम् ।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामश्रवास्तेन कीर्तिताः ।। ७४ ।।' -योगशास्त्र ४ ।

[५६] सर्वार्थसिद्धि २/२६ ।

[५७] योगविंशिका ।

रूप में प्रयुक्त देखा जाता है, किन्तु योग शब्द को बन्धन के निमित्त के स्थान से हटाकर मुक्ति के साधन के रूप में स्थापित करने का श्रेय तो आचार्य हरिभद्र को ही जाता है।

पतंजलि के योगसूत्र में योग शब्द को चित्तवृत्ति के निरोध अर्थात् मन की स्थिरता के रूप में प्रयुक्त किया गया है।[५८] आचार्य हरिभद्र के पूर्व आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यकनिर्युक्ति में ध्यान और समाधि के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है।[५९] किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि योग शब्द की ध्यान, समाधि, मनन, स्थिरता आदि मुक्ति के साधनों के रूप में स्वीकृति एक परवर्ती घटना ही है। विशेष रूप से आचार्य हरिभद्र के काल से अन्य परम्पराओं के समान ही जैन परम्परा में भी योग शब्द आध्यात्मिक साधना का वाचक बना है। जहाँ पूर्व में वह मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियों का वाचक होकर कर्म के आस्रव का कारण था, वहीं परवर्ती काल में वह मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तियों के निरोध रूप संवर का कारण माना गया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है कि जो आत्मा को अपने स्व-स्वभाव से जोड़ता है वह योग है।[६०] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भी योग को समाधि और ध्यान का वाचक बताया गया है।[६१] योगसार में योग शब्द के अर्थ को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जिस योग अर्थात् एकाग्र चित्तनिरोध रूप ध्यान अथवा मन को इन्द्रियजन्य व्यापार से हटाकर शुद्ध आत्मतत्व का परिज्ञान किया जाता है, उसे ही योगियों ने वास्तव में योग कहा है।[६२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द और श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र ने योग शब्द

---

[५८] 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।।२ ।।' -योगदर्शन १ ।

[५९] आवश्यकनिर्युक्ति १०१० ।

[६०] 'विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहिय तच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ।।१३९ ।।' -नियमसार १० ।

[६१] 'युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिःर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।' -राजवार्तिक ६-१-१२ ।

[६२] 'इंदिहि वि छोडियइ बहु पुच्छियइ ण कोइ ।
रायह पसरू णिवारियइ सहज उपज्जइ सोइ ।। ५४ ।।' -योगसार टीका ।

को आध्यात्मिक साधना का वाचक माना है।

गीता में श्रीकृष्ण ने दो स्थानों पर योग शब्द की परिभाषा दी है। गीता के द्वितीय अध्याय में वे कहते हैं कि "समत्व को योग कहा जाता है।"[६३] इसी अध्याय में अन्यत्र वे कर्म की कुशलता को योग कहते हैं।[६४] योग की इस द्वितीय व्याख्या में 'कुशलता' का तात्पर्य व्यवहारिक कुशलता न होकर कर्म करने की वह प्रक्रिया है जिसमें कर्म करते हुए भी व्यक्ति बन्धन में न पड़े। गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि के साथ जो योग शब्द का प्रयोग हुआ है, वह भी यही सूचित करता है कि ज्ञान, कर्म और भक्ति की वह प्रक्रिया जिसके द्वारा आत्मा परमात्मा को प्राप्त करती है, वह योग है।[६५]

प्रस्तुत प्रसंग में जब हम 'समत्वयोग' की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य यही होता है कि ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा ध्यान जब व्यक्ति को राग-द्वेष से ऊपर उठाकर समत्व में स्थापित करते हैं, तो वे योग बन जाते हैं। वस्तुतः समत्वयोग का तात्पर्य है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को इस प्रकार योजित करना कि वे चित्त विक्षोभ का कारण नहीं बनें। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ध्यानयोग आदि सभी का मुख्य प्रयोजन चित्तवृत्ति का समत्व ही है।

वे सभी प्रवृत्तियाँ जिनसे चित्तवृत्ति का विचलन समाप्त हो, चित्त स्थिर बने, उसमें राग-द्वेष के संकल्प-विकल्प न उठें; वही योग है और उसे ही जैन परम्परा में समत्वयोग या सामायिक की साधना के रूप में परिभाषित किया गया है।

'योगबिन्दु' में आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग साधन धर्म-व्यापार को योग बताकर उसे पांच रूपों में विभक्त किया है। वे पांच रूप इस प्रकार हैं :

१. अध्यात्मयोग; २. भावनायोग;

---

[६३] 'समत्वं योग उच्यते ।। ४८ ।।' -गीता अध्याय २ ।

[६४] 'योगः कर्मसु कौशलम् ।। ५० ।।' -वही ।

[६५] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १२ । -डॉ. सागरमल जैन ।

३. ध्यानयोग; ४. समतायोग; और
५. वृत्ति-संक्षय योग।

उन्होंने इन्हें मोक्ष के साथ संयोजन कराने या जोड़ने के कारण योग कहा है।[६६] ये पांचों योग क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ माने गये हैं। पातंजलि योगदर्शन के अनुसार संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग (समाधि) को उन्होंने इन पंचविध योगों में समाविष्ट किया है।[६७]

अध्यात्मयोग

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से जो भी प्रवृत्ति या क्रिया अथवा अनुष्ठान आत्मा को लक्ष्य में रखकर किया जाए, उसे अध्यात्म कहते हैं।[६८] जिससे मोह का क्षय होता हो, मैत्री आदि भावनाओं का विकास होता हो, शास्त्रोक्त तत्त्व-चिन्तन को बल मिलता हो, व्रत नियमादि का सम्यक् परिपालन हो, तप, जप, ध्यान आदि में प्रवृत्ति हो, सामायिक या समता की आराधना हो, वह अध्यात्मयोग है।

भावनायोग

अनादिकालीन मलिन वृत्तियों को त्यागकर ज्ञान, ध्यान एवं समत्व की उपासना से चित्त की विशुद्धि होना ही भावनायोग है। सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है कि जिसकी आत्मा शुद्ध हो गई हो, वह साधक जल में नौका के समान संसार में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाता है। वस्तुतः भावनायोग संसार-समुद्र का अन्त कराने वाला है।[६९] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि "शरीर नौका है, जीव नाविक है और संसार समुद्र है, जिसे

---

६६ 'अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्ति - संक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ।। ३१ ।।' -योगबिन्दु ।

६७ 'समिति-गुप्ति साधरण धर्म व्यापारत्व मेव योगत्वम् (मोक्ष प्रापक) ।'
-उपा. यशोविजयजी (पातंजल योगदर्शन सू. १/२ की वृत्ति) ।

६८ 'आत्मानमधिकृत्य यद् वर्तते तदध्यात्मकम्' -अध्यात्मसार पृ. १ ।

६९ (क) 'भावणाजोग सुद्धाप्पा, जले णावा व आहिया ।
णावा व तीर संपत्त सव्व-दुक्खा तिउट्टति ।।५।। -सूत्रकृतांगसूत्र अध्याय १५ ।
(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' पृ. १६ । -आचार्य आत्मरामजी ।

महर्षिगण पार कर जाते हैं।"[७०] भावनायोग की उपलब्धि के मुख्य तीन पहलू हैं - सम, संवेग और निर्वेद।

ध्यानयोग

ध्यान शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर ध्यान का तात्पर्य चिन्तन या एकाग्रतापूर्वक चिन्तन होता है। एकाग्र चिन्तन से चित्त में विकल्प विलीन होते हैं और ध्यान के माध्यम से अन्त में चित्तवृत्ति का निरोध होता है तो वह ध्यानयोग बन जाता है। प्रश्नव्याकरण के पंचम संवरद्वार में ध्यान के स्वरूप का वर्णन मिलता है। उसमें कहा गया है कि स्थिर दीपशिखा के समान निष्प्रकम्प एवं निश्चल तथा मन में अन्य विषयों के संचार से रहित केवल एक ही विषय का प्रशस्त सूक्ष्मबोध जिसमें हो, वह ध्यान है।[७१] तत्वार्थसूत्र के अनुसार अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की सर्वथा एकाग्रता ध्यान है।[७२]

समतायोग

इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में समताभाव रखना ही समतायोग है। इसे समभाव अथवा सामायिक की साधना भी कहते हैं। समभाव रूप सामायिक के बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी सामायिक का मार्मिक विवेचन किया गया है।[७३] तत्त्वानुशासन में समता शब्द के अनेक पर्यायवाची अर्थ किये हैं। वे माध्यस्थ, समभाव, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निस्पृहता,

---

[७०] 'सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।। ७३ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २३ ।

[७१] 'निवाय - प्पदीपज्झाणमिवनिप्पकंमे ।' -प्रश्नव्याकरणसूत्र ५ ।

[७२] 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधोध्यानम् ।।२७ ।। -तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन ६ ।

[७३] (क) 'जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति, जे गमिस्संति ।
जे सव्वे सामाइयप्पभावेण मुणेयव्वं ।।
किं तवेण तिव्वेण, किं च जपेण किं चरित्तेण ।
समयाइ विण मुक्खो, न हुओ कहा वि न हु होइ ।।' -सामायिकसूत्र पृ. ७८ ।
(ख) सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेण बहुसो समाइयं कुज्जा ।।८०० ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति १ ।

परमशान्ति इत्यादि हैं।[७४] पद्मनन्दि पंचविंशतिका में भी साम्य, स्वास्थ्य, समाधियोग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्दों को समता के समानार्थक बताया गया है।[७५] नयचक्र में समता को शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्रधर्म और स्वभाव की आराधना कहा गया है।[७६] द्रव्यसंग्रह टीका में भी समता को मोक्षमार्ग का अपर नाम कहकर उसकी विशेषता प्रकट की है।[७७] योगशास्त्र में कहा गया है - समत्वयोग से व्यक्ति अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का क्षय कर देता है।[७८] अध्यात्मसार के अनुसार समता ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।[७९] ज्ञानसार में बताया गया है कि जो समताकुण्ड में स्नान कर लेता है उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है।[८०]

वृत्ति संक्षययोग

पूर्व में अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता - इन चारों योगों का विवेचन किया गया है। इन योगों की साधना द्वारा उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास में अभिवृद्धि करता हुआ साधक अन्त में वृत्तिसंक्षय नामक पंचम योग को उपलब्ध होता है। वृत्तिसंक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है।[८१] 'पातंजलि योगदर्शन' में योग का लक्षण चित्तवृत्ति-निरोध किया

---

७४ तत्त्वानुशासन, श्लो. ४-५ ।

७५ पद्मनन्दि पंचविंशतिका, श्लो. ६४ ।

७६ नयचक्र वृहद्, श्लो. ३५६ ।

७७ द्रव्यसंग्रह टीका, गा. ५६ ।

७८ 'प्रणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालक्ष्य कर्म यत् ।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ।। ५१ ।।
रागादि-ध्वान्त-विध्वंसे कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ।। ५३ ।। -योगशास्त्र ५ ।

७९ 'उपायः समतैवेका मुक्तेरन्यः क्रियाभरः ।। २७ ।।
संत्यज्य समतामेकां स्याद्यत्कष्ट मनुष्ठितम् ।
तदीप्सितकरं नैव बीजमुप्तमिवोषरे ।। २६ ।।' -अध्यात्मसार, अध्ययन ६ ।

८० 'यः स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजंमलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ।। ५ ।।' -ज्ञानसार, अध्ययन १४ ।

८१ कर्मविज्ञान भाग ८ पृ. ६८ ।

है।[८२] 'योगावतार द्वात्रिंशिका' के अनुसार सम्प्रज्ञातयोग ध्यान और समता रूप है तथा असम्प्रज्ञातयोग वृत्तिसंक्षय रूप है।[८३] आत्मा के अन्य संयोग से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का अपुनर्भाव रूप से जो निरोध होता है, वही वृत्तिसंक्षय योग है। वृत्तिसंक्षय योग से केवलज्ञान प्राप्ति, शैलेषीकरण और सर्व-कर्म-विमुक्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष ही वह अवस्था है जिसमें आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता निष्पन्न होती है।[८४]

जैनदर्शन में सामायिक या समत्वयोग की साधना वस्तुतः जीवन को समतामय अर्थात् तनावों और विक्षोभों रहित बनाने का अभ्यास है। इससे आत्मा सभी दुःखों अर्थात् तनावों से मुक्त होकर निज स्वभाव की प्राप्ति करती है। समत्वयोग या सामायिक एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे मानव तनावों से मुक्त होकर आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। आत्मविकास और प्रज्ञा के प्रकर्ष के लिये समत्वयोग अर्थात् सामायिक के सिवाय अन्य कोई दूसरा प्रभावशाली मार्ग नहीं है।

१.४ समत्व शब्द का अर्थ

समत्वयोग के अर्थ की इस चर्चा में योग शब्द के अर्थ की चर्चा हमने पूर्व में की है। अब समत्व शब्द के अर्थ की चर्चा करेंगे। 'समत्व' शब्द के मूल में सम् शब्द है। सम् शब्द से अच् प्रत्यय लगकर 'सम' शब्द निष्पन्न होता है। अथ च, सम शब्द में

---

८२ (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग', पृ. २२-२३। -आचार्य आत्मारामजी।
(ख) 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।। १ ।।' -योगसूत्र *पतंजलि* १।

८३ (क) जैनागमों में अष्टांगयोग' पृ. २३।
(ख) 'सम्प्रज्ञातोऽवतरति ध्यानभेदंऽत्र तत्त्वतः ।। १५ ।।' -योगावतार द्वात्रिंशिका।
(ग) 'असम्प्रज्ञातनामा तु सम्मतो वृत्तिसंक्षयः ।। २१ ।।' -वही।

८४ (क) 'अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ।। ३६६ ।।' -योगबिन्दु।
(ख) 'विकल्प-स्पन्दरूपाणां वृत्तीनामत्यजन्मनाम।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षय ।। २५ ।।' -योगभेद द्वात्रिंशिका।
(ग) अष्टांगयोग, पृ. २२।

भाववाचक 'त्व' प्रत्यय लगाकर 'समत्व' शब्द बना है। यह शब्द समभाव का सूचक है। समत्व और समभाव पर्यायवाची शब्द हैं। इसी सम शब्द में भाववाचक 'तल्' तथा स्त्रीवाची 'टाप्' प्रत्यय लगने से समता शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार समत्व शब्द का अर्थ समता भी है। एक अन्य दृष्टि से चित्त की वृत्तियों का राग-द्वेष से हटकर समभाव में स्थिर रहना ही समत्व या समता है। सम् शब्द का एक अन्य अर्थ समदृष्टि अर्थात् आत्मवत् दृष्टि भी होता है। दूसरे शब्दों में सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना समभाव है। समभाव शब्द का एक अन्य अर्थ एकीभाव या एकत्व भी है। वह आत्मरमण या स्वानुभूति की स्थिति है। संस्कृत भाषा की दृष्टि से प्राकृत 'सम' शब्द के तीन रूप होते हैं- सम्, शम और श्रम। इनमें से प्रथम सम् शब्द राग-द्वेष से रहित चित्तवृत्ति के समभाव या समत्व का सूचक है, दूसरा 'शम' शब्द कषायादि वासनाओं के शमन को सूचित करता है और तीसरा 'श्रम' शब्द आत्मपुरुषार्थ का सूचक है।

समत्व और योग शब्दों की इन परिभाषाओं के आधार पर समत्वयोग की निम्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है - सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, अनुकूल-प्रतिकूल आदि परिस्थितियों में चित्त का विचलित नहीं होना ही समत्वयोग है।[८५]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समत्व का अर्थ चित्त की निर्द्वन्द्व अवस्था है। जिस साधना के द्वारा चित्त राग-द्वेष और तृष्णाजन्य विकल्पों से रहित बने अथवा राग-द्वेष इच्छा और आकांक्षा से मुक्त हो, वही समत्वयोग है। दूसरे शब्दों में चित्त का विकल्प शून्य होना ही समत्वयोग है। तीसरी वैचारिक दृष्टि से पक्षाग्रह हमारी बुद्धि के समत्व को भंग करते हैं। अतः वैचारिक स्तर पर चित्तवृत्ति का आग्रहों से मुक्त होना ही समत्वयोग की साधना है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से समत्व का अर्थ आत्मवत् दृष्टि है। संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना ही समत्वयोग है। दूसरे शब्दों में जो दूसरों के सुख-दुःख को भी अपने ही समान

---

[८५] 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरूषं पुरूषर्षभ।
यमदुःखसुःखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १५ ।।' -गीता अध्याय २।

अनुकूल-प्रतिकूल के रूप में देखता है और किसी के प्रति भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता है, वही समत्वयोग का साधक है। दूसरे शब्दों में संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत् मानकर व्यवहार करना ही समत्वयोग है।[८६]

सम शब्द का एक अर्थ अच्छा या उचित भी है। इसी प्रकार योग शब्द प्रवृत्ति या आचरण का वाचक है। अतः अच्छा आचरण या सदाचरण भी समत्वयोग की साधना का ही एक रूप है। यदि हम प्राकृत समु शब्द का संस्कृत रूपान्तर शम के रूप में करें तो क्रोधादि विकारों को शमन करना ही समत्वयोग है।

समत्व या समता का एक अर्थ तुल्यता बोध भी है। सम का अर्थ समानता या तुल्यता लेने पर सभी आत्माओं के प्रति समभाव या तुल्यता के भाव ही समत्वयोग है। लिंग, वर्ग, जाति, सत्ता एवं सम्पत्ति के आधार पर व्यक्तियों में भेद न करके संसार के सभी व्यक्तियों को अपने समान समझना और उनके प्रति समान व्यवहार करना भी सामाजिक स्तर पर समत्वयोग की साधना ही है। सामाजिक समता की स्थापना व्यावहारिक स्तर पर आवश्यक है और समत्वयोग का साधक इस सामाजिक समता की स्थापना के लिये प्रयत्नशील रहता है। वह सभी व्यक्तियों को आत्मतुल्य मानकर सबके प्रति समभाव रखने की शिक्षा देता है। इस प्रकार समत्वयोग को अन्यान्य दृष्टियों से विवेचित या व्याख्यायित किया जाता है। वर्तमान युग में समत्वयोग के आध्यात्मिक पक्ष के साथ उसके व्यवहारिक पक्ष पर ध्यान देना भी आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान युग में तनावग्रस्त इस संसार में समत्वयोग की साधना ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा वैयक्तिक एवम् सामाजिक जीवन में समता की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार समत्वयोग की साधना एक बहुआयामी साधना है। उसके आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक आदि विविध पक्ष हैं और इन विविध पक्षों में समन्वय करना ही समत्वयोग के साधक का आवश्यक दायित्व है।

---

[८६] 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।' —गीता अध्याय ६ ।

दूसरे यदि उसी प्राकृत सम शब्द का संस्कृत रूप श्रम मानें तो आत्मपुरुषार्थ करना अर्थात् विभाव दशा से हटकर स्वभाव दशा में आने का प्रयत्न करना ही समत्वयोग है।

गीता में समत्व को ही योग कहा गया है। इसका अर्थ है कि जिसके द्वारा समभाव की प्राप्ति होती हो, चित्त के विकल्प शान्त होते हों वही समत्वयोग है। इस प्रकार चित्त को निर्विकल्प बनाने की साधना को समत्वयोग की साधना माना गया है।

यदि हम योग शब्द का अर्थ 'योगः कर्मसु कौशलम्' करते हैं तो समत्वयोग का तात्पर्य होगा - किसी भी कार्य को इस रूप में करना जिससे कि बन्धन नहीं हो। कार्य करते हुए भी बन्धन से बचे रहना ही कर्म की कुशलता है; यही समत्वयोग की साधना है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन व चारित्र तभी मोक्षमार्ग बनते हैं जब वे सम्यक् हों अर्थात् समत्व की दिशा में गतिशील हों। जो ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र समत्व की दिशा में ले जाते हैं, वे ही सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र कहलाते हैं। इसके विपरीत जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हमें विषमता या विकारों की ओर ले जाते हैं, वे मिथ्या होते हैं। इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की साधना भी समत्वयोग की साधना कही जाती है। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सम्यक्त्व अर्थात् समत्व ही एक ऐसा आधार है जो व्यक्ति को मोक्ष से योजित करता है।

१.५ समत्व और सामायिक

जैनदर्शन में सामायिक शब्द का अर्थ करते हुए यह बताया गया है कि जिससे समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक है। सामायिक में समभाव या समता की वृत्ति ही मुख्य है। राग-द्वेष से ऊपर उठकर समभाव में स्थिर रहना ही सामायिक है। अतः सामायिक और समत्व वस्तुतः एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। दूसरी दृष्टि से अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि में चित्तवृत्ति में उद्वेग

का न होना ही सामायिक है और इसे ही चित्तवृत्ति का समत्व कहा गया है।[८७] वस्तुतः सामायिक की साधना ही समत्व की साधना है। सामायिक की साधना का अर्थ है चित्त का विक्षोभों या तनावों से रहित होना। यही समत्व भी है। अतः समत्व और सामायिक दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। जिसे हम मनोवैज्ञानिक भाषा में चित्तवृत्ति का समत्व कहते हैं, उसे ही जैन परम्परा में सामायिक कहा गया है। चित्तवृत्ति के समत्व की साधना ही सामायिक की साधना है, क्योंकि जिससे समत्व की प्राप्ति या लाभ हो उसे ही सामायिक कहा गया है। मनोवैज्ञानिक भाषा में जिसे चित्तवृत्ति का समत्व कहते हैं, उसे दर्शन के क्षेत्र में समाधि भी कहा जाता है। वस्तुतः चित्तवृत्ति का समत्व, सामायिक और समाधि तीनों एक ही अर्थ के सूचक हैं। विशेषता मात्र यह है कि समत्व की साधना का जो प्रयत्न किया जाता है उसे सामायिक कहा जाता है। समत्व की उपलब्धि के लिये सजग होकर पुरुषार्थ करना ही सामायिक है और इस दृष्टि से समत्व साध्य है और सामायिक उसकी उपलब्धि का साधन है। फिर भी यहाँ साध्य और साधन में द्वैत भाव नहीं है क्योंकि समत्व के बिना सामायिक नहीं होती और सामायिक की साधना बिना समत्व की उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार समत्व और सामायिक में साध्य-साधन भाव है। सामायिक साधन है और समत्व साध्य है और समत्व की प्राप्ति समाधि है। सामायिक की साधना ही समत्वयोग है।

सामायिक में समत्व और योग दोनों ही निहित हैं। 'सामायिक धर्म : एक पूर्णयोग' में आचार्य कलापूर्णसूरि लिखते हैं कि सामायिक एवम् योग वास्तव में एक ही हैं, अभिन्न हैं। सामायिक की साधना में मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग इन चारों योगों का समावेश है।[८८]

सामायिक परम मन्त्रयोग है। 'मननात् त्रायते इति मंत्रः' अर्थात्

---

[८७] 'निम्मो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।। ९० ।।
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु तहा माणावमाणओ ।। ९१ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १९ ।

[८८] 'सामायिकधर्म : एक पूर्णयोग' पृ. ३-४ । -आचार्य कलापूर्णसूरि ।

जो मनन करने से रक्षा करता है उसका नाम मंत्र है। सामायिक की साधना से मन एवं आत्मा की सम्यक् प्रकार से सुरक्षा होती है; राग-द्वेष आदि शत्रुओं से बचाव होता है। अतः वह मन्त्रयोग है।

सामायिक को लययोग इस कारण से कहा गया है कि समत्वयोग में सामायिक की साधना से साधक वासनाओं को समाप्त करके अपनी आत्मा या अपने शुद्ध स्व-स्वरूप में लीन हो जाता है। इसलिये इसे लययोग कहा गया है। एक अन्य दृष्टि से इससे वासनाओं, इच्छाओं या विचार-विकल्पों पर विजय होती है। अतः यह लययोग है।

सामायिक को राजयोग भी इसीलिये कहा है कि साधक क्लेशपूर्ण अवस्था को समाप्त करके प्रशमभाव दृष्टि समाधि को प्राप्त करता है। सामायिक हठयोग भी है; क्योंकि इसमें आसन एवं दृष्टि आदि को अचल या स्थिर रखा जाता है। चलासन और चलदृष्टि सामायिक साधना के दोष हैं। अतः सामायिक में हठयोग का भी समावेश होता है।

१.६ समत्व और सम्यक्त्व

सम् और सम्यक् दोनों ही शब्द अव्यय हैं। इन से ही समत्व और सम्यक्त्व शब्द प्रतिफलित होते हैं। सम् (सो+ऽमु) अव्यय है। उसे धातु या कृदन्त शब्दों से पूर्व उपसर्ग के रूप में लगने पर निम्नांकित अर्थ होते हैं -

(क) बहुत; पूर्णतः, अत्यन्त;
(ख) की भाँति, समान, एक जैसा; और
(ग) निकट, पूर्व।

सम् अव्यय से मत्वर्थ में तद्धित अच् प्रत्यय होकर 'सम' यह अकारान्त शब्द निष्पन्न होता है।[८६] इसके भी निम्नांकित अर्थ इस प्रकार हैं :

---

[८६] 'अर्शआदिभयोऽच्' - प्रथमान्त अशस् आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होता है।
-अष्टाध्यायी (पाणिनि) ५/२/१२७।

(१) वही, समरूप; (२) समान;
(३) के समान, वैसा ही, मिलता-जुलता; (४) समान, समतल, चौरस;
(५) समसंख्या; (६) निष्पक्ष, न्याययुक्त;
(७) भला, सद्गुण सम्पन्न; (८) सामान्य मामूली;
(९) मध्यवर्ती, बीच का; (१०) सीधा; (११) तटस्थ, अचल, निरावेश;
(१२) सब, प्रत्येक; और (१३) पूर्ण, समस्त, पूरा।

अकारान्त सम शब्द से भावार्थक तद्धित प्रत्यय 'त्व' होकर 'समत्व' शब्द निष्पन्न होता है।[६०] जिसके अर्थ इस प्रकार से किये गये हैं :

(क) एकसापन, एकरूपता; (ख) समानता, एकजैसापन;
(ग) बराबरी; (घ) निष्पक्षता न्यायता;
(च) सन्तुलन; (छ) पूर्णता; और
(ज) सामान्यता।

सम्यक्त्व में 'सम्यक्' अव्यय है। इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है :

(१) साथ-साथ;
(२) अच्छा, उचित रूप से, सही ढंग से, शुद्धतापूर्वक, सचमुच;
(३) यथावत् - यथोचित् ढंग से, ठीक-ठीक;
(४) सम्मानपूर्वक;
(५) पूरी तरह से, पूर्णतः; और
(६) स्पष्ट रूप से।

सम्यक् शब्द से भावार्थक तद्धित प्रत्यय 'त्व' लगाकर 'सम्यक्त्व' शब्द निष्पन्न होता है।[६१]

जैनदर्शन में सम्यक्त्व और समत्व दोनों ही शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। फिर भी दोनों के मध्य अर्थ की अपेक्षा से थोड़ा अन्तर अवश्य है। सम्यक् शब्द सत्यता, यथार्थता या औचित्य का परिचायक है। अभिधान राजेन्द्रकोष में

---

[६०] 'तस्य भावस्त्वतलौ' - भाव अर्थ में प्रतिपदिकों से 'त्व' एवम् 'तल' प्रत्यय होते हैं। -वही ५/१/११९।

[६१] 'सामायिकधर्म : एक पूर्णयोग' पृ. ३-४। -आचार्य कलापूर्णसूरि।

सम्यक्त्व शब्द का अर्थ तत्त्वरुचि या सत्याभिरुचि या सत्याभिप्सा माना गया है।[६२] एक अन्य दृष्टि से सम्यक्त्व का अर्थ उचित्तता, न्यायता, निष्पक्षता आदि भी है। इसके विपरीत सम शब्द समत्व या समता का सूचक है। जैन ग्रन्थों में समत्व और सम्यक्त्व समान अर्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। इसका कारण यह है कि समत्व के अभाव में सम्यक्त्व सम्भव नहीं है। जो समत्व से युक्त हो उसे ही सम्यक् कहा जा सकता है। इस प्रकार समत्व और सम्यक्त्व में आधार आधेय सम्बन्ध बनता है। समत्व का अर्थ चित्त के परिणामों का राग-द्वेष से आक्रान्त नहीं होना है। जब चित्त राग-द्वेष से रहित होता है, तभी समत्व प्रतिफलित होता है। जैसा हमने पूर्व में देखा समत्व वीतरागता का परिचायक है। जहाँ राग-द्वेष है वहाँ चित्तवृत्ति में विचलन या तनाव है। अतः राग-द्वेष का अभाव ही समत्व का परिचायक है और जो भी समत्व से युक्त होगा वही सम्यक् कहा जायेगा। सम्यक्त्व होने का अर्थ सत्य या उचित्त होना भी है। किन्तु जो विषम है, वह न तो सत्य हो सकता है और न उचित। इसीलिए हमें यह मानना होगा कि सम्यक्त्व के लिए समत्व आवश्यक है। जब तक चित्तवृत्ति में समत्व नहीं आता तब तक हमारा आचार व विचार सम्यक् नहीं हो सकता। चाहे विचारों के सम्यक्त्व का प्रश्न हो या आचार - दोनों के लिए समत्व आवश्यक है। समत्वपूर्ण विचार ही सम्यक् विचार हैं और समत्वपूर्ण आचार ही सम्यक् आचार है। समत्व के आचार और विचार क्षेत्र में जो अभिव्यक्ति है वही सम्यक्त्व है। इसलिए जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान या सम्यक्-चारित्र की बात कही गई है। वहाँ यह मानना होगा कि जो ज्ञान समत्व से युक्त है, वही सम्यक् आचार है। दूसरे शब्दों में हमारे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सम्यक् होना इस बात पर निर्भर करता है कि वे समत्व से युक्त हैं या नहीं ? ज्ञान, दर्शन और चारित्र जब समत्व से युक्त होते हैं, तब ही वे सम्यक् होते हैं।

जैनदर्शन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के मिथ्या होने का अर्थ यही है कि वे कही न कहीं राग-द्वेष और तद्जन्य कषायों से युक्त

---

६२ 'अभिधानराजेन्द्रकोष' खण्ड ५ पृ. २४२५ ।

हैं। आत्मा में कषायों की उपस्थिति ही विषमता है और उस विषमता को समत्व की साधना के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। इसीलिए यह कहा गया है कि समत्व की साधना वीतरागता की साधना है और वही सम्पूर्ण साधना की हार्द है।

१.७ समत्व और वीतरागता

जैन आचार्यों की दृष्टि में समत्व और वीतरागता प्रायः पर्यायवाची ही हैं; क्योंकि जहाँ वीतरागता होगी वहीं समत्व होगा और जहाँ समत्व होगा वहीं वीतरागता होगी। राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही हमारी चेतना के समत्व को भंग करती हैं। यह हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि चेतना या आत्मा समत्व रूप है। उसका यह समत्व राग या द्वेष में से किसी भी एक की उपस्थिति में भंग हो जाता है। जिस प्रकार तराजू स्वतः सम रहती है किन्तु उसके एक पलड़े में यदि भार डाल दिया जाय तो उसका दूसरा पलड़ा स्वतः ही ऊपर उठ जाता है और उसका सन्तुलन भंग हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा में जब राग या द्वेष की वृत्ति का उदय होता है तो हमारा चैतसिक समत्व भंग हो जाता है। राग-द्वेष की उपस्थिति में क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का जन्म होता है और जिसका चित्त कषायों से आक्रान्त हो वह समत्व की साधना में सफल नहीं होता है। जैनदर्शन के गुणस्थान सिद्धान्त में यह बताया गया है कि जब तक व्यक्ति में कषायों की सत्ता बनी हुई है, तब तक वह वीतरागता को उपलब्ध नहीं होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो क्रोधादि कषायों के निमित्त से हमारा चित्त उद्वेलित होता है। चित्त का उद्वेलित होना या उद्विग्न होना विषमता का सूचक है और इस विषमता का मूल कारण राग-द्वेष जन्य कलुषित वृत्तियाँ हैं। अतः यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि जहाँ रागादि भाव रहे हुए हों, वहाँ चैतसिक समत्व सम्भव नहीं है। वीतरागता या अनासक्त जीवन दृष्टि ही व्यक्ति में समत्व का विकास कर सकती है। अतः समत्वयोग की साधना के लिए वीतरागता की उपासना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि वीतरागता की साधना से ही समत्व की सिद्धि सम्भव है। जब तक चित्त राग-द्वेष आदि कषायों से कलुषित है, तब तक समत्व की अनुभूति सम्भव

नहीं है। दूसरी ओर जब तक जीवन में समत्व की सिद्धि नहीं होती, तब तक राग-द्वेष से ऊपर उठना और वीतरागता उपलब्ध करना सम्भव नहीं होता। योगसार में कहा गया है कि जब तक राग-द्वेष दृष्टि अन्तरात्मा के शत्रुओं को समाप्त नहीं किया जाता, तब तक सुनिश्चल साम्य अवस्था की प्राप्ति नहीं होती और जब तक साम्य अवस्था की प्राप्ति नहीं होती तब तक परमात्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि समत्वयोग और वीतरागता दोनों अन्यान्योश्रित हैं। समत्व के बिना वीतरागता नहीं है और वीतरागता के बिना समत्व नहीं है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। वस्तुतः जहाँ समत्व है, वहाँ वीतरागता है और जहाँ वीतरागता है वहीं समत्व है। समत्व का तात्पर्य भी राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना है। यही वीतरागता का अर्थ है।

जिस व्यक्ति में समत्व का विकास हो जाता है, उसमें सन्तुलन, तटस्थता और संयम ये तीनों समत्व की अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। कषायों के उपशमन या क्षीण होने से समत्व चेतना जाग्रत होती है। समतायोग वीतरागता का सूचक है। अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में राग-द्वेष रहित होकर समभाव रखना वीतरागता का संक्षिप्त अर्थ है। वस्तुतः वीतरागभाव या समभाव स्वभाव का ही दूसरा रूप है। स्वयं को समभाव में अधिष्ठित रखना ही वीतरागता की साधना है। वीतरागता समत्वयोग का चरमबिन्दु है।

जैनधर्म में समत्व के कारण अनेक साधकों ने वीतरागता प्राप्त की है; जैसे - राजर्षि दमदत्त, गजसुकुमार, आचार्य स्कन्दक के पांच सौ शिष्य आदि।

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना का परम साध्य वीतरागता की प्राप्ति रहा है। वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा प्रत्येक समत्वी के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में बताया है कि वीतराग का ध्यान (चिन्तन, मनन, प्रणिधान) करने से व्यक्ति स्वयं राग रहित हो जाता है, जबकि रागी (सराग) का अवलम्बन लेने वाला व्यक्ति विक्षेप या विक्षोभ पैदा करने वाले (काम, क्रोध, मोह, मात्सर्य, हर्ष, शोक, राग-द्वेषादि) सरागत्व को

प्राप्त करता है।[६३]

समत्वयोग से वीतरागभाव का संचार

सिद्ध या मुक्त वीतराग परमात्मा का स्वरूप परम निर्मल, शान्तिमय, राग-द्वेष से रहित वीतरागयुक्त होता है। उनके ध्यान, चिन्तन, मनन या अवलम्बन से समत्वयोगी की आत्मा में वीतराग भाव का स्वयंमेव ही संचार होता है। कहावत भी है जैसा रंग वैसा संग। सज्जन के सान्निध्य से सुसंस्कारों का प्रकटन होता है और दुर्जन के सान्निध्य से कुसंस्कारों का। अतः वीतराग प्रभु के, सन्निकटता और संगति से हृदय में अवश्य ही वीतरागता के भाव जाग्रत होते हैं। सान्निध्य या संगति पाने का अर्थ है उनका नाम स्मरण, गुण स्मरण, स्तवन, जप, स्तुति, नमन, गुणगान आदि करना। इस प्रकार वीतराग के सान्निध्य से मन की शुद्धि और उल्लास बढ़ता जाता है।

१.८ समत्वयोग का तात्पर्य

समत्वयोग का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए डॉ. सागरमल जैन ने बताया है कि समत्व चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है।[६४] वह निराकुल, निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प दशा का सूचक है। समत्वयोग जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सन्तुलन है जिसमें न केवल चैतसिक एवम् वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं। शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी साधना में प्रयत्नशील हों।

समत्वयोग में इन्द्रियाँ अपना कार्य तो करती हैं, लेकिन उनमें भोगासक्ति नहीं होती और न ही इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति चेतना में राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, किन्तु उससे पक्षवाद और वैचारिक दुराग्रहों का निर्माण नहीं होता।

---

[६३] 'वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ।। १३ ।।' -योगशास्त्र अध्ययन ६।

[६४] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २०।
-डॉ. सागरमल जैन।

मन अपना कार्य तो करता है, लेकिन वह चेतना के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है, उसे रंगीन नहीं बनाता। आत्मा विशुद्ध दृष्टा होती है। जीवन के सभी पक्ष अपना-अपना कार्य विशुद्ध रूप में बिना किसी संघर्ष के करते हैं।

समत्व का तात्पर्य राग-द्वेष से अतीत होना है; क्योंकि जब तक चित्त में राग-द्वेष बने हुए हैं तब तक समत्व की सम्भावना नहीं है। राग और द्वेष यही हमारी चेतना के समत्व को भंग करते हैं। इसलिए राग-द्वेष का अभाव ही समत्व के सद्भाव का आधार है। राग-द्वेष के निमित्तों को पाकर भी चित्त उनसे आक्रान्त न हो, यही समत्वयोग है। राग-द्वेष के कारण ही क्रोधादि कषाएँ जन्म लेती हैं। ये कषाएँ चेतना के समत्व को भंग करती हैं। अतः समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का कषायों से ऊपर उठना है। कषाय एक प्रकार का मानसिक आवेग है। चित्तवृत्ति जब तक आवेगों से युक्त है तब तक समत्व की सम्भावना नहीं है। अतः समत्वयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा साधक कषायों और उनकी जनक राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठता है। एक अन्य दृष्टि से जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती ही रहती हैं। उन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्त का उद्वेलित नहीं होना ही समत्वयोग है। ज्ञातव्य है कि बाह्य परिस्थितियों पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता है। अनुकूल ओर प्रतिकूल अवस्था में चेतना के समत्व को बनाये रखना अर्थात् इनसे उद्वेलित नहीं होना ही समत्वयोग है। वस्तुतः समत्वयोग विविध प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में हमारी चेतना और व्यवहार को सन्तुलित बनाये रखने का प्रयास है। समत्वयोगी उसे ही कहा जाता है जो जीवन में राग-द्वेष के प्रसंगों के आने अथवा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति के उत्पन्न होने पर अपनी चैतसिक समता को नहीं खोता है। दूसरे शब्दों में कहें तो समत्वयोग समभाव या समता की साधना है। विक्षोभों और तनावों के ऊपर उठकर चित्त-वृत्ति का समत्व ही समत्वयोग है।

मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है, उसमें जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ भोगासक्ति ही प्रमुख कारण है। संघर्ष की तीव्रता आसक्ति की तीव्रता के साथ बढ़ती जाती है।

आन्तरिक संघर्ष मनुष्य की विभिन्न आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है। उसके पीछे भी तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख है। समत्वयोग की साधना का अर्थ है कि व्यक्ति आसक्ति से ऊपर उठे। अतः समत्वयोग निराकांक्षता का सूचक है।

इसी प्रकार वैचारिक जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। भोगासक्ति स्वार्थों की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता, चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समस्त सामाजिक संघर्षों के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीर्णता काम कर रही है। इसका फलितार्थ यह है कि समत्वयोग अनाग्रही किन्तु सत्याग्रही जीवनदृष्टि का परिचायक है।

जब आसक्ति लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आन्तरिक संघर्ष का कारण होती है। यह चैतसिक समत्व को भंग करती है, संघर्ष की उपस्थिति में समत्व का अभाव होता है और आन्तरिक शान्ति भी समाप्त हो जाती है। आन्तरिक समता की उपस्थिति में बाह्य जगत् के विक्षोभ हमारे चित्त को विचलित नहीं कर सकते हैं। व्यक्ति के लिए आन्तरिक चैतसिक सन्तुलन ही प्रमुख है। आन्तरिक सन्तुलन व्यक्ति को राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। इससे समत्वयोग की साधना का मार्ग प्रशस्त बन जाता है। वस्तुतः तो वीतरागता ही समत्वयोग की साधना का मूल प्रयोजन है।

जब व्यक्ति आन्तरिक सन्तुलन से युक्त होता है तो उसके आचार-विचार और व्यवहार में भी सन्तुलन प्रकट हो जाता है। उसका कोई भी व्यवहार या आचार बाह्य असन्तुलन का कारण नहीं बनता है। आचार और व्यवहार हमारे मन के बाह्य प्रकटन हैं, व्यक्ति के मानस की बाह्य अभिव्यक्ति है। जिसमें आन्तरिक सन्तुलन या समत्व निहित होता है, उसके आचार, विचार और व्यवहार भी समत्वपूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं वह बाह्य व्यवहार में एक सांग सन्तुलन स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होता है। उसका सन्तुलित व्यक्तित्व प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को प्रभावित

करता है। सभी के लिए वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। उसके द्वारा सामाजिक हित साधन भी सहज में हो सकता है। फिर भी सामाजिक समत्व की संस्थापना में ऐसा व्यक्तित्व एक मात्र कारक नहीं होता। अतः उसके प्रयास सदैव सफल हों यह अनिवार्य नहीं है। सामाजिक समत्व की संस्थापना समत्वयोग का साध्य तो है लेकिन उसकी सिद्धि वैयक्तिक समत्व पर नहीं वरन् समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर है। फिर भी समत्वयोगी के व्यवहार से न तो सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं और न बाह्य संघर्षों, क्षुब्धताओं और कठिनाइयों से वह अपने मानस को विचलित होने देता है। समत्वयोग का मूल केन्द्र चैतसिक सन्तुलन या समत्व है। वह राग और द्वेष के प्रहाण से उपलब्ध होता है।

समत्व का तात्पर्य राग-द्वेष से अतीत होना है। क्योंकि जब तक चित्त में राग-द्वेष बने हुए हैं तब तक समत्व की सम्भावना नहीं है। राग और द्वेष ही हमारी चेतना के समत्व को भंग करते हैं। इसलिए राग-द्वेष का अभाव ही समत्व के सद्भाव का आधार है। राग-द्वेष के निमित्तों को पाकर भी चित्त उनसे आक्रान्त न हो यही समत्वयोग है। राग-द्वेष के कारण ही क्रोधादि कषाएँ जन्म लेती हैं। ये कषाएँ चेतना के समत्व को भंग करती हैं। अतः समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का कषायों से ऊपर उठना है। कषाय एक प्रकार का मानसिक आवेग है। चित्तवृत्ति जब तक आवेगों से युक्त है तब तक समत्व की सम्भावना नहीं है। अतः समत्वयोग वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा साधक कषायों और उनकी जनक राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठता है। एक अन्य दृष्टि से जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहती हैं। उन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्त उद्वेलित न हो, ऐसा प्रयत्न ही समत्वयोग है। ज्ञातव्य है कि बाह्य परिस्थिति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता। वे अनुकूल अथवा प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। इनमें अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। अतः अनुकूल और प्रतिकूल अवस्था में चेतना के समत्व को बनाये रखना अर्थात् इनसे उद्वेलित नहीं होना ही समत्वयोग है। वस्तुतः समत्वयोग विविध प्रकार की

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में हमारी चेतना और व्यवहार को सन्तुलित बनाये रखने का प्रयास है। समत्वयोगी उसे ही कहा जाता है जो जीवन में राग-द्वेष के प्रसंगों के आने अथवा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति के उत्पन्न होने पर अपनी चैतसिक समता को नहीं खोता है। दूसरे शब्दों में कहें तो समत्वयोग समभाव या समता की साधना है। विक्षोभों और तनावों के ऊपर उठकर चित्तवृत्ति का समत्व ही समत्वयोग है।

१.६ समत्व से विचलन के कारण

'यह सत्य है कि समत्व को आत्मा का स्वभाव माना गया है और उसे सम्पूर्ण जैन साधना का मुख्य लक्ष्य बताया गया है। किन्तु समत्व की साधना तब तक सम्भव नहीं होगी, जब तक समत्व के विचलन के कारणों का विश्लेषण न कर लिया जाय और उनके निराकरण का कोई प्रयत्न न किया जाय। यद्यपि समत्व को आत्मा का स्वभाव कहा गया है; फिर भी व्यक्ति का समत्व से विचलन देखा जाता है। जिस प्रकार पानी स्वभाव से शीतलता के गुण वाला है, किन्तु अग्नि आदि का संयोग होने पर वह पानी उष्ण हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी बाह्य पदार्थों के निमित्त पाकर अपने समत्व दृष्टि स्वभाव से विचलित हो जाती है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है। बाह्य जगत् के सम्पर्क में आने से उसे कुछ पदार्थ अनुकूल और कुछ पदार्थ प्रतिकूल लगते हैं। उनके प्रति राग और द्वेष उत्पन्न होता ही है। राग और द्वेष के तत्व ही समत्व से विचलन के मूल कारण हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राग-द्वेष मानसिक विकार माने गये हैं। अतः यह सत्य है कि यदि कोई भी मानसिक विकार होगा तो वह या तो राग (आसक्ति) रूप होगा या द्वेष रूप। विषयों के सम्पर्क में अनुकूलता और प्रतिकूलता की स्थिति ही राग द्वेष का कारण है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ हैं, तब तक व्यक्ति बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से नहीं बच सकता। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से यह भी स्वाभाविक है कि कुछ हमें अनुकूल और कुछ प्रतिकूल लगें। इससे व्यक्ति नहीं बच पाता। किन्तु अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष

व्यक्ति स्वयं ही करता है और इसी कारण समत्व से विचलित हो जाता है। राग और द्वेष में मूल कारण तो राग ही है, क्योंकि राग के अभाव में द्वेष की कोई सत्ता नहीं होती। द्वेष राग का विरोधी है। जो हमारे राग का विषय है उससे प्रतिकूल विषय या बाधक विषय ही द्वेष का कारण बनाता है।[६५] इसीलिये आचारांगसूत्र में यह कहा गया है कि जब तक ममत्व है, तब तक समत्व सम्भव नहीं है। ममत्व ही समत्व से विचलन का मूल कारण है। व्यक्ति के जीवन में जब तक ममत्व बुद्धि रही हुई है तब तक समत्व सम्भव नहीं है; क्योंकि ममत्व बुद्धि के कारण मेरा और तेरा के भाव उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति जिसे मेरा मानता है उससे राग करता है और जिसे पराया मानता है उससे द्वेष करता है।[६६] जहाँ हमारे जीवन में अपने और पराये के भाव जागते हैं वहाँ वैयक्तिक जीवन में समत्व भंग होता ही है किन्तु उसके साथ ही साथ सामाजिक जीवन में भी समत्व भंग होता है। व्यक्ति में जब मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा राष्ट्र आदि की संकुचित भावना जागती है तो सामाजिक समत्व भंग होता है और पारस्परिक संघर्षों का जन्म होता है। एक अन्य दृष्टि से जैनाचार्यों ने अनात्म में आत्म बुद्धि को भी समत्व से विचलन का कारण माना है। बाह्य परपदार्थों में ममत्व का आरोपण होने से व्यक्ति में एक मिथ्या दृष्टिकोण का जन्म होता है। वह, जो अपना नहीं है, उसे ही अपना मानने लगता है और इस प्रकार उसका ध्यान विद्रूपित हो जाता है। उसकी समझ सम्यक् नहीं होती।[६७] यह भी राग के जन्म और समत्व से विचलन का हेतु बनता है। इस प्रकार संक्षेप में तो समत्व से विचलन का कारण अनात्म में आत्म बुद्धि करके उसके प्रति रागादि भाव करना ही है। किन्तु यदि हम इस प्रश्न

---

[६५] आनन्दघन का रहस्यवाद' २३४ ।

[६६] (क) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १५३ । -डॉ. सागरमल जैन ।

(ख) 'बोधिचर्यावतार' ८/१३४-३५ ।

(ग) 'आनन्दघन ग्रन्थावली' पद १०० ।

(घ) वही 'मल्लिजिनस्तवन' ।

[६७] आचारांगसूत्र २/१/६३ ।

पर विस्तार से विचार करना चाहें तो समत्व के विचलन के अनेक कारण हैं। जैनदर्शन में बन्ध के जो पांच हेतु माने गये हैं उन्हें समत्व से विचलन का कारण भी कहा जाता है। ये पांच हेतु निम्न हैं :

१. मिथ्यात्व; २. अविरति; ३. प्रमाद;
४. कषाय; और ५. योग।[९९]

समयसार में इनमें से ४ का उल्लेख मिलता है। उसमें प्रमाद का उल्लेख नहीं है।[९९]

मिथ्यात्व

समत्व से विचलन का प्रथम हेतु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का सामान्य अर्थ मिथ्या विश्वास या मिथ्या जीवनदृष्टि है। अनात्म में आत्म बुद्धि रखना या पर को अपना मानना यह एक मिथ्या दृष्टिकोण है। जहाँ इस प्रकार का मिथ्या दृष्टिकोण होता है, वहाँ ममत्व बुद्धि या रागादि भाव का जन्म होता है। व्यक्ति में जब तक ऐसा भाव उत्पन्न नहीं होता कि समस्त बाह्य पदार्थ सांयोगिक हैं; न तो ये मेरे हैं और न मैं इनका हूँ; तब तक वह उनमें आत्मबुद्धि करके ममत्व या मेरेपन का आरोपण करता है और मेरेपन के इसी भाव के कारण राग का जन्म होता है। जहाँ राग होता है वहीं द्वेष भी होता है। राग-द्वेष की उपस्थिति में चेतना का समत्व भंग हो जाता है और आत्मा अपने समत्व रूप स्वभाव से च्युत होती है। भगवतीआराधना एवं सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है - जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन है।[१००]

---

९९ (क) 'पंच आसव दारा पण्णता-मिच्छत्तं, अविरई, पमाया कसाया जोगा।'
-समवायांग ५/२६ एवं स्थानांगसूत्र ४१८।
(ख) इसिभासिय ६/५; और
(ग) 'मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्धहेतवः।' तत्त्वार्थसूत्र ८/१।

९९ समयसार १७१।

१०० (क) 'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ॥ ५६ ॥' भगवतीआराधना।
(ख) सर्वार्थसिद्धि २/६।
(ग) नयचक्र गा. ३०३।

अविरति

अविरति का सामान्य अर्थ संयम या आत्म निहित शक्ति का अभाव है। जब तक व्यक्ति बाह्य पदार्थों में आसक्त बनकर उनकी इच्छा या आकांक्षा रखता है, तब तक उसमें चैतसिक समत्व का विकास सम्भव नहीं है। इच्छा और आकांक्षाओं की उपस्थिति में वह एक कमी का अनुभव करता है। उसमें आत्मतोष का अभाव होता है। इच्छा और आकांक्षा की उपस्थिति हमारे चैतसिक समत्व को भंग कर देती है। जब तक चित्त में इच्छा और आकांक्षाएँ बनी हुई हैं, तब तक व्यक्ति तनाव की स्थिति में ही रहता है। जब तक तनाव है तब तक चैतसिक समत्व का अभाव होता है। इस आधार पर हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि व्यक्ति में इच्छा और आकांक्षा की उपस्थिति ही उसे समत्व से विचलित करती है। अतः उन्हें समत्व से विचलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण माना जा सकता है। विरति का अभाव अविरति है।[१०१]

प्रमाद

समत्व के विचलन का तीसरा कारण प्रमाद या असजगता है। हमारी चेतना को समत्व से विचलित करने वाला तीसरा कारण प्रमाद है। प्रमाद का अर्थ असजगता है। असजग व्यक्ति के सामने अपना लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता और न वह अपने हिताहित का विचार कर सकता है। अतः उसका समत्व से विचलित होना स्वाभाविक है। असजगता अनिर्णयात्मक होती है। अनिर्णय की अवस्था में चित्त का विचलन बना रहता है। जहाँ चित्त विचलित रहता है, वहाँ निश्चय ही समत्व का अभाव होता है। समत्वयोग के साधक को अप्रमत्त या सजग होना आवश्यक है; क्योंकि बिना सजगता के चित्तवृत्ति की एकाग्रता सम्भव नहीं है और जहाँ चित्त की वृत्तियाँ विचलित होती रहती हैं, वहाँ समत्व सम्भव नहीं होता। सूत्रकृतांगसूत्र में प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा गया है।[१०२] इसका तात्पर्य यह है कि जब तक प्रमाद है तब तक

---

[१०१] सर्वार्थसिद्धि १/३२ ।

[१०२] 'कोह च माणं च तहेव मायं ।
लोभं चउत्थं अज्झत्थ दोसा ।। २६ ।।' -सूत्रकृतांग १/६ ।

कर्मबन्ध है और जब तक कर्मबन्ध है तब तक आत्मा समत्व की अवस्था को प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। प्रमाद या असजगता की अवस्था में व्यक्ति के चित्त पर वासनाएँ हावी रहती हैं और जहाँ हमारी चेतना वासनाओं से आक्रान्त होती है वहाँ उसका समत्व विचलित हो जाता है। इसलिये समत्व से विचलन के कारणों में एक हेतु प्रमाद ही है। जैनदर्शन में कषायों की अवस्थिति को भी प्रमाद ही कहा गया है। किन्तु यहाँ हम कषायों के सन्दर्भ में अलग से चर्चा कर रहे हैं। इसलिये प्रस्तुत चर्चा को यहीं विराम देना चाहेंगे।

कषाय

समत्व से विचलन के कारणों में कषाय का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है। कषाय शब्द का अर्थ यही है कि जो आत्मा को कृश करे वही कषाय है।[१०३] जैनदर्शन में क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहा गया है।[१०४] इनके नामों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये हमारी आत्मा के समत्व को विचलित करते हैं। क्योंकि व्यक्ति जब क्रोध के आवेग से आक्रान्त होता है, तब उसकी चित्तवृत्ति का समत्व भंग हो जाता है। क्रोध में होना असजगता तो है, साथ ही वह हमारी चेतना की तनावपूर्ण स्थिति का भी सूचक है। अतः जहाँ क्रोध है, वहाँ चित्तवृत्ति का समत्व सम्भव ही नहीं है। क्रोध में हमारा शरीर और हमारी चेतना दोनों ही तनावग्रस्त बने रहते हैं। अतः क्रोध को चैतसिक विषमता का कारण माना जा सकता है।

कषाय का दूसरा रूप मान या अहंकार की वृत्ति है। जिस व्यक्ति के अन्दर अहंकार की भावना का उदय होता है; वह व्यक्ति अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने का प्रयास करता है।[१०५] यहाँ ऊँच-नीच की भावना न केवल उसके चैतसिक समत्व को भंग करती है, अपितु हमारे सामाजिक समत्व को भी भंग करती है।

---

१०३ (क) सर्वार्थसिद्धि ६/४। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६/४/२।

१०४ (क) स्थानांगसूत्र ४/१/२५१। (ख) प्रज्ञापनासूत्र २३/१/२९०।
(ग) समवाओ/समवाय ४/१। (घ) विशेषावश्यकभाष्य २९८४।

१०५ आचारांगसूत्र १/१/११।

जाति, कुल, ज्ञान, सम्पत्ति किसी भी प्रकार की स्थिति का अहंकार करना चित्त की विषमता का ही कारण है। अहंकारी व्यक्ति का चित्त सदैव अशान्त बना रहता है। मात्र यही नहीं, उसमें पूजा और प्रतिष्ठा की आकांक्षाएँ भी वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं। उनकी उपलब्धि में बाधा आने पर वह क्रोध से आविष्ट हो जाता है, तो दूसरी ओर मान-सम्मान की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के छल-छद्म करता है। इस प्रकार उसका चित्त अन्य-अन्य कषायों से भी आक्रान्त बना रहता है। यह उसकी चित्तवृत्ति की विषमता का ही सूचक है। इस प्रकार समत्व के विचलन का कारण व्यक्ति की अहंकार वृत्ति भी है।

कषायों में तीसरा स्थान माया या कपट वृत्ति का है। कपट का अर्थ दूसरों को धोखा देने की प्रवृत्ति है। साथ ही वह व्यक्ति के जीवन के दोहरेपन को भी प्रकट करती है। व्यक्ति जो कुछ और जैसा है, वैसा अपने को प्रकट न करके दूसरों के सामने अपने को अन्य रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कपट की वृत्ति के आते ही चैतसिक समत्व या चैतसिक शान्ति भंग हो जाती है। जीवन में दोहरापन स्वयं ही इस बात का प्रतीक है कि उसका चित्त अशान्त है। क्योंकि जो कपट करता है, वह हमेशा इस बात से भयभीत रहता है कि कहीं सत्यता उजागर न हो जावे। इस प्रकार कपटी व्यक्ति के मन में भय की भावना भी होती है और जहाँ भय की भावना है, वहाँ आन्तरिक समता सम्भव नहीं है। इस प्रकार मायाचार या छल-छद्म की वृत्ति ही व्यक्ति के चैतसिक समत्व के भंग होने का एक प्रमुख कारण है। कपट की वृत्ति और चैतसिक समता एक साथ नहीं रह सकते। इसलिये विषमता के कारणों में एक महत्त्वपूर्ण कारण मायाचार या कपट वृत्ति ही माना जाता है। मायावी और प्रमादी बार-बार जन्म लेता है - उसका संसार-परिभ्रमण कभी समाप्त नहीं होता।[१०६]

कषाय में लोभ का चौथा स्थान है। लोभ का अर्थ है व्यक्ति के मन में इच्छा और आकांक्षा का बना रहना। जीवन में जब तक इच्छा आकांक्षा या तृष्णा की सत्ता है तब तक चित्तवृत्ति का समत्व

---

[१०६] 'माई पमाई पुणरेइ गब्भं ।' -आचारांगसूत्र ३/१ ।

सम्भव नहीं होता। चित्त में जैसे ही कोई आकांक्षा या इच्छा उत्पन्न होती है तो उसका समत्व विचलित हो जाता है। जिस व्यक्ति में इच्छा और आकांक्षाओं का स्तर जितना तीव्र होता है वह व्यक्ति उतना ही अशान्त रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवन में जब तक इच्छा और आकांक्षाएं बनी हुई हैं तब तक समत्व की साधना या जीवन में समत्व का अवतरण सम्भव नहीं होता। व्यक्ति जितना-जितना इच्छा और आकांक्षाओं से ऊपर उठता है, उतना-उतना वह समत्व की साधना में गतिशील बनता है। यदि गम्भीरता से विचार करें तो चित्तवृत्ति की विषमता का मूल कारण तो लोभ ही है। लोभ से ही इच्छाओं और आकांक्षाओं का जन्म होता है और जब हमारी इच्छा और आकांक्षाओं की पूर्ति में कोई बाधा उपस्थित करता है तो क्रोध का जन्म होता है। दूसरी ओर व्यक्ति इच्छा और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार का मायाचार करता है। इच्छित विषय और आकांक्षाओं की पूर्ति होने पर अहंकार का जन्म होता है। इस प्रकार चारों कषायों के मूल में भी लोभ कषाय की सत्ता बनी रहती है। जैनदर्शन के अनुसार लोभ कषाय की समाप्ति भी सबके अन्त में होती है। आचारांगसूत्र में बताया गया है कि सुख की कामना करनेवाला लोभी बार-बार दुःख का प्राप्त करता है।[१०७] सामान्य भाषा में लोभ को पाप का मूल कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि पापों का जन्म लोभ की प्रवृत्ति से ही होता है। यदि हम विश्व के संघर्षों या युद्धों के मूल कारणों को देखें तो कहीं न कहीं उनके मूल में लोभ या लालसा का तत्व निहित होता है। लालसा चाहे इन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिये हो, चाहे धन सम्पत्ति या भूमि के स्वामित्व के लिये हो वह लोभ का ही एक रूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषमताओं का मूल कारण कहीं न कहीं लोभ ही है। इस प्रकार संसार और चित्तवृत्ति में जो विषमताएँ, विरूपताएँ और संघर्ष हैं वे सब क्रोध, मान, माया और लोभ के निमित्त से ही होते हैं।

---

[१०७] 'सूहट्ठी लालप्पमाणे सएण दूक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति ॥१५१॥' -आचारांगसूत्र २/६ ।

योग

जैनदर्शन में बन्धन के कारणों में योग को भी स्थान दिया गया है। यहाँ योग शब्द का तात्पर्य मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें हम मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएँ भी कह सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि क्रियाएँ स्वतः बन्धन का कारण नहीं बनतीं। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार क्रोधादि कषायों से अनुरंजित क्रियाएँ ही बन्धन का कारण हैं। संसार में जो विषमताएँ हैं, वे कर्मजन्य हैं अर्थात् उनके पीछे कहीं न कहीं मनुष्य की कायिक, वाचिक या मानसिक क्रियाएँ रही हुई हैं। जब व्यक्ति वासनाओं या क्रोधादि आवेगों से प्रेरित होकर कोई क्रिया करता है, तो वह अपने वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन को विषम स्थितियों में डाल देता है। यद्यपि विषमता के मूल में तो कहीं न कहीं व्यक्ति की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ अथवा आवेग ही कार्य करते हैं, किन्तु उनको अभिव्यक्ति तो मानसिक, वाचिक या कायिक क्रियाओं के द्वारा ही मिलती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि वासनाओं, इच्छाओं और कषाय दृष्टि आवेगों से अनुप्रेरित जो मानसिक, वाचिक, कायिक क्रियाएँ हैं, वे भी विषमताओं को उत्पन्न करने में एक प्रमुख कारण बनती हैं। विषमताएँ चाहे चैतसिक हों या सामाजिक, वे अकारण नहीं होतीं। उनके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यदि हम उन कारणो का विश्लेषण करें तो निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि व्यक्ति का मिथ्या दृष्टिकोण, अनियन्त्रित व असंयमित व्यवहार, असजगता और वासनाओं या कषायों से उद्वेलित मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाएँ ही चैतसिक और वैश्विक विषमताओं की मूल कारण हैं। जब तक ये कारण बने हुए हैं तब तक न तो वैयक्तिक जीवन में समत्व या शान्ति की उपलब्धि हो सकती है और न सामाजिक या समता की संस्थापना हो सकती है। अगले अध्यायों में हम देखेंगे कि ये विषमताएँ कितने प्रकार की हैं और समत्वयोग की साधना के द्वारा इनका निराकरण कैसे सम्भव है ?

।। प्रथम अध्याय समाप्त ।।

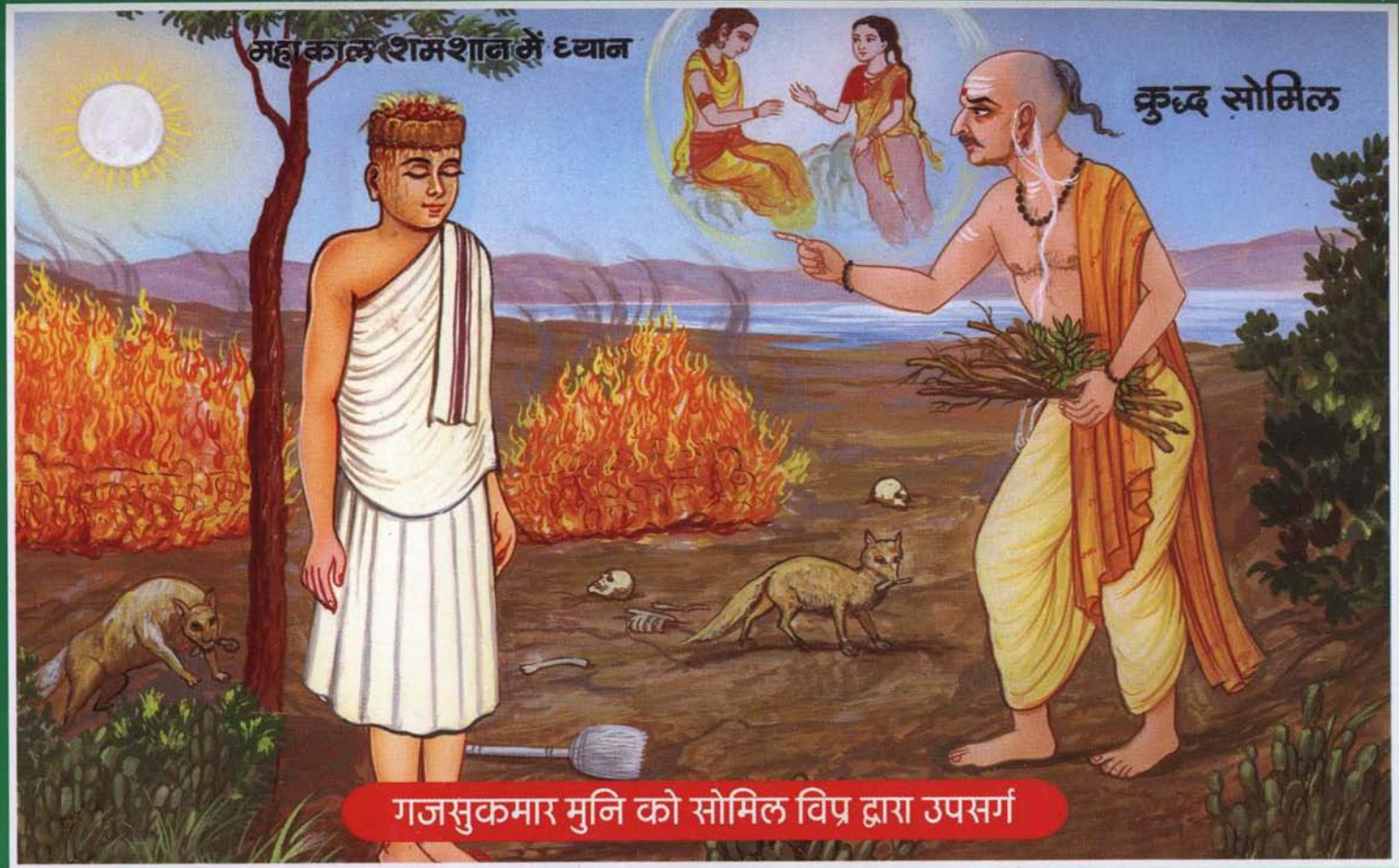
महाकाल श्मशान में ध्यान
क्रुद्ध सोमिल
गजसुकमार मुनि को सोमिल विप्र द्वारा उपसर्ग

अध्याय २

जैनदर्शन का त्रिविध साधनामार्ग और समत्वयोग

२.१ सम्यग्दर्शन और समत्वयोग (सम्यक्त्व) की आधारभूमि – सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य

जैनदर्शन में मोक्ष को साध्य माना गया है। उसमें सम्पूर्ण साधना मोक्ष के लिए की जाती है। अतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मोक्ष क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की समत्वपूर्ण अवस्था को ही मोक्ष कहा है।[१] भगवतीसूत्र में जब भगवान से यह पूछा गया कि आत्मा क्या है और आत्मा का साध्य क्या है तो उन्होंने कहा कि "समत्व" ही आत्मा है और समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है। इससे भी यही फलित होता है कि आत्मा की समत्वपूर्ण अवस्था ही मोक्ष है।[२] समत्व आत्मा का स्वरूप भी है और आत्मा का साध्य भी है। जैनदर्शन में साध्य और साधन में अभेद माना गया है। यही कारण है कि उसमें समत्व को आत्मा का साध्य और साधन दोनों ही कहा गया है।

जैन दार्शनिकों ने कहा है कि साधक का साध्य उससे बाहर नहीं; वह उसके अन्दर ही है। समत्वयोग की साधना के द्वारा भी जिसे पाया जाता है वह समत्व ही है। साध्य बाह्य उपलब्धि नहीं है, अपितु वह अन्दर की गहराई में अपने ही शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार बीज में वृक्ष बनने की क्षमता रही हुई

---

१ प्रवचनसार १/७ ।

२ भगवतीसूत्र १/६/२२८ ।

है, वैसे ही आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता रही हुई है। पुनः यह परमात्मदशा भी आत्मा की ही समत्वपूर्ण वीतराग अवस्था है। समत्व से विचलित होना - यही संसार है, बन्धन है और यही दुःख भी है; जबकि समत्व की उपलब्धि ही मुक्ति है। इसलिए समत्वरूप मोक्ष की उपलब्धि के लिए समत्वयोग की साधना आवश्यक है। मूल में तो समत्वयोग ही एक मात्र मोक्षमार्ग है। किन्तु आत्मा के विविध पक्षों के आधार पर द्विविध, त्रिविध आदि मोक्षमार्ग का विवेचन भी जैनदर्शन में मिलता है।

मोक्ष समत्वरूप है, अतः समत्व आत्मा का साध्य भी है और साधन भी। जैनदर्शन में समत्वयोग या सामायिक की साधना को ही मोक्षमार्ग कहा गया है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके है कि आचार्य हरिभद्र के अनुसार व्यक्ति चाहे किसी भी परम्परा का हो; यदि वह समभाव की साधना करेगा तो निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। आचारांगसूत्र में भी समभाव की साधना को धर्म या मोक्षमार्ग के रूप में विवेचित किया गया है।[३] इस प्रकार यदि मोक्षमार्ग के रूप में किसी एक को ही साधन बताना हो तो वह समत्वयोग की साधना है। क्योंकि समत्व आत्मा का स्वरूप है और वही साध्य है। यदि हमें द्विविध रूप से मोक्षमार्ग की चर्चा करना हो तो ज्ञान और क्रिया को मोक्ष कहा गया है। सूत्रकृतांगसूत्र में "विज्जाचरण पमोक्खो" कहकर इस त्रिविध मोक्षमार्ग का उल्लेख हुआ है। वहाँ ज्ञान और आचरण को ही मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है।[४] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मोक्षमार्ग के अंग के रूप में ज्ञान और आचरण को समत्व से युक्त अर्थात सम्यक् होना चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में भी प्रथम ज्ञान और फिर दया अर्थात अहिंसा का पालन, ऐसा कहकर इसी द्विविध मोक्षमार्ग का विवेचन हुआ है।[५] विशेषावश्यकभाष्य में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि मुक्ति ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही होती

---

३ (क) 'सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बद्धो वा तहेव अन्नो वा ।
समभाव भावियप्पा लहर मुक्खं न संदेहा ।।' -हरिभद्र ।
(ख) समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए । -आचारांगसूत्र १/५/३/५७ ।

४ सूत्रकृतांगसूत्र १/१२/११ ।

५ दशवैकालिकसूत्र ८/१/१४, १६ ।

है। वहाँ अनेक उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया गया है।[६] उत्तराध्ययनसूत्र में भी मोक्षमार्ग को ज्ञान और चारित्र के रूप में स्वीकार किया गया है।[७]

साधनामार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है, वहाँ औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया गया। जैन परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना के क्षेत्र में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। महावीर और उनके बाद के जैन विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधनापथ का उपदेश दिया। उनका यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि पाप का त्याग किये बिना ही मात्र यथार्थता को जानकर आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है; कुछ विचारक ऐसा मानते हैं। लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[८] सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।[९] आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। बिना आचरण

---

६ विशेषावश्यकभाष्य २६७५ ।

७ उत्तराध्ययनसूत्र १७/२० ।

८ (क) 'इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ।। ६ ।।
(ख) भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पयं ।।१०।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ६ ।

९ सूत्रकृतांगसूत्र २/१/७ ।

के कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता; वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप और संयमरूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।[१०] तैरना जानते हुए भी यदि कोई कायचेष्टा न करे तो डूब जाता है; उसका कार्य सिद्ध नहीं होता। वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।[११] जैसे चन्दन ढोनेवाला चन्दन की सुगन्ध से लाभान्वित नहीं होता; मात्र भारवाहक ही बना रहता है; वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है। इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।[१२] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक प्रसिद्ध अन्धपंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में दावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्यक् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है; वैसे ही आचरण विहीन ज्ञान और ज्ञान विहीन आचरण दोनों निरर्थक हैं - संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता; अकेला अन्धा, अकेला पंगु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँच सकते; वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[१३] भगवतीसूत्र में ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने को मिथ्या कहा गया है। 'ज्ञान क्रियाभ्याम मोक्षः' - दोनों के समन्वय से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है।[१४] महावीर ने ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से एक चतुर्भंगी का कथन किया है :

१. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र सम्पन्न नहीं हैं;
२. कुछ व्यक्ति चारित्र सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान सम्पन्न नहीं हैं;
३. कुछ व्यक्ति न ज्ञान सम्पन्न हैं, न चारित्र सम्पन्न हैं; और
४. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न भी हैं और चारित्र सम्पन्न भी हैं।

---

१० आवश्यकनिर्युक्ति ६५-६७।
११ विशेषावश्यकभाष्य ११५१-५४।
१२ आवश्यकनिर्युक्ति १००।
१३ आवश्यकनिर्युक्ति १०१-१०२।
१४ भगवतीसूत्र ८/१०/४१।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा है, जो ज्ञान और क्रिया तथा श्रुत और शील दोनों से सम्पन्न है। इस प्रकार जैन विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनों ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र की समवेत् साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों ही एकान्त हैं और एकान्त दृष्टि जैनदर्शन की विचारणा के अनुसार सम्यक् नहीं है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है।

वैदिक परम्परा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति

जैन परम्परा के समान वैदिक परम्परा में भी ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय में ही मुक्ति की सम्भावना मानी गई है। नृसिंहपुराण में भी आवश्यकनिर्युक्ति के समान सिद्ध किया गया है कि जैसे रथहीन अश्व और अश्वहीन रथ अनुपयोगी है; वैसे ही विद्या विहीन तप और तप विहीन विद्या निरर्थक है। जैसे दो पंखों के कारण पक्षी की गति होती है, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[९५] क्रियाविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन क्रिया दोनों निरर्थक हैं।[९६] बुद्ध ने क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों को ही अपूर्ण माना है। उन्होंने शील और प्रज्ञा – दोनों का समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया है।

जैन दर्शन का त्रिविध मोक्षमार्ग :

त्रिविध मोक्षमार्ग की चर्चा जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। स्थानांगसूत्र, समवायांग आदि आगमों में त्रिविध मोक्षमार्ग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में भी इस त्रिविध मोक्षमार्ग की चर्चा की है। इसमें इसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र – ये तीन अंग बताये गये हैं।[९७] उत्तराध्ययनसूत्र और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में चतुर्विध मोक्षमार्ग का उल्लेख

---

९५ नृसिंहपुराण ६१/६/११ ।

९६ 'दी क्वेस्ट ऑफ्टर परफेक्शन' पृ. ६३ ।

९७ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ.३३ से उद्धृत
'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' -तत्त्वार्थसूत्र १/१ ।

मिलता है।[१८] चतुर्विध मोक्षमार्ग के रूप में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप - ये चार प्रकार के मुख्य अंग माने गये हैं। इसी प्रकार जैनागमों में पंचविध मोक्षमार्ग का भी उल्लेख मिलता है। पंचविध मोक्षमार्ग के रूप में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ऐसे पांच आचारों का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आगम साहित्य और जैनाचार्यों के ग्रन्थों में मोक्षमार्ग का विवेचन विविध दृष्टियों से विविध रूपों में किया गया है। फिर भी उन सब में सामान्य तत्त्व यह है कि वे कोई भी समत्व के अभाव में मोक्षमार्ग नहीं माने गये हैं। क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप या पुरुषार्थ - कोई भी यदि सम्यक् दिशा में योजित नहीं हो, तो वह मोक्षमार्ग नहीं है। इससे यह फलित होता है कि इन विविध मोक्षमार्गों की साधना के मूल में समत्वयोग की साधना ही मूल आधार है। अतः यहाँ यह समझने की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए कि विविध दृष्टियों से किये गये विविध मोक्षमार्गों का यह विवेचन परस्पर विरोधी है। वस्तुतः ये सभी समत्वयोग की साधना के विविध अंग हैं और इस प्रकार इनके केन्द्र में तो समत्वयोग ही है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के रूप में जो त्रिविध मोक्षमार्ग है, वस्तुतः वह समत्वयोग की साधना का ही एक व्यापक रूप है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारी चेतना के तीन पक्ष हैं - जानना, अनुभव करना और इच्छा करना। चेतना के इन तीन पक्षों को ही जैनदर्शन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र - ये आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इन तीनों को आत्मा ही कहा है, क्योंकि ये आत्मा से अभिन्न हैं।[१९] आत्मा की ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक शक्तियाँ जब मिथ्यात्व या गलत अवधारणाओं से युक्त होती हैं तो वे व्यक्ति को स्वभावदशा से च्युत करके विभावदशा में ले जाती हैं। वही बन्धन का कारण

---

१८ 'नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पण्णतो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।। २ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ ।

१९ 'आत्मैव दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्यथवा यतेः ।
यत् तदात्मक एवैष, शरीरमधितिष्ठति ।। १ ।।' -योगशास्त्र ४ ।

बनती हैं। इसके विपरीत जब यही शक्तियाँ समत्व से युक्त होती हैं, तो हमें स्वभावदशा में ले जाती हैं और परिणामतः मोक्ष का कारण बनती हैं। इसीलिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र जब सम्यक्त्व या समत्व से युक्त होते हैं, तो वे मोक्ष का मार्ग बनते हैं और जब वे समत्व से रहित होते हैं, तो संसार का कारण बनते हैं। इसलिए हमें यह समझ लेना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र के रूप में जो त्रिविध मोक्षमार्ग कहा गया है, वह वस्तुतः चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्षों को समत्व से योजित करने का एक प्रयास ही है। अतः त्रिविध साधना मार्ग की यह विवेचना वस्तुतः समत्वयोग के ही तीन पक्षों की विवेचना है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान हमारी ज्ञानात्मक चेतना को समत्व से युक्त बनाता है। वह हमें अनाग्रही सत्य निर्णयों की दिशा में प्रेरित करता है। सम्यग्दर्शन हमें अनुकूल और प्रतिकूल अनुभूतियों में अविचलित रहने या पक्षमोह से ऊपर उठने का संदेश देता है; तो सम्यक्-चारित्र इच्छा एवं आकांक्षाजन्य संकल्पों से उठकर आत्मा को निर्विकल्प बनाता है। इस प्रकार यह त्रिविध साधना मार्ग भी वस्तुतः आत्मा के तीन पक्षों को समत्व की दिशा में योजित करने की साधना ही है। आगे हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की यह साधना किस प्रकार समत्वयोग की साधना है।

सम्यग्दर्शन समत्वयोग की आधार भूमि :

जैसा हमने पूर्व में निर्देश किया है कि सम्यग्दर्शन की साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन के पांच अंग या लक्षण कहे गये हैं – सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य (आस्था)। इन पांच लक्षणों में प्रथम लक्षण सम या समत्व ही है। यहाँ समत्व का अर्थ चित्तवृत्ति की निराकुलता से है। जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं।[२०] योगशास्त्र में भी इन पांच लक्षणों का विवेचन मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जब तक इन्द्रियाँ हैं, तब तक

---

२० 'शम संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पंचभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ।। १५ ।।' -योगशास्त्र २ ।

उनका उनके विषयों से सम्पर्क होना अपरिहार्य है। उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप हमें कुछ तथ्य अनुकूल और कुछ तथ्य प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल के प्रति राग या आसक्ति का जन्म होता है और प्रतिकूल के प्रति घृणा या द्वेष का। इस प्रकार राग और द्वेष की उपस्थिति में हमारी चित्तवृत्ति का समत्व भंग हो जाता है। समत्वयोग की साधना का अर्थ अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्तवृत्ति को सम रखना है। सम्यग्दृष्टि आत्मा वही कही जाती है जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित नहीं होती।[२१]

- शम – शम का अर्थ है प्रशम अथवा क्रूर अनन्तानुबन्धी कषायों का अनुदय – जैसे कहा है कि कर्म प्रवृत्तियों के अशुभ विपाक (कर्मफल) जानकर आत्मा के उपशमभाव को जानकर अपराधी पर भी क्रोध न करना प्रशम है। सुप्रवृत्ति में संलग्न आत्मा स्वयं की मित्र है एवं दुष्प्रवृत्ति में संलग्न स्वयं की आत्मा ही स्वयं की शत्रु है।[२२] इस प्रकार विवेकपूर्वक कषायों को उपशान्त करना ही प्रशम है।
- जैनदर्शन में जिसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है, उसे गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है। गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण भी यही माना गया है कि जिसे सुख के प्रति स्पृहा अर्थात् सुख की चाहत नहीं होती और जो दुःख में अनुद्विग्न रहता है, उसे ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। ऐसे व्यक्तित्व को ही जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि कहा गया है। सम्यग्दृष्टि वह है जिसकी चित्तवृत्तियाँ अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में समत्वपूर्ण रहें। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दृष्टि या समत्वयोगी का मुख्य लक्ष्य समत्व की साधना ही है। समत्व के अभाव में कोई सम्यग्दृष्टि या समत्वयोगी नहीं बन सकता।
- संवेग – सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग संवेग माना गया है। संवेग शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – सम् + वेग। क्रोध, मान,

---

२१ 'लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।। ९१ ।।' –उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १९ ।

२२ 'दुःखेष्वनुद्विग्रमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ।। ५६ ।।' –गीता अध्याय २ ।

माया और लोभ रूपी आवेगों का सम होना यही संवेग है। संवेग का अर्थ मोक्ष की अभिलाषा किया गया है।[२३] आचार्य रामचन्द्रसूरि लिखते हैं कि दिव्य देवों के सुख भी यथार्थ में सुखाभास हैं - परिणामतः दुःखस्वरूप ही हैं। मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा रखना संवेग है।[२४] उत्तराध्ययनसूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जीव संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा को उपलब्ध करता है तथा मिथ्यात्व से मुक्त होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि करता है। इस प्रकार दर्शन विशोधि से सम्पन्न जीव अपनी साधना से उसी भव में या तीसरे भव में अवश्य मुक्त होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ जिन्हें जैन धर्म में कषाय कहा गया है, वे हमारी चित्तवृत्ति के समत्व को भंग करते हैं। अतः सम्यग्दर्शन की साधना का लक्ष्य यही होता है कि इन आवेगों के प्रसंग उपस्थित होने पर चित्तवृत्ति को उनसे विचलित नहीं होने देना। जिस व्यक्ति के क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी आवेग सम हो गये हैं अर्थात् उन आवेगों के कारण से जिसकी चित्तवृत्ति विचलित नहीं बनती है; वही सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का संवेग नामक जो दूसरा अंग है। वह भी समत्वयोग की साधना का ही एक रूप है।

- निर्वेद - सम्यग्दर्शन का तीसरा लक्षण निर्वेद माना गया है। निर्वेद का अर्थ है - अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में चित्तवृत्ति का अप्रभावित रहना। जैसा हम पूर्व में कह चुके हैं कि संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जिसके जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ नहीं आती हों। किन्तु श्रेष्ठ साधक वही कहलाता है, जो इन अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है। निर्वेद की साधना वस्तुतः अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्तवृत्तियों को अप्रभावित रखने की साधना है। इस प्रकार निर्वेद भी किसी न किसी रूप में चित्तवृत्ति के समत्व का ही सूचक है। इस प्रकार

---

२३ 'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।। ३७ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २०।

२४ 'सम्यग्दर्शन' पृ. २८४। -रामचन्द्रसूरी।

सम्यग्दर्शन के उपरोक्त तीनों अंग वस्तुतः समत्वयोग की साधना से ही सम्बन्धित हैं।

- अनुकम्पा – सम्यग्दर्शन का चौथा अंग अनुकम्पा है। अनु का अर्थ पश्चात् और कम्पा का अर्थ कम्पन। अनुकम्पा अनु + कम + अ + यम के योग से बना है, जिसका अर्थ है दूसरे की पीड़ा की आत्मवत् अनुभूति। वस्तुतः अनुकम्पा का उदय तभी होता है, जब पर की पीड़ा हमारी अर्थात् स्व की पीड़ा बन जाती है। पर की पीड़ा की आत्मवत् अनुभूति से ही अहिंसा का उदय होता है; जो जैन साधना का आधार तत्त्व है। अहिंसा का विकास आत्मवत् दृष्टि के बिना असम्भव है। पुनः आत्मवत् दृष्टि के बिना जीवन में अनुकम्पा का उदय नहीं होता। इसलिए अहिंसा और अनुकम्पा दोनों ही आत्मवत् दृष्टि पर आधारित हैं। जैसा कि हमने पूर्व में बताया था कि समत्वयोग की साधना के लिए भी आत्मवत् दृष्टि का विकास आवश्यक है। अतः सम्यग्दर्शन का अनुकम्पा नामक यह चतुर्थ अंग भी वस्तुतः समत्वयोग की साधना से ही सम्बन्धित है।
- आस्तिक्य – सम्यग्दर्शन का पांचवां अंग आस्था या आस्तिक्य है। *'अस्तिभावं आस्तिक्यम्'* अर्थात् जब तक जीवन में आस्था का विकास नहीं होता तब तक चित्त की वृत्तियाँ स्थिर नहीं रहतीं। क्योंकि सन्देह की उपस्थिति में चित्त की निराकुलता या निर्विकल्पता सम्भव नहीं है। चित्त को निराकुल बनाने के लिए आस्था आवश्यक है। आस्था के परिणामस्वरूप ही निर्विकल्प दशा की साधना सम्भव होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का यह पांचवा अंग भी किसी न किसी रूप में समत्वयोग की साधना से जुड़ा हुआ है।

इन सब आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन की साधना समत्वयोग की साधना का ही एक प्रकार है। जब तक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्तवृत्ति अविचलित नहीं रहती; तब तक कोई भी साधना सार्थक नहीं हो सकती और सम्यग्दर्शन की साधना का मुख्य लक्ष्य चित्तवृत्ति को निर्विकल्प और अविचलित रखना है।

२.१.१ सम्यग्दर्शन : वीतरागता या समत्व के प्रति अनन्य निष्ठा

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध श्रद्धा से भी माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[२५] एवं तत्त्वार्थसूत्र[२६] में जीवादि नवतत्त्व के प्रति श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। जैसा हमने पूर्व में देखा है कि सम्यग्दर्शन के जो पांच अंग माने गये हैं, उनमें आस्तिक्य को भी एक अंग माना गया है। आस्तिक्य का अर्थ अनन्य निष्ठा या श्रद्धा ही है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सम्यग्दर्शन में हम किसके प्रति श्रद्धा या निष्ठा को अभिव्यक्त करें। यद्यपि प्राचीन जैनाचार्यों ने तो जीवादि नवतत्त्वों के प्रति अनन्य निष्ठा को ही सम्यग्दर्शन कहा था; किन्तु परवर्ती काल में देव, गुरू और धर्म या शास्त्र के प्रति अनन्य निष्ठा को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है[२७] और यह बताया गया है कि देव के रूप में वीतराग परमात्मा के प्रति, गुरू के रूप में पंचमहाव्रतधारी निर्ग्रन्थ मुनि के प्रति और धर्म के रूप में अहिंसामय धर्म के प्रति या शास्त्र के रूप में जिनवाणी के प्रति अनन्य निष्ठा ही सम्यग्दर्शन है।[२८] किन्तु जैनाचार्यों के अनुसार ये देव, गुरू और धर्म आत्मा से भिन्न नहीं हैं। आत्मा का वीतराग शुद्ध स्वरूप ही देव है। आत्मा द्वारा उस परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के प्रति जो पुरुषार्थ किया जाता है; उसके मार्गदर्शक के रूप में अपनी आत्मा ही गुरू है और आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करना ही धर्म है। इस प्रकार जैनदर्शन में श्रद्धा के केन्द्र के रूप में जो देव, गुरू और धर्म की चर्चा हुई है; वह भी वस्तुतः आत्मा की अनुभूति से भिन्न नहीं है। विशेषावश्यकभाष्य[२९] में जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने और

---

२५ उत्तराध्ययनसूत्र २८/१५ ।

२६ तत्त्वार्थसूत्र १/१४ ।

२७ 'या देवे देवता बुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ।। २/२ ।।' -योगशास्त्र ।

२८ 'हिंसारहिय धम्मे अट्ठारहदोस वज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।। ६० ।।' -मोक्षप्राभृत गाथा ।

२९ विशेषावश्यकभाष्य - गाथा ११८ ।

आत्मसिद्धि[३०] में श्रीमद् रायचन्द्र ने निम्न छः बातों पर अनन्य निष्ठा को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यह छः बातें निम्न हैं – आत्मा है; आत्मा नित्य है; आत्मा कर्ता है; आत्मा भोक्ता है; आत्मा की मुक्ति सम्भव है और मुक्ति का मार्ग है। इन छः बातों पर अनन्य निष्ठा रखने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। किन्तु ये सभी व्यवहार सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं। निश्चय में तो सम्यग्दर्शन आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अनन्य आस्था है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त आनन्दमय है। पर-भाव या आसक्ति ही बन्धन का कारण है और स्व-स्वभाव में रमण करना मोक्ष का हेतु है। मैं स्वयं ही (अपने शुद्ध स्वरूप में) अपना आदर्श हूँ। देव, गुरू और धर्म मेरी आत्मा ही है; ऐसी दृढ़ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है।[३१] दूसरे शब्दों में आत्म-केन्द्रित होना ही निश्चय सम्यक्त्व है। इसका तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में श्रद्धा या आस्था का अनन्य केन्द्र आत्मा का शुद्ध स्वभाव या वीतरागदशा ही माना गया है। यही वीतरागदशा समत्व की अवस्था है और इस प्रकार समत्व के प्रति अनन्य निष्ठा सम्यग्दर्शन है।

जैनदर्शन में मुनित्व का आधार समत्व माना गया है। समत्व की साधना ही मुनित्व की साधना है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पंचम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में स्पष्ट रूप से कहा गया हैं कि जो समत्व का द्रष्टा है, वही मुनित्व का द्रष्टा है और जो मुनित्व का द्रष्टा है, वही समत्व का द्रष्टा है।[३२] वस्तुतः समत्व की साधना ही मुनि जीवन की साधना है। दोनों में तादात्म्य है। जहाँ समत्व है, वहीं मुनित्व है और जहाँ मुनित्व है, वहीं समत्व है। मुनि अपनी साधना के प्रथम चरण में यही प्रतिज्ञा लेता है कि "हे पूज्य! मैं समत्व की साधनारूप सामायिक को स्वीकार

---

३० 'आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म ।
छे भोक्ता वली मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ।।४३।।' -आत्मसिद्धि (षट्पद नाम कथन) ।

३१ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन'
भाग २ पृ. ५६ । -डॉ. सागरमल जैन ।

३२ 'जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा ।
जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा ।।३८६।।' -आचारांगसूत्र १/५/३ ।

करता हूँ और सभी पापमय प्रवृत्तियों (सावद्य योग) का त्याग करता हूँ" -(सामायिक सूत्र)।

मुनि यथार्थ वस्तु स्वरूप की ही श्रद्धा करता है। मुनि जीवन, श्रद्धा और आस्था अर्थात् सम्यक्त्व का सहभावित्व बताते हुए पुनः आगे कहा गया है कि जो साधक कर्मों से रहित होकर सब जानता है, देखता है - किसी प्रकार की आसक्ति, इच्छा या परमार्थ का भी जो विचार नहीं करता और संसार की गति-अगति को जान कर जन्म मरण को समाप्त कर लेता है; वही मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।[३३] मुनि जीवन सम्यक्त्व से अभिन्न है। सम्यक्त्व का स्थान प्रथम है। इसके अभाव में ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र भी सम्यक् नहीं हो सकता। देव, गुरू और धर्म या जिनवाणी में पूर्ण श्रद्धा रखकर उसकी ओर अभिमुख हो जाना ही सम्यक्त्व या समत्व है।[३४] इस प्रकार आचारांगसूत्र में सम्यक्त्व के लिए 'सम्मत्तं, सम्मं, समियदंसण' तथा सम्यग्दृष्टि के लिए 'सम्मत्तदंसी, सम्मत्तदंसिण' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार दृढ़ श्रद्धान और समभाव सम्यक्त्व की नींव है। इनके अभाव में मुनि जीवन भी सम्भव नहीं है।

आचारांगसूत्र में प्रस्तुत इस 'सम्मं' शब्द का अर्थ टीकाकारों ने सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टि ही किया है। जिनदासगणिमहत्तर ने आचारांगचूर्णि तथा शीलांकाचार्य ने आचारांगवृत्ति में 'सम्मं' शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व ही किया है। आचारांगसूत्र में एक स्थान पर यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि कोई पाप नहीं करता है।[३५] यही विवेचन प्रकारान्तर से दशवैकालिकसूत्र में भी मिलता है।[३६] यहाँ सम्यग्दृष्टि का अर्थ आत्मदृष्टा या समत्वयोगी ही है। सम्यग्दृष्टि ज्ञाता दृष्टाभाव की अवस्था ही है। इस प्रकार

---

३३ 'एस महं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह ।
आगई गई परिन्नाय अच्चेइ जाइ मरणस्स वट्टमग्गं विक्खाइए।।' -वही ५/६ ।

३४ 'जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा
सव्वतो सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।' -वही ६/३ ।

३५ 'तम्हातिविज्जे परमं ति णच्चा सम्मत्तदंसी ण करई पावं ।' -आचारांगसूत्र ३/२ ।

३६ 'सम्मद्दिट्ठि सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तव संजमें अ ।
तवसा धुणई पुराण-पावगं मण-वय-काय सुसवुंडे जे स भिक्खू ।।' -दशवैकालिकसूत्र १०/७ ।

सम्यग्दर्शन शब्द समत्व का पर्यायवाची ही है। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के पंचम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि वीर पुरुष इस संसार समुद्र को पार करते हैं। इसलिए उन्हें तीर्ण, मुक्त या विरत कहा जाता है।[३७] आचारांगसूत्र के इस कथन से यही सिद्ध होता है कि समत्वयोगी ही सम्यग्दृष्टि होता है और उसे ही मुक्त, विरत, तीर्ण आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि और समत्वयोगी पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

यह सत्य है कि वर्तमान में सम्यग्दर्शन का अर्थ श्रद्धा या आस्था किया जाता है; किन्तु जैनदर्शन में श्रद्धा या आस्था को ज्ञान और आचरण से पृथक् नहीं किया गया है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो समत्व का दृष्टा नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसे अप्रबुद्ध व्यक्ति की समस्त साधना अशुद्ध ही होती है। वह संसार परिभ्रमण का कारण बनती है।[३८] जैनदर्शन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और आचरण संसार परिभ्रमण के ही कारणभूत होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दर्शन की साधना और समत्वयोग की साधना अथवा जैनदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में सामायिक की साधना को ही वीतराग की साधना कहा जाय, तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि वीतराग के प्रति अनन्य निष्ठा ही सम्यग्दर्शन का मूल अर्थ है और वीतराग वही होता है, जो समत्वयोगी है और जो समत्वयोगी है वही सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन वीतरागता या समत्वयोग एक दूसरे के पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं। जैसा कि हमने पूर्व में देखा है कि सम्यग्दर्शन का एक अर्थ वीतराग या वीतराग की वाणी के प्रति अनन्य निष्ठा ही है। वीतराग और समत्व एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। वीतरागता के लिए अनासक्ति आवश्यक है और जो सांसारिक

---

[३७] 'न इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंक
समायरेहिं पमत्तेहिं गारमावसन्तेहिं ।
वीरा समत्त दंसिणो एस ओहन्तरे मुणी तिण्णे मुत्ते
विरए वियाहिए त्तिबेमि ।।' -आचारांगसूत्र ५/३ ।

[३८] सुत्रकृतांग १/८/२२ ।

विषयों में आसक्त नहीं होता, वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। किसी जैन कवि ने कहा है कि –

"सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सूं न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल।।"

यहाँ अर्थ यह है कि अन्तर में अनासक्ति या वीतराग भाव उत्पन्न होने पर ही सम्यग्दर्शन सम्भव होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन वस्तुतः वीतरागता के प्रति अनन्य निष्ठा और जीवन में उसको आत्मसात करने के प्रयत्न करने में निहित है। समत्वयोगी वीतरागता का उपासक होता है और वीतरागता के उपासक को ही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन शब्द वीतरागता या समत्व (समभाव) के प्रति अनन्य निष्ठा का ही वाचक है। सन्त आनन्दघनजी ने भी सम्यग्दर्शन के महत्त्व एवं लक्षण को प्रतिपादित किया है :

"भाव अविशुद्ध जु, कह्या जिनवर देव रे।
ते अविता सद्दहे, प्रथम ए शान्ति पद सेव रे।।"[३९]

परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर उन पर पूर्ण श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है और यही आत्मशान्ति का प्रथम सोपान है। सन्त आनन्दघनजी ने भी उपरोक्त पंक्तियों में इसी बात पर बल दिया है। श्रद्धा के बिना साधक साधना में प्रवेश नहीं कर सकता। श्रद्धा के भी दो रूप होते हैं। एक है – अन्धश्रद्धा और दूसरी है सम्यक्श्रद्धा। गीता में श्रद्धा के तीन रूप बताये गये हैं – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक श्रद्धा।[४०] सन्त आनन्दघनजी ने भी सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में श्रद्धा के स्थान पर शुद्ध श्रद्धान की चर्चा की है।[४१] आचार्य समन्तभद्र ने भी सुश्रद्धा शब्द प्रयुक्त किया है।[४२] जो श्रद्धा ज्ञानपूर्वक ही होती है वही सम्यक् श्रद्धा है और उसे ही सम्यग्दर्शन कहा है।

---

३९ देखे आनन्दघन ग्रन्थावली, 'शान्तिजिन स्तवन'।
४० भगवद्गीता १६/२।
४१ देखें आनन्दघन ग्रंथावली, 'अनन्तजिन स्तवन'।
४२ 'सुश्रद्धा ममते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते।' -स्तुतिविद्या ११४।

२.२ सम्यग्ज्ञान क्या, क्यों और कैसे

हमने प्रारम्भ में ही यह संकेत दिया है कि जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र व्यवहार दृष्टि से ही एक दूसरे से अलग-अलग माने गये हैं। निश्चय में तो ये एक दूसरे से असंपृक्त नहीं हैं। आचारांगचूर्णि में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जं समत्तं तत्थ नियमा नाणं, जत्थ नाणं तत्थ नियमा समत्तं।"[४३] इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान वस्तुतः एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। चूर्णिकार की दृष्टि में तो जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है, वहाँ सम्यक्त्व है। जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान ऐन्द्रिक ज्ञान या बौद्धिक ज्ञान नहीं है - वह सत्य की साक्षात् अनुभूति है। यदि सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार है, तो वह सम्यग्ज्ञान से पृथक् नहीं है। जैनदर्शन में श्रद्धा का अर्थ केवल विश्वास नहीं है। श्रद्धा अन्तर की अनुभूति से प्रकट होती है; जबकि विश्वास बाह्य तथ्यों पर होता है। श्रद्धा के लिए अनुभूति आवश्यक है।

पूर्व में हमने इस बात की चर्चा की है कि सम्यग्दर्शन का प्राचीन अर्थ आत्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार रहा है। अनुभूति के बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन तत्वतः एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। अनुभूति के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना अनुभूति सम्भव नहीं है। जहाँ अनुभूति है, वहाँ ज्ञान है और जहाँ ज्ञान है वहाँ अनुभूति है। अतः निश्चय में तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। पुनः ज्ञान और दर्शन भी आत्मा पर आधारित हैं। आत्मा के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना आत्मा का कोई अर्थ नहीं है। जो आत्मा है वह नियमतः ज्ञानमय है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि "जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है।"[४४] फिर भी जैनदर्शन में जो ज्ञान और दर्शन का भेद किया जाता है; वह भेद वस्तुतः सामान्य और विशेष ज्ञान की दृष्टि से किया जाता है। सामान्य का बोध या अनुभूति दर्शन है और इस अनुभूति के

---

४३ आचारांगचूर्णि ५/३।

४४ 'जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया।' -आचारांगसूत्र १/१/५/१०४।

आधार पर जो विशेष बोध होता है, वही ज्ञान कहलाता है। इसी आधार पर जैन धर्म में दर्शन को अनाकार और ज्ञान को साकार कहा जाता है।[४५] जैनधर्म में दर्शन निर्विकल्प या शुद्ध अनुभूति है और जिज्ञासा के परिणामस्वरूप उस अनुभूति के सम्बन्ध में जो विकल्प रूप विशेष बोध होता है, वह ज्ञान कहलाता है। यदि ज्ञान और दर्शन में अन्तर करना हो, तो हम इस आधार पर कर सकते हैं कि दर्शन चिन्तन रहित मात्र अनुभूति है और ज्ञान चिन्तन या विमर्श से युक्त अनुभूति है। ज्ञान का जन्म भी अनुभूति से ही होता है, किन्तु जब हम किसी अनुभूति को विस्तार से जानने का प्रयत्न करते हैं तो वही अनुभूति ज्ञान में बदल जाती है। अतः ज्ञान अनुभूति या दर्शन से पृथक् नहीं हैं। वह दर्शन का ही एक अग्रिम चरण है - वह भी आत्मा का स्वभाव ही है। किन्तु जैनदर्शन में जिस ज्ञान को मोक्षमार्ग का अंग माना गया है, वह ज्ञान वस्तु या पदार्थ का ज्ञान नहीं है। वह तो आत्मा का ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध पदार्थगत ज्ञान की अपेक्षा आत्मिक ज्ञान से अधिक है। जो ज्ञान हमें आत्मबोध या आत्मानुभूति की दिशा में नहीं ले जाता, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। साधना की दृष्टि से तो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान माना गया है, जिसके द्वारा हमें आत्मतत्त्व के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति होती है।

जैनदर्शन में जीवादि नवतत्त्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा गया है। किन्तु यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि आत्मा की दो अवस्थाएँ हैं। एक स्वभाव अवस्था और दूसरी विभाव अवस्था। सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध स्वभाव को स्वभावरूप में और विभाव को विभाव के रूप में जानना है। यदि व्यक्ति आत्मा की विभाव दशा को ही स्वभावदशा मानले, तो उसका ज्ञान मिथ्या हो जाता है। यही कारण है कि जैनदर्शन में मात्र ज्ञान को मोक्षमार्ग नहीं कहा गया है; अपितु सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग कहा गया है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का पूर्वापरत्व :

जैन ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के पूर्वापरत्व को

---

[४५] तत्त्वार्थसूत्र २/६ की टीका।

लेकर विभिन्न प्रकार के सन्दर्भ उत्पन्न होते हैं। कहीं सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान के पहले स्थान दिया गया है; तो कहीं सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन के पहले स्थान दिया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने त्रिविध साधनामार्ग की चर्चा करते हुए पहले सम्यग्दर्शन को और फिर सम्यग्ज्ञान को स्थान दिया है।[४६] उत्तराध्ययनसूत्र के अन्दर पहले सम्यग्ज्ञान और फिर उसके बाद सम्यग्दर्शन को स्थान दिया है।[४७] अतः एक विवादात्मक स्थिति उत्पन्न होती है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में किसे प्राथमिक माना जाये। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाये, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विचार के मूल में तथ्य यह है कि जहाँ श्रद्धावादी दृष्टिकोण से सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है, वहीं ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है।"

वस्तुतः इस सम्बन्ध में कोई भी एकांगी निर्णय लेना कठिन है। यदि ज्ञान और दर्शन परस्पर सापेक्ष हैं और आत्मतत्त्व की अपेक्षा से उनमें तादात्म्य भी है, तो फिर इस सम्बन्ध में कोई भी एकांगी निर्णय उचित नहीं होगा। वस्तुतः यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम दर्शन शब्द का क्या अर्थ लेते हैं। इस सम्बन्ध में पुनः डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि हम अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरुरी है। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं -- यथार्थ दृष्टिकोण और श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोण परक अर्थ लेते हैं, तो हमें साधना मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए; क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है - अयथार्थ है, तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हों, तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते। वह तो संयोगिक प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और

---

४६ 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' -तत्त्वार्थसूत्र १/१ ।

४७ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३० ।

उसका आचरण करेगा। दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं, तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के पश्चात् ही उत्पन्न हो सकती है।[४८] उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।[४९] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है - उसमें जो स्थायित्व होता है, वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञान के अभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं, वरन् अन्धश्रद्धा ही हो सकती है। जिनप्रणित तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना और आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञान प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें और तर्क से तत्त्व का विवेचन करें।[५०] उनके उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम दर्शन शब्द का अर्थ अनुभूति या दृष्टि करते हैं, तो हमें सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान के पूर्व स्वीकार करना होगा; क्योंकि अनुभूति या दृष्टि के सम्यक् हुए बिना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता। किन्तु यदि हम दर्शन का अर्थ श्रद्धा करते हैं, तो हमें उसे सम्यग्ज्ञान के बाद ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि ज्ञान के सम्यक् हुए बिना श्रद्धा सम्यक् नहीं हो सकती। ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धश्रद्धा से अधिक नहीं होती और जैनदर्शन कहीं भी अन्धश्रद्धा को स्थान नहीं देता है। इसलिए सम्यग्दर्शन शब्द अपने श्रद्धापरक अर्थ में सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही माना गया है। जहाँ तक सम्यग्ज्ञान के विषय का प्रश्न है, जैन दार्शनिक ग्रन्थों में सदैव ही जीवादि नवतत्त्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान का विषय माना गया है। किन्तु इन तत्त्वों का ज्ञान ही वस्तुतः आत्मसापेक्ष है।

---

४८ 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २४। -डॉ सागरमल जैन।

४९ उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५।

५० उत्तराध्ययनसूत्र २३/२५।

अतः सम्यग्ज्ञान का प्राथमिक और मूल अर्थ तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध और आत्म-अनात्म विवेक ही है।[५१] आगे हम इस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

२.२.१ सम्यग्ज्ञान (आत्म-अनात्म विवेक) :

जैनदर्शन में त्रिविध साधना मार्ग का दूसरा अंग सम्यग्ज्ञान माना गया है। सम्यग्ज्ञान का सामान्य अर्थ जीवन और जगत् के यर्थाथ स्वरूप को जानना है। इसी आधार पर सम्यग्ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहा जाता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार जीवादि नवतत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का बोध ही सम्यग्ज्ञान है।[५२] यहाँ हमारा मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि सम्यग्ज्ञान का समत्वयोग की साधना के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है। सामान्यतः व्यक्ति के जीवन में जो दुःख और तनाव उत्पन्न होते हैं, उनका मूल कारण वस्तु के सम्यक् स्वरूप के ज्ञान का अभाव है। जब तक व्यक्ति पर-पदार्थों को अपना मानकर उनमें आसक्त बना रहता है, उनके प्रति ममत्व बुद्धि रखता है, तब तक वह दुःख और तनाव से मुक्त नहीं हो सकता। मनुष्य के दुःख और तनावों का मूल कारण 'पर' या 'अनात्म' में आत्म बुद्धि का आरोपण है। इसलिए साधना के क्षेत्र में आत्म-अनात्म का विवेक आवश्यक माना गया है। जैनदर्शन में इसे भेदविज्ञान के नाम से जाना जाता है। भेदविज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। व्यक्ति जब तक स्व-स्वरूप का बोध नहीं करता, तब तक वह पर-पदार्थों में आसक्त बना रहता है। यह आसक्ति ही समत्वयोग की साधना में सबसे बाधक तत्त्व है। इस आसक्ति या राग भाव को समाप्त करने के लिए आत्म-अनात्म का विवेक आवश्यक है। इस प्रकार आत्म-अनात्म का विवेक या सम्यग्ज्ञान या भेदविज्ञान समत्वयोग की साधना का एक आवश्यक उपकरण है। जब तक हमें स्व-पर या आत्म-अनात्म का सम्यक् बोध नहीं होगा, तब तक हमारी आसक्ति नहीं टूटेगी और जब तक आसक्ति नहीं टूटेगी तब तक समत्वयोग की साधना सफल नहीं होगी।

---

५१ नवतत्त्व प्रकरण - उद्धृत आत्मसाधना संग्रह पृ. १५१।

५२ वही।

इससे यह फलित होता है कि समत्वयोग की साधना के लिए सम्यग्ज्ञान आवश्यक है।

भारतीय दार्शनिकों का मानना है कि आत्म-अनात्म का विवेक या स्व-पर का बोध साधना के राजमार्ग पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। दशवैकालिकसूत्र में आर्य शय्यम्भव लिखते हैं कि जो आत्म या अनात्म के यथार्थ स्वरूप को जानता है, ऐसा ज्ञानवान साधक साधना या संयम के स्वरूप को भी भलीभाँति जानता है। वह बन्धन और मुक्ति के यथार्थ स्वरूप को जानकर सांसारिक भोगों में निःसारता समझ लेता है। फलस्वरूप उससे विरक्त हो जाता है और विरक्त होकर वह स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है। उसकी बहिर्मुखता समाप्त हो जाती है और इस प्रकार वह इच्छाओं और आकांक्षाओं से मुक्त होकर समत्व या समभाव में स्थिर रहता है।[५३] समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य वीतराग दशा को प्राप्त होना है और यह वीतराग दशा आत्म-अनात्म के विवेक के बिना सम्भव नहीं होती। इससे भी यही फलित होता है कि समत्वयोग की साधना सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं है। सामान्यतः ज्ञान के तीन स्तर माने गये हैं - इन्द्रियजन्य ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान। साधना की दृष्टि से इन्द्रियजन्य ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा हमारा सम्बन्ध बाह्य जगत् से जुड़ता है और उसके परिणामस्वरूप अनुकूल पदार्थों के प्रति राग और प्रतिकूल पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। राग-द्वेष के कारण चैतसिक समत्व भंग होता है। अतः साधना की दृष्टि से इन्द्रियजन्य ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया गया है। क्योंकि इसके कारण चित्त के विचलन या विभाव परिणति ही होती है। बौद्धिक ज्ञान भी चिन्तनजन्य है और चिन्तन भी कहीं न कहीं हमारे चैतसिक समत्व को भंग करता है। साधना का मुख्य लक्ष्य तो विचार-विकल्पों से ऊपर उठकर निर्विकल्पता को प्राप्त करना है। बौद्धिक ज्ञान हमें निर्विकल्पदशा को प्राप्त कराने में अधिक सहायक नहीं है। उससे आत्मानुभूति सम्भव नहीं है। वह आत्म केन्द्रित न होकर

---

[५३] दशवैकालिकसूत्र ४/१४-२७।

पर-केन्द्रित होता है। अतः समत्वयोग की साधना में जो ज्ञान सहायक है, वह तो केवल आध्यात्मिक ज्ञान है। आध्यात्मिक ज्ञान आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। इस स्थिति में चेतना निर्विकल्प दशा को प्राप्त होती है। डॉ. सागरमल जैन कहते हैं कि यह (आध्यात्मिक ज्ञान) निर्विचार या विचार शून्यता की अवस्था है। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी आत्मा ही होती है। ज्ञान की यह निर्विचार, निर्विकल्प और निराश्रित अवस्था ही ज्ञानात्मक साधना की पूर्णता है। वही केवलज्ञान और केवलदर्शन है।[५४] आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो सर्व नयों से शून्य है, वही आत्मा है और उसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन कहा जाता है।[५५] इस अवस्था में आत्मा पर-पदार्थों की ग्राहक नहीं होती है - उसमें आसक्त या मूर्च्छित नहीं होती है। वह 'स्व' में अवस्थित रहती है। इस आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन का कथन है कि "जब वासनाएं मर जाती हैं, तब मन में ऐसी शान्ति उत्पन्न होती है, जिससे आन्तरिक निःशब्दता पैदा होती है। इस निःशब्दता से अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होती है और मनुष्य वह बन जाता है, जो कि वह तत्त्वतः है।"[५६] वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान ही एक ऐसी अवस्था है, जिसमें आत्मा की समत्व में अवस्थिति होती है। अतः समत्वयोग की साधना में जिस ज्ञान की अपेक्षा रहती है, वह आत्मिक ज्ञान ही है; किन्तु ऐसा आत्मिक ज्ञान स्व-पर या आत्म-अनात्म के विवेक के बिना सम्भव नहीं है। जैनदर्शन में आत्मज्ञान की इस विधि को ही भेदविज्ञान के रूप में बताया गया है।

२.२.२ भेदविज्ञान का स्वरूप :

आचार्य अमृतचन्दसूरि का कहना है कि जो भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से हुए हैं। जो कर्म से बँधे हुए हैं; वे भी भेदविज्ञान

---

५४ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ७४। -डॉ. सागरमल जैन।

५५ समयसार गाथा १४४।

५६ भगवद्गीता (रा.) पृ. ५८।

के अभाव में ही बन्धे हुए हैं (समयसार १३०)। इस प्रकार मुक्ति के लिए भेदविज्ञान आवश्यक माना गया है। भेदविज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। इसे ही गीता में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान कहा गया है। भेदविज्ञान हमें यह बताता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है और 'पर' क्या है।[५७] बिना आत्मा को जाने पर-पदार्थों से आसक्ति समाप्त नहीं होती। आसक्ति को समाप्त करने के लिए 'स्व' को स्व के रूप में और 'पर' को पर के रूप में जानना होगा। भेदविज्ञान हमें 'स्व' और 'पर' का भेद सिखाता है। इसी 'पर' को पर के रूप में जान लेने पर उससे हमारी आसक्ति टूटती है। इसीलिए वह समत्वयोग की साधना का अपरिहार्य अंग है। जब हम 'पर' को पर के रूप में जानेंगे, तभी हमारी पर के प्रति रही हुई आसक्ति टूटेगी और जब पर के प्रति रही हुई आसक्ति टूटेगी, तभी चित्तवृत्ति समत्व में अवस्थित होगी। भेदविज्ञान में जो आत्म-अनात्म या स्व-पर का विवेक किया जाता है; उसके लिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक होता है कि आत्मा का स्वरूप क्या है और पर का स्वरूप क्या है। क्योंकि आत्मा के स्व-स्वरूप को जानकर ही 'पर' को पर के रूप में जाना जा सकता है। क्योंकि जो आत्मा नहीं है, वही पर है। इसलिए स्व-स्वरूप का बोध होने पर ही पर का बोध हो सकता है। यह भेदविज्ञान अनात्म के प्रति आत्मबुद्धि के परित्याग से ही होता है। अतः इसके लिए आत्मज्ञान या स्व-स्वरूप का बोध आवश्यक है। क्योंकि जब तक स्व-स्वरूप का बोध नहीं होगा, तब तक पर के प्रति ममत्व बुद्धि दूर नहीं होगी। जब तक पर के प्रति ममत्व बुद्धि दूर नहीं होगी, तब तक राग भाव बना रहेगा और जब तक राग भाव बना रहेगा, तब तक इच्छाएँ और आकांक्षाएँ जन्म लेती रहेंगी और जब तक इच्छाएँ-आकांक्षाएँ रहेंगी, तब तक चित्तवृत्ति में समत्व नहीं आ सकता। इसलिए समत्व की साधना में भेदविज्ञान या आत्मा-अनात्मा का विवेक आवश्यक है। इसे ही जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

भेदविज्ञान क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए डॉ. सागरमल जैन

---

[५७] समयसार टीका १३०-३१।

लिखते हैं कि आत्मतत्त्व को ज्ञाता-ज्ञेय रूप ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि आत्मा ज्ञाता है। लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है, जिसे ज्ञाता-ज्ञेय रूप ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है।[५८] सामान्य व्यक्ति भी इस साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान सकता है कि अनात्म अर्थात् उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? अनात्म स्वरूप को जानकर ही उससे विभेद स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार परोक्ष विधि के माध्यम से आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ा जा सकता है। सामान्य बुद्धि चाहे हमें यह न बता सके कि परमार्थ का स्वरूप क्या है; लेकिन वह यह तो सहज रूप से बता सकती है कि यह परमार्थ नहीं है। जो-जो भी हमारे ज्ञान का विषय है, वह सब हमसे पर है - अनात्म है, क्योंकि हम तो ज्ञाता हैं और ज्ञाता सदैव ही ज्ञेय से भिन्न होता है। ज्ञायक आत्मा को ज्ञेय पदार्थों से पृथक् करने वाले ज्ञान को ही भेदविज्ञान या आत्म-अनात्म विवेक कहा जाता है। भेदविज्ञान या आत्म-अनात्म विवेक में दो तत्त्वों को जानना होता है :

(१) आत्म क्या है; और (२) पर क्या है?

किन्तु आत्मा को जानना एक कठिन कार्य है; क्योंकि आत्मा ज्ञाता है, जानने वाला है और जानने के हर प्रयास में जानने वाला पकड़ में नहीं आ सकता - जिस प्रकार जो आँख सब को देखती है, पर उसे स्वयं नहीं देखा जा सकता।[५९] आत्मा ज्ञाता है - उसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि ज्ञाता जिसे भी जानता है, वह ज्ञान का विषय होता है और वह ज्ञाता से भिन्न होता है। इसलिए उपनिषद् के ऋषियों ने कहा कि "अरे विज्ञाता को कैसे जाना जाए; जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है, उसे कैसे जाना जाए?"[६०] इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मज्ञान एक कठिन समस्या है। आत्मा का ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा के ज्ञान में यदि ज्ञाता

---

५८ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ७७। -डॉ. सागरमल जैन।

५९ केनोपनिषद् १/४।

६० बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१४।

और ज्ञेय का भेद रहेगा, तो आत्मा सदैव ही अज्ञेय बनी रहेगी। इसलिए आत्मज्ञान का सबसे सरल उपाय तो यही है कि हम यह जानें कि आत्मा क्या नहीं है? आत्मा क्या नहीं है, यह जानना ही भेदविज्ञान है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार नामक ग्रन्थ में किया है। वे लिखते हैं : "रूप आत्मा नहीं है; क्योंकि वह कुछ नहीं जानता। अतः रूप अन्य है और आत्मा अन्य है। वर्ण आत्मा नहीं है; क्योंकि वह कुछ नहीं जानता। अतः वर्ण अन्य और आत्मा अन्य है। गन्ध, रस, स्पर्श और कर्म आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे कुछ नहीं जानते। अध्यवसाय आत्मा नहीं है; क्योंकि अध्यवसाय कुछ नहीं जानते (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते हैं, अतः वे स्वतः कुछ नहीं जानते - क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न ही होता है)। अतः अध्यवसाय अन्य हैं और आत्मा अन्य है।"[६१] आत्मा न नारक है, न तिर्यंच है, न देव है, न बालक है, न वृद्ध है, न तरुण है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है और न लोभ है। वह इनका कारण भी नहीं है और कर्ता भी नहीं है।[६२] इस प्रकार अनात्म के धर्मों (गुणों) के चिन्तन के द्वारा आत्मा का अनात्म से पार्थक्य किया जाता है। यही प्रज्ञापूर्वक आत्म-अनात्म में किया हुआ विभेद भेदविज्ञान या समत्वयोग कहा जाता है। इसी भेदविज्ञान के द्वारा अनात्म के स्वरूप को जानकर उसमें आत्मबुद्धि का त्याग करना ही सम्यग्ज्ञान एवं समत्वयोग की साधना है।

---

६१ समयसार ३६२-४०३ ।

६२ 'णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७८ ।।
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो णकारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ७६ ।।
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८० ।।
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।। ८१ ।।' -नियमसार ।

२.३ सम्यक्चारित्र :

आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता के लिए सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ सम्यक्चारित्र या समत्वयोग की भी नितान्त आवश्यकता है। यदि हम सम्यग्दर्शन को श्रद्धा के अर्थ और सम्यग्ज्ञान को भेदविज्ञान के अर्थ में स्वीकार करतें हैं, तो साधना की पूर्णता के लिए सम्यक्चारित्र का स्थान भी स्पष्ट हो जाता है। मार्ग का ज्ञान और उस पर श्रद्धा होते हुए भी उस मार्ग पर चले बिना लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। सम्यक्चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की यात्रा में बढ़ा हुआ चरण है। जब तक साधक आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का साक्षात्कार या अनुभव न करले, तब तक परमात्मा के प्रति पूर्ण आस्था या पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। किन्तु उस श्रद्धा के साथ ज्ञान का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धी होगी। श्रद्धा जब तक ज्ञान एवं स्वानुभूति से समन्वित नहीं होती, तब तक वह श्रद्धा परिपुष्ट नहीं होती है। महाभारत में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने स्वयं के चिन्तन में ज्ञान उपलब्ध नहीं किया, वरन् केवल बहुत सी बातों को सुना ही है, वह शास्त्र को भी सम्यक् रूप से नहीं जान सकता।[६३] बिना सम्यग्ज्ञान के आचरण सम्यक् नहीं होता।

चारित्र जीवन की सबसे बड़ी निधि है। इससे ही जीवन में समभाव की साधना सफल होती है। विचार रहित आचार और आचार रहित विचार हमें वांछित परिणाम नहीं दे सकते। आचार धर्म का क्रियात्मक रूप है। परन्तु आचार भी सम्यक् विचार से अभिप्रेरित होना चाहिए। आचार और विचार की इसी अन्योन्याश्रितता के कारण ही जैन धर्म के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वय से ही मुक्ति सम्भव है। चारित्र का सच्चा स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चारित्र आत्मरमण ही है।

जैनदर्शन में मोक्षमार्ग के तीन अंगों में सम्यक्चारित्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि उसे मोक्ष का निकटतम या अन्तिम

---

६३ महाभारत २/५५/१।

कारण माना गया है। यदि हम समत्वयोग की साधना की दृष्टि से सम्यक्चारित्र पर विचार करें, तो वह समत्वयोग की साधना का ही एक रूप है। बिना सम्यक् आचरण या सम्यक्चारित्र के समत्वयोग की साधना पूर्ण नहीं होती। यह सत्य है कि साधना के क्षेत्र में श्रद्धा और ज्ञान का अपना महत्त्व है, किन्तु आचरण के सम्पुट के बिना श्रद्धा और ज्ञान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बिना आचरण सम्यक् नहीं होता और बिना सम्यक् आचरण के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। बिना मोक्ष की प्राप्ति के निर्वाण अर्थात् समस्त दुःखों का अन्त नहीं होता।[६४] इस प्रकार जैन साधना में श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ चारित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है। समत्वयोग की साधना की पूर्णता सम्यक्चारित्र में ही होती है। यदि व्यक्ति का जीवन इच्छाओं और आकाँक्षाओं से परिपूर्ण है, तो वह समत्वयोग की साधना नहीं कर पायेगा। क्योंकि इच्छाओं की उपस्थिति में चित्तवृत्तियों में विचलन (तनाव) बना रहेगा।

समत्वयोग का मुख्य लक्ष्य तो शुद्ध आत्मतत्त्व के स्वरूप में निमग्न रहना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा हमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति हो सकती है, किन्तु वह अनुभूति क्षणिक ही रहेगी; क्योंकि जब तक ज्ञान और आचरण का सम्बल प्राप्त नहीं होगा, तब तक आत्मा की शुद्ध स्वरूप में स्थायी अवस्थिति सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शन हमें उस शुद्ध आत्मतत्त्व की एक झलक दे सकता है। सम्यग्ज्ञान भेदविज्ञान के द्वारा हमें आत्म-अनात्म का विवेक सीखा सकता है। उसके माध्यम से हम यह भी जान सकते हैं कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है? दूसरे शब्दों में स्वभाव क्या है और विभाव क्या है? किन्तु उस शुद्ध स्वरूप में अवस्थिति बिना सम्यक्चारित्र के सम्भव नहीं है। समत्वयोग की साधना आत्मानुभूति और आत्मा-अनात्मा के विवेक में ही पूर्ण नहीं होती है। वह तो परमात्म या आत्मसत्ता के साथ तादात्म्य की अवस्था है। दूसरे

---

६४ 'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥' -उत्तराध्ययनसूत्र २८।

शब्दों में वह स्व-स्वभाव में अवस्थिति है। स्वभाव में अवस्थिति के बिना साधना की पूर्णता नहीं है।

यद्यपि सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि सम्यक्चारित्र के लिए सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। किन्तु दूसरी ओर से देखें, तो सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सम्भव नहीं है। जैनदर्शन में यह माना गया है कि सम्यग्दर्शन की उपलब्धि अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय होने पर ही होती है। अनन्तानुबन्धी कषायों का क्षय वस्तुतः सम्यक्चारित्र की ही एक अवस्था है। अतः सम्यक्चारित्र के बिना न तो सम्यग्दर्शन होता है और न सम्यग्ज्ञान। सम्यक्चारित्र के बिना समत्वयोग की साधना भी सम्भव नहीं है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "ज्ञान तो दिशानिर्देश करता है, साक्षात्कार तो स्वयं करना होता है। साक्षात्कार की यही प्रक्रिया आचरण या चारित्र है।" आत्मतत्त्व द्वारा जिसका साक्षात्कार किया जाना है, वह तो हमारे भीतर सदैव ही उपस्थित है, फिर भी हम उसके साक्षात्कार या अनुभूति से वंचित रहते हैं; क्योंकि हमारी चेतना कषायों से कलुषित बनी हुई है। जिस प्रकार मलिन, गंदले एवं अस्थिर जल में कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता, उसी प्रकार वासनाओं, कषायों और राग-द्वेष की प्रवृत्तियों से मलिन एवं इच्छाओं और आकांक्षाओं से अस्थिर बनी हुई चेतना में परमार्थ (आत्मतत्त्व) प्रतिबिम्बित नहीं होता। साधना या आचरण सत्य के लिए नहीं, वरन् वासनाओं एवं राग-द्वेष की वृत्तियों से जनित इस मलिनता या अस्थिरता को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। जब वासनाओं की मलिनता समाप्त होती है और राग-द्वेष के प्रहाण से चित्त स्थिर हो जाता है, तब सत्य प्रतिबिम्बित हो जाता है और साधक को परम शान्ति, निर्वाण या ब्रह्मभाव का लाभ हो जाता है। हम वे हो जाते हैं, जो तत्त्वतः हम हैं।[६५] वस्तुतः आत्मा या चित्त की जो अशुद्धता या मलिनता है, वह बाह्य कारणों से है। जिस प्रकार पानी अग्नि के संयोग से अपनी शीतलता के स्वभाव को छोड़कर उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी बाह्य पदार्थों से उत्पन्न आसक्ति या रागादि भाव के कारण अशुद्ध

---

६५ 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ८५।
-डॉ. सागरमल जैन।

बन जाती है। सम्यक्चारित्र का काम आत्म विशुद्धि है - दूसरे शब्दों में कहें तो राग-द्वेष और कषायजन्य तनावों को समाप्त करना है। हमारे कषाय और राग-द्वेष कैसे समाप्त हों, उसकी साधना ही समत्वयोग की साधना है। इस प्रकार सम्यक्चारित्र की साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना है। वह राग-द्वेष और कषायों को समाप्त करने की प्रक्रिया है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं कि चारित्र ही वास्तव में धर्म है और जो धर्म है, वह समत्व है और आत्मा की मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध अवस्था ही समत्व है।[६६] इस प्रकार समत्वयोग और सम्यक्चारित्र एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। पंचास्तिकायसार में वे इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "समभाव ही चारित्र है।"[६७] पूर्व में हमने यह बताया है कि समत्वयोग की साधना सामायिक की साधना है। जैनदर्शन में चारित्र की चर्चा करते हुए उसके पांच प्रकारों में प्रथम प्रकार सामायिक चारित्र ही बताया है। इस दृष्टि से भी समत्वयोग और सम्यक्चारित्र एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत नहीं होते हैं। सम्यक्चारित्र समत्वयोग का व्यावहारिक पक्ष है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "चारित्र का सच्चा स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चेतना में जब राग-द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है, तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है।"[६८] जैनदर्शन में चारित्र के दो रूप कहे गये हैं :

१. निश्चयचारित्र और २. व्यवहारचारित्र।

निश्चयचारित्र राग-द्वेष, कषाय, विषय-वासना, आलस्य और प्रमाद रहित होकर आत्मतत्त्व में रमण करना है; जबकि व्यवहारचारित्र पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पंचसमिति आदि आचरण के बाह्य पक्षों का परिपालन करना है। वस्तुतः बिना निश्चयचारित्र के व्यवहारचारित्र सफल नहीं हो सकता। जैनदर्शन में सम्यक्चारित्र

---

६६ प्रवचनसार १/७।

६७ पंचास्तिकायसार १०७।

६८ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ८५। डॉ. सागरमल जैन।

का कार्य वस्तुतः आत्मा को अपने स्व-स्वरूप अर्थात् समत्व में स्थापित करना है।

२.३.१ सम्यक्चारित्र की साधना - समत्वयोग की आधारभूमि

जैन दृष्टि से साधनामय जीवन का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है और पूर्णता पूर्ण चारित्र्य की शैलेषी अवस्था में होती है। साधनात्मक जीवन के दो अंग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ और मुनि जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यदि गृहस्थ और मुनि के साधनात्मक जीवन के सम्बन्ध में कोई अन्तर है, तो वह चारित्र के परिपालन का ही है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की साधना तो दोनों को समान रूप से ही करनी होती है, किन्तु अपनी वैयक्तिक क्षमता की भिन्नता के आधार पर सम्यक्चारित्र के परिपालन में अन्तर होता है।[६९]

जैन साधना में धर्म के दो रूप माने गये हैं :

१. श्रुतधर्म और २. चारित्रधर्म।[७०]

गृहस्थ उपासक एवं मुनि दोनों के लिए जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष - इन नव तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्चा इसके प्रमुख अंग हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया हैं कि जो मुनि जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता, वह संयम का परिपालन कैसे करेगा।[७१] इसी प्रकार मूल आगमों में 'जीवाजीव का ज्ञाता', यह श्रावक का विशेषण है।[७२] जयन्ती जैसी श्राविका भगवान

---

६९ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २५७। - डॉ. सागरमल जैन।

७० स्थानांगसूत्र २/१।

७१ 'जो जीवे वि न याणति, अजीवे वि न याणति।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ॥३५॥ -दशवैकालिकसूत्र ४।

७२ उपासकदशा। -देखें 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २५८। -डॉ. सागरमल जैन।

महावीर से तत्त्वचर्चा करती थी।[७३] इसका अर्थ है कि जैन परम्परा में तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना श्रावक एवं मुनि दोनों का कर्त्तव्य था। जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानकर उन पर श्रद्धा रखना, यह मुनि एवं गृहस्थ उपासक दोनों की ही श्रुतधर्म की साधना है। इसका विस्तृत विवेचन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ में हुआ है। अतः यहाँ इस पर अधिक चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

चारित्र के द्विविध भेद :

स्थानांगसूत्र में दो प्रकार के चारित्रधर्म का विवरण किया गया है :- १. अनगार धर्म; और २. सागार धर्म।[७४]

जैन और बौद्ध परम्परा में अनगार धर्म को श्रमण धर्म या मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म को उपासक धर्म या सागार धर्म के नामों से भी अभिहित किया गया है। आगार शब्द गृह या आवास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है - पारिवारिक जीवन। अतः जिस धर्म का परिपालन पारिवारिक जीवन में रहकर किया जा सके, उसे सागार धर्म कहा जाता है।[७५] 'आगार' शब्द जैन परम्परा में छूट, सुविधा या अपवाद के अर्थ में भी रुढ़ हुआ है।[७६] जैन विचारणा में गृहस्थ धर्म को देशविरति चारित्र या विकल चारित्र और श्रमण धर्म को सर्वविरति चारित्र या सकल चारित्र कहा गया है। जिस साधना में अहिंसादि व्रतों की साधना पूर्णरूपेण हो, वह सर्वविरति या सकल चारित्र है। गृहस्थ पारिवारिक जीवन के कारण अहिंसादि व्रतों की पूर्ण साधना नहीं कर पाता है। अतः उसकी साधना को देशचारित्र, अंशचारित्र या विकलचारित्र कहते हैं। समत्वयोग की साधना की दृष्टि से विचार करें, तो मुनि विराग और वीतरागता का जीवन जीता है। वह समत्वयोग की पूर्ण साधना करता है। किन्तु गृहस्थ पूर्णतः विराग या वीतरागता का जीवन नहीं जी पाता है। अतः वह समत्वयोग

---

७३ भगवतीसूत्र ।

७४ स्थानागसूत्र २/१ ।

७५ अभिधानराजेन्द्रकोश खण्ड २ पृ. १०६ ।

७६ अभिधानराजेन्द्रकोश खण्ड २ पृ. १०४ ।

की आँशिक साधना करता है।

जैनागमों में गृहस्थ साधक के लिए श्रावक शब्द का प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन ने विस्तार से चर्चा की है। यहाँ हम उसे आँशिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं :

"श्रावक शब्द का प्राकृत रूप 'सावय' है, जिसका एक अर्थ बालक या शिशु भी होता है अर्थात् जो साधना के क्षेत्र में अभी बालक है, प्राथमिक अवस्था में है, वह श्रावक है। भाषा शास्त्रीय विवेचना में श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहले अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ है 'सुनना' अर्थात् शास्त्र या उपदेशों को श्रवण करने वाला वर्ग श्रावक कहा जाता है। दूसरे अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति 'श्रा पाके' से बतायी जाती है; जिसके आधार पर इसका संस्कृत रूप श्रापक बनता है – उसका प्राकृत में सावय हो सकता है। श्रापक का अर्थ है – जो भोजन पकाता है। गृहस्थ भोजन के पचन, पाचन आदि क्रियाओं को करते हुए धर्म साधना करता है। अतः वह 'श्रावक' कहा जाता है। जैन परम्परा में श्रावक शब्द में प्रयुक्त तीन अक्षरों की विवेचना इस प्रकार भी की जाती है :

श्र = श्रद्धा; व = विवेक और क = क्रिया।

अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक विवेकयुक्त आचरण या समत्वयोग की साधना करता है वह श्रावक है।"[७७]

जैनधर्म में गृहस्थ-साधना का स्थान :

इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि श्रमण साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन में रहकर की जाने वाली साधना निम्न स्तरीय है। तथापि वैयक्तिक दृष्टि से कुछ गृहस्थ साधकों को कुछ श्रमण साधकों की अपेक्षा साधना पथ में श्रेष्ठ माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि कुछ गृहस्थ भी श्रमणों की

---

[७७] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २५८। -डॉ. सागरमल जैन।

अपेक्षा संयम (साधनामय जीवन) के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं।[७८] उत्तराध्ययनसूत्र में यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि गृहस्थ जीवन में रहकर भी निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।[७९] श्वेताम्बर कथा साहित्य में भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी के गृहस्थ जीवन से सीधे मोक्ष प्राप्त करने तथा भरत द्वारा श्रृंगार-भवन में ही कैवल्य (आध्यात्मिक पूर्णता) प्राप्त कर लेने की घटनाएं भी यही बताती हैं कि गृहस्थ जीवन से सीधे भी साधना के अन्तिम आदर्श की उपलब्धि सम्भव है।[८०] दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से गृहस्थ की मुक्ति का निषेध करती है। उसके अनुसार गृहस्थ मुनि धर्म को स्वीकार करके ही उस भव या भवान्तर में मुक्त हो सकता है। साधना की कोटि की दृष्टि से गृहस्थ उपासक की भूमिका वीरताविरत की मानी गई है। उसमें आंशिक रूप से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों है। लेकिन जैन साधना में आंशिक निवृत्तिमय प्रवृत्ति का यह जीवन भी सम्यक् है और मोक्ष की ओर ले जाने वाला माना गया है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि सभी पाप चरणों से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरति व अविरति है। परन्तु यह आरम्भ नो-आरम्भ (अल्प आरम्भ) का स्थान भी आर्य है तथा समस्त दुःखों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं साधु है।[८१]

श्रमण और गृहस्थ जीवन की साधना में अन्तर :

पूर्व में हमने गृहस्थ और श्रमण जीवन की साधना के अन्तर का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया था। अब यहाँ पर उसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्यग्दर्शन की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण की साधना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जहाँ तक सम्यग्ज्ञान की साधना का प्रश्न है, साधकों में ज्ञानात्मक योग्यता का अन्तर हो सकता है। लेकिन यह अन्तर भी गृहस्थ और श्रमण

---

७८ उत्तराध्ययनसूत्र ५/२० ।

७९ वही ३६/४९ ।

८० 'इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सालिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ।। ४९ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३६ ।

८१ सूत्रकृतांगसूत्र २/२/३६ ।

के वर्गीकरण का आधार नहीं है। गृहस्थ और श्रमण साधक के विभेद का प्रमुख आधार सम्यक्चारित्र है। गृहस्थ साधक भी मानसिक दृष्टि से प्रशस्त भावनावाला हो सकता है। लेकिन परिस्थितियों के वश उसका पूर्णरूप से पालन नहीं कर पाता है। वह उसका आंशिक रूप से ही पालन करता है। यही उसका श्रमण साधक से अन्तर है। गृहस्थ उपासक और श्रमण साधक की साधना में महत्त्वपूर्ण अन्तर तो उनकी अणुव्रतों एवं महाव्रतों की साधना को लेकर हैं। जैसे, श्रमण त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा का परित्याग करता है; जबकि गृहस्थ मात्र संकल्प युक्त त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। श्रमण पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है; जबकि गृहस्थ साधक स्व-पत्नी सन्तोष का व्रत लेता है। श्रमण समग्र परिग्रह का त्याग करता है; जबकि गृहस्थ परिग्रह की सीमा निश्चित करता है। गृहस्थ और श्रमण – दोनों ही अहिंसा के विचार में पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी गृहस्थ साधक सुरक्षात्मक और औद्योगिक हिंसा के कुछ रूपों से नहीं बच पाता है; जबकि श्रमण साधक उसका पूर्णरूपेण पालन करता है।

इसी प्रकार गृहस्थ और श्रमण की साधना के अन्तर का मुख्य आधार व्रतों के आंशिक या पूर्ण परिपालन से है। साधना की मूलात्मा या साधना की आन्तरिक दृष्टि से दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। साधना के आदर्शों को जीवन में क्रियान्वित कर पाने में ही गृहस्थ और श्रमण साधना में अन्तर माना जा सकता है।

गृहस्थ धर्म की विवेचन शैली :

जैन परम्परा में श्रावक-धर्म या उपासक-धर्म का प्रतिपादन तीन विभिन्न शैलियों में हुआ है। उपासकदशांगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डक श्रावकाचार में श्रद्धा (सम्यक्त्व) ग्रहण, व्रत ग्रहण और समाधिमरण (मरणान्तिक अनशन) के रूप में श्रावक धर्म का प्रतिपादन है। दशाश्रुतस्कंध, आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्रप्राभृत, कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा वसुनन्दीश्रावकाचार में दर्शन-प्रतिमादि ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में क्रमशः श्रावक धर्म का प्रतिपादन है एवं श्रावक धर्म की उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाओं को दिखाया गया

है।[६२]

वास्तविकता यह है कि इन विवेचन शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी विषय वस्तु समान ही है। अन्तर विवेचन शैली में है। वस्तुतः ये एक-दूसरे की पूरक हैं।

गृहस्थ साधकों के दो प्रकार :

सभी गृहस्थ उपासक साधना की दृष्टि से समान नहीं होते हैं। उनमें श्रेणी भेद होता है। गुणस्थान-सिद्धान्त के अनुसार गृहस्थ उपासकों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है :

१. अविरत (अव्रती) सम्यग्दृष्टि और
२. देशविरत (देशव्रती) सम्यग्दृष्टि।

अविरत सम्यग्दृष्टि उपासक वे हैं, जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की साधना में पूर्ण निष्ठा रखते हैं, किन्तु आत्मानुशासन या संयम की कमी के कारण वे सम्यक्चारित्र की साधना में आगे नहीं बढ़ पाते। उनकी श्रद्धा और ज्ञान यथार्थ होता है, लेकिन आचरण सम्यक् नहीं होता। वासनाएँ बुरी हैं, यह जानते हुए और मानते हुए भी वे अपनी वासनाओं पर अंकुश लगाने में असमर्थता अनुभव करते हैं। मगधाधिपति श्रेणिक आदि को इसी वर्ग का उपासक माना गया है।

देशविरत सम्यग्दृष्टि वे गृहस्थ उपासक कहलाते हैं, जो यथार्थ श्रद्धा के साथ-साथ यथाशक्ति सम्यक् आचरण के मार्ग में आगे बढ़ कर अपनी वासनाओं पर अंकुश लगाते हैं। अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालन करनेवाला उपासक ही देशव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आनन्द आदि गृहस्थ उपासक इसी वर्ग में आते हैं।

पण्डित आशाधरजी ने अपने गृहस्थ सागरधर्मामृत में गृहस्थ उपासकों के तीन भेद किये हैं :[६३]

१. पाक्षिक; २. नैष्ठिक; और ३. साधक।

---

[६२] देखें 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २६४। -डॉ. सागरमल जैन।

[६३] देखें 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २६५। -डॉ. सागरमल जैन।

जैनधर्म में प्रत्येक जाति एवं वर्ग के गृहस्थ के लिए साधना में प्रविष्टि का मार्ग खुला है। साधक जीवन साधना के प्रथम चरण में देव, गुरू और धर्म के स्वरूप को स्वीकार करता है। वह मानता है कि "अर्हत् मेरे देव हैं; निर्ग्रन्थ श्रमण मेरे गुरू हैं और वीतराग प्रणीत धर्म मेरा धर्म है।"[८४] वस्तुतः साधना का लक्ष्य वीतरागता या समत्व की उपलब्धि है। अतः समत्व से युक्त वीतराग परमात्मा की साधना के आदर्श (देव) हो सकते हैं। समत्व की साधना में निरत साधक ही गुरू पद के अधिकारी हैं और समत्व या समभाव की साधना ही धर्म है।

देव, गुरू एवं धर्म के प्रति सम्यक् आस्था से वह साधना के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यह पाक्षिक श्रावक का लक्षण है। उसके पश्चात् वह अपने जीवन में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों के पालन का प्रयत्न करता है। यह नैष्ठिक साधक की अवस्था है। इसमें वह श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत स्वीकार करता है। जीवन के अन्त में सल्लेखना या समाधिमरण को स्वीकार करने वाला साधक श्रावक है। सागारधर्मामृत के अनुसार पक्ष, चर्या और साधकता – ये तीन प्रवृतियाँ श्रावक की कही गई हैं। पक्ष का धारक तो पाक्षिक श्रावक कहलाता है। चर्या का धारक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और साधकता का धारक साधक श्रावक कहलाता है।

पाक्षिक – मार्ग में त्रस हिंसा के त्यागी श्रावक को 'पक्ष' कहा गया है। धर्म, देवता, मन्त्र, औषधि, आहार और अन्य भोग के लिए वध नहीं करूं, ऐसा पक्ष जिसका होता है, वह पाक्षिक है। वह असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों से भी विरक्त रहता है।

नैष्ठिक – जब तक संयम ग्रहण नहीं करता है तब तक ग्यारहवीं प्रतिमा तक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

साधक – जो मृत्यु से पूर्व समभाव या समत्व में एकाग्र बन जाता है, और समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है; वह साधक कहलाता है।

---

८४ आवश्यकसूत्र सम्यक्त्वपाठ।

१. अहिंसाणुव्रत : उपासकदशांगसूत्र में इस अणुव्रत का शास्त्रीय नाम 'स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत' है।[९५] गृहस्थ साधक स्थूल (त्रस) जीवों की हिंसा से विरत होता है। श्रावक का यह प्रथम व्रत है। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ने "मै यावज्जीवन मन, वचन व कर्म से स्थूल प्राणातिपात नहीं करूंगा और न दूसरों से कराऊंगा", ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की थी। श्रावक स्थूल हिंसा का पूर्णतः परित्याग करता है, किन्तु सूक्ष्म हिंसा का आंशिक रूप से त्याग करता है। श्रावक के अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए निम्न पांच अतिचार बताये गये हैं :

१. बन्धन; २. वध; ३. छविच्छेद;
४. अतिभार; और ५. अन्नपान निरोध।[९६]

२. सत्याणुव्रत : यह श्रावक का द्वितीय अणुव्रत है। इसका दूसरा नाम 'स्थूलमृषावादविरमणव्रत' है। श्रावक स्थूल असत्य से विरत होने के हेतु प्रतिज्ञा करता है कि "मैं स्थूलमृषावाद का यावत् जीवन के लिए मन, वचन और काया से परित्याग करता हूँ। न तो मैं स्वयं मृषा (असत्य) भाषण करूंगा और न अन्य से कराऊंगा।" आचार्य हेमचन्द्र ने स्थूल मृषावाद या स्थूल असत्य वचन के पांच प्रकार बताये हैं - वर, कन्या, पशु एवं भूमि सम्बन्धी असत्य भाषण करना, झूठी गवाही देना तथा झूठे दस्तावेज तैयार करना श्रावक के लिए निषिद्ध कर्म हैं।[९७] उपासकदशांगसूत्र और वंदित्तुसूत्र में सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार प्रतिपादित किये गये हैं।[९८] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार इनके नाम निम्न हैं :
१. मिथ्योपदेश; २. असत्य दोषारोपण; ३. कूटलेख क्रिया;
४. न्यासापहार; और ५. मर्मभेद अर्थात् गुप्त बात प्रकट करना।[९९]

---

९५ उपासकदशागसूत्र १/१३ ।

९६ वही १/४५ ।

९७ 'कन्या-गो-भूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा ।
कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्तयन् ।।५४ ।।' -योगशास्त्र २ ।

९८ (क) उपासकदशांगसूत्र १/४६ ।
(ख) 'सहसा-रहस्स-दारे मोसुवएस्से अ कूडलेहे अ ।
बीअवयस्सइआरे पडिक्कमे राइयं सव्वं ।।१२ ।।' -वंदित्तुसूत्र ।

९९ तत्त्वार्थसूत्र ७/२१ ।

अन्यत्र निम्न पांच अतिचार भी वर्णित हैं :
१. बिना सोचे-विचारे किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना;
२. एकान्त में वार्तालाप करनेवाले पर मिथ्या दोषारोपण करना;
३. स्व-स्त्री/स्व-पुरुष की गुप्त एवं मार्मिक बात को प्रकट करना;
४. मिथ्योपदेश या झुठी सलाह देना; और
५. झुठे दस्तावेज लिखवाना।

जो श्रावक हित-मित वचन बोलता है, सब जीवों को सन्तोष उत्पन्न हो, ऐसे वचन बोलता है, जिनसे धर्म का प्रकाश हो ऐसे वचन कहता है - वही श्रावक दूसरे अणुव्रत का धारी होता है।[६०]

३. अचौर्य अणुव्रत : श्रावक के इस तीसरे अचौर्य अणुव्रत को 'स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत' भी कहा जाता है। श्रावक स्थूल चोरी से विरत होने के लिए यावज्जीवन मन, वचन, कर्म से प्रतिज्ञा करता है कि "न तो स्थूल चोरी करूंगा और न ही कराऊंगा।" उपासकदशांगसूत्र, वंदित्तुसूत्र आदि में अदत्तादान के निम्न पांच अतिचार उपलब्ध हैं :[६१]

१. चोरी का माल खरीदना;
२. चोर को चोरी के लिए प्रोत्साहित करना या उसके कार्यों में सहयोग देना;
३. राज्य विरूद्ध व्यापार आदि करना;
४. नाप-तौल में कमी करके ग्राहक को माल देना और वृद्धि करके लेना; और
५. माल में मिलावट करके बेचना।

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत : श्रावक को इस चौथे ब्रह्मचर्य अणुव्रत को 'स्वदारासन्तोषव्रत' या 'स्वपति/पत्नी सन्तोषव्रत' भी कहा जाता है। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ब्रह्मचर्य अणुव्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार करता है कि "मैं स्वपत्नी सन्तोष व्रत ग्रहण करता हूँ। स्वपत्नी शिवानन्दा के अतिरिक्त सभी प्रकार के मैथुन का त्याग

---

६० 'हिद मिद वयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं ।
धम्मपयासाणवयणं अणुव्वदि होदि सो बिदिओ ।।३३४ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

६१ 'तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरूद्धगमणे अ ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे राइयं सव्वं ।।१४ ।। -वंदित्तुसूत्र ।

करता हूँ।"[६२] आवश्यकसूत्र में भी अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखकर अन्य सभी मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत कहा गया है।[६३] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार चारित्रमोहनीय का उदय होने पर राग से आक्रान्त स्त्री-पुरुष में परस्पर स्पर्श की आकांक्षा जन्य क्रिया मैथुन कहलाती है।[६४]

ब्रह्मचर्य अणुव्रत को ग्रहण करने से श्रावक श्रमण की तरह पूर्णतः काम-वासना से विरत नहीं होता, परन्तु वह संयत हो जाता है। स्व-स्त्री के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों के संसर्ग को त्याग देता है।[६५] वसुनन्दीश्रावकाचार के अनुसार जो श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व में ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह स्थूल ब्रह्मचारी कहलाता है।[६६] इस अणुव्रत में भी पांच अतिचारों से बचना आवश्यक बताया गया है।

१. इत्वरपरिगृहीतागमन; २. अपरिगृहीतागमन; ३. अनंगक्रीड़ा;
४. परविवाहकरण; और ५. कामभोगतिव्राभिलाषा।

५. अपरिग्रह अणुव्रत : श्रावक को इस ५वें 'परिग्रहपरिमाणव्रत' का पालन करना आवश्यक है। श्रावक के लिए अपरिग्रह शब्द परिग्रह के पूर्ण अभाव का सूचक न होकर सीमितता का सूचक है। श्रावक श्रमण के समान पूर्ण रूप से निष्परिग्रही नहीं हो सकता; किन्तु मर्यादा निर्धारित कर सकता है। यह कहा जाता है कि साधु कोड़ी रखे तो कोड़ी का और गृहस्थ के पास कोड़ी न हो तो कोड़ी का अर्थात् गृहस्थ जीवन में अर्थ की भी आवश्यकता होती है। पर आवश्यकता की अपेक्षा आकांक्षा अधिक होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। अतः इससे बचने के लिए गृहस्थ श्रावक को परिग्रह की सीमा निर्धारित करनी

---

६२ उपासकदशांगसूत्र १/१६ (लाडनूं पृ. ४००)।
६३ आवश्यकसूत्र (परिशिष्ट पृ. २२)।
६४ तत्त्वार्थसूत्र ७/१३ (सर्वार्थसिद्धि)।
६५ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३८/१५३।
६६ वसुनन्दी श्रावकाचार २/२।

होती है।[९७] वंदित्तुसूत्र में निम्न नौ प्रकार से परिग्रह की सीमा निर्धारित की गई है :

१. क्षेत्र – कृषि योग्य क्षेत्र (खेत) या अन्य खुला हुआ भूमि भाग;
२. वास्तु – निर्मित भवन आदि;
३. हिरण्य अर्थात् चांदी;
४. स्वर्ण अर्थात् सोना;
५. द्विपद – दास, दासी आदि नौकर;
६. चतुष्पद – गाय, बैल आदि;
७. धन–मुद्रा आदि;
८. धान्य – अनाज आदि; और
९. कुप्य–घर–गृहस्थी का अन्य सामान।[९८]

उपासकदशांगसूत्र में 'परिग्रहपरिमाणव्रत' को 'इच्छापरिमाणव्रत' भी कहा गया है।[९९]

इस प्रकार नौ प्रकार के परिग्रह का परिसीमन गृहस्थ श्रावक के लिए आवश्यक है। राग–द्वेष, कषाय आदि का त्याग एवं परिसीमन भी आवश्यक है।

तीन अणुव्रत

६. दिग्परिमाणव्रत : यह श्रावक गृहस्थ का प्रथम गुणव्रत है। दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा को निश्चित करना 'दिग्परिमाणव्रत' है।[१००] योगशास्त्र के अनुसार चार दिशा (पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण), विदिशा (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य), ऊर्ध्व दिशा एवं अधोदिशा – इन दस दिशाओं में व्यवसाय एवं भोगोपभोग के निमित्त गमनागमन की सीमा निश्चित करना

---

९७ 'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ।। ९७ ।। -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ८ ।

९८ 'धण-धन्नखित्त-वत्थू रूप्प सुवन्ने अ कुविअ परिमाणे ।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे राइयं सव्वं ।।१८ ।।' -वंदित्तुसूत्र ।

९९ उपासकदशांगसूत्र १/२८ ।

१०० 'जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं ।
उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३४२ ।

दिग्परिमाणव्रत है।[१०१]

७. उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत : योगशास्त्र एवं रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भोग एवं उपभोग शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१०२] एक बार जो पदार्थ भोगने में आता है, वह है भोग और जो पदार्थ बार-बार भोगने में आता है, वह उपभोग है। इस प्रकार आचार्य अभयदेवसूरि ने उपासकदशांगसूत्र की टीका में भी इस तरह वर्णन किया है कि जो अनेक बार उपयोग में आए, वह सामग्री उपभोग तथा जो एक बार उपयोग में आए, वह सामग्री परिभोग है।[१०३] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार भोजन, ताम्बूल आदि एक बार भोगने योग्य पदार्थों को भोग कहते है और वस्त्र, आभूषण आदि बार-बार भोगने योग्य पदार्थों को उपभोग कहते हैं। इनका परिमाण यावज्जीवन भी होता है और नित्य नियम रूप में भी होता है। यथाशक्ति इसका नियम ले सकते हैं।[१०४] इस प्रकार सातवें व्रत में प्रयुक्त उपभोग के अर्थ में भिन्नता मिलती है। अभिधानराजेन्द्रकोश एवं भगवतीसूत्र में उपभोग का अर्थ बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री से किया गया है।[१०५] आवश्यकसूत्र की वृत्ति में इसी व्रत का समर्थन किया गया है तथा धर्मसंग्रह में भी ऐसा ही अर्थ उपलब्ध होता है।[१०६]

८. अनर्थदण्ड विरमणव्रत : अनर्थ अर्थात् निरर्थक - जो क्रियाएँ जीवन-व्यवहार के लिए निष्प्रयोजन हैं, वह अनर्थदण्ड है और जो क्रियाएँ जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक हैं वह अर्थदण्ड

---

१०१ 'दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते ।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद् गुणव्रतम ।।१ ।। -योगशास्त्र ३ ।

१०२ (क) 'भोगोपभोगयोः संख्या शक्त्या यत्र विधीयते ।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ।। ४ ।।' -योगशास्त्र ३ ।
(ख) भुक्त्वा संत्यस्यते वस्तु सशेगः परिकीर्त्यते ।
उपशेगो सकृद्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः ।।३८/६८।।' -रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।

१०३ उपासकदशांगसूत्र टीका पत्र १० ।

१०४ 'जाणित्ता संपत्ती भोयणतंबोलवत्थमादिणं ।
जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३५० ।

१०५ अभिधानराजेन्द्रकोश भाग २ पृ. ८९९ ।

१०६ (क) 'जैन आचार सिद्धांत और स्वरूप' पृ. ४२० । -देवेन्द्रमुनि ।
(ख) धर्मसंग्रह ३३० ।

है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि निष्प्रयोजन पाप लगाना अनर्थ दण्ड है। वे पांच प्रकार के कहे गए हैं :

१. अपध्यान; २. पापोपदेश; ३. प्रमादचर्या;
४. हिंसाप्रदान; और ५. दुःश्रुतश्रवणादि।[१०७]

चार शिक्षाव्रत

९. सामायिकव्रत : सामायिक जैन साधना का प्रथम केन्द्र बिन्दु है – सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। श्रमण इसकी साधना जीवन पर्यन्त करता है और श्रावक नियत समय तक करता है। यह श्रावक का प्रथम शिक्षाव्रत है। सामायिक की साधना एक ओर आत्मजागृति है और दूसरी ओर समत्व का दर्शन है। समत्व की साधना अप्रमत्त चेतना में ही सम्भव है। सतत अभ्यास से ही श्रावक समत्व की साधना कर सकता है।

हमारे शोध प्रबन्ध में समत्व, सामायिक या समभाव की ही प्रमुखता रही है। हमने सामायिक या समत्व का विवेचन पूर्व में भी किया है और आगे भी करेंगे। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।[१०८] सामायिक साधना के लिए चार विशुद्धियाँ निर्धारित की गई हैं :

१. कालविशुद्धि; २. क्षेत्रविशुद्धि;
३. द्रव्यविशुद्धि; और ४. भावविशुद्धि।

इन विशुद्धियों का हमने तीसरे अध्याय में विस्तृत विवेचन किया है।

१०. देशावकाशिकव्रत : अणुव्रतों और गुणव्रतों की प्रतिज्ञा समग्र जीवन के लिए है। जबकि शिक्षाव्रतों की साधना में गृहीत परिमाण को किसी विशेष समय के लिए पुनः मर्यादित करना

---

१०७ 'कज्जं किंपि ण साहदि, णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो ।
सो खलु हवे अणत्थो पंचपयारो वि सो विविहो ।।३४३।।' –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

१०८ 'जो कुणदि काउसग्गं, वारसआवत्तसंजदो धीरो ।
णमणदुगं पि कुणतो चदुप्पणामो पसण्णप्पा ।। ३७१ ।।
चिंतंतो ससरूवं, जिणबिम्बं अहव अक्खरं परमं ।
ज्झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं ।। ३७२ ।।' –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

देशावकाशिकव्रत कहलाता है।

उपाशकदशांगसूत्र में इस व्रत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि निश्चित समय के लिए क्षेत्र की मर्यादा रखकर उससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति नहीं करना देशावकाशिक व्रत है।[१०९]

परिग्रह-परिमाण-व्रत में परिग्रह की मर्यादा, दिशा-परिमाण-व्रत में व्यवसाय के कार्यक्षेत्र का सीमांकन और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत में उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मात्रा की सीमा यावज्जीवन के लिए मर्यादित की जाती है।[११०]

वर्तमान में व्रतधारी श्रावक इस व्रत का नियमित पालन कर सकता है। वे चौदह नियम इस प्रकार है :

१. सचित्त - सचित्त वस्तु फल, शाक-सब्जी आदि सभी त्याज्य हैं; किन्तु सम्पूर्ण त्याग न कर सके, तो परिमाण निश्चित करना;
२. द्रव्य - खाने-पीने के द्रव्यों की संख्या निर्धारित करके संकल्प करना कि आज मैं इतने ही द्रव्य उपयोग करूंगा;
३. विगई - मधु, माँस, शहद और मक्खन त्यागने योग्य हैं। घी, तेल, दूध, दही, गुड़ (शक्कर) एवं तली हुई वस्तु - इन छः विगयों में से किसी एक, दो या अधिक का त्याग करना;
४. उपानह - जूते, चप्पल, मोजे आदि की संख्या मर्यादित करना;
५. तम्बोल - पान, सुपारी, इलायची आदि की संख्या का प्रमाण करना;
६. वस्त्र - वस्त्र एवं आभूषणों की संख्या मर्यादित करना;
७. कुसुम - फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की सीमा का नियम करना;
८. वाहन - स्कूटर, कार, बस, ट्रेन आदि की संख्या

---

१०९ उपासकदशांगसूत्र १/४६।

११० 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' खण्ड २ पृ.२६६। -डॉ. सागरमल जैन।

निश्चित करना;

९. शयन - पलंग, खाट, गद्दी, चटाई आदि बिछाने की संख्या निश्चित करना;

१०. विलेपन - केशर, चन्दन, तेल आदि लेप किये जाने वाले पदार्थों की संख्या मर्यादित करना;

११. ब्रह्मचर्य - ब्रह्मचर्य की मर्यादा का निर्धारण करना;

१२. दिशा - दिशाओं में गमनागमन की प्रवृत्तियों का परिमाण निश्चित करना;

१३. स्नान - स्नान तथा वस्त्र प्रक्षालन की मर्यादा रखना; और

१४. भक्त - अशन, पान, खादिम, स्वादिम - इन चारों प्रकार के आहार की सीमा निश्चित करना।[१११]

इस प्रकार इन चौदह वस्तुओं की मर्यादा का नियम लेकर श्रावक प्रतिदिन देशावकाशिक व्रत का पालन कर सकता है।

११. पौषधोपवास : पौषध + उपवास अर्थात् पर्वकाल में (अष्टमी, चतुर्दशी आदि) चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, वह पौषधोपवास है। विभाव से अलग हटकर स्व-स्वरूप में अवस्थित रहना पौषध है।[११२] इस व्रत को ग्रहण करने से गृहस्थ साधक साधु के समान बन जाता है।

१२. अतिथि संविभाग : जिसके आगमन की तिथि (समय) निश्चित न हो उसे अतिथि कहा जाता है। सामान्यतः अतिथि शब्द का अर्थ श्रमण और श्रमणी किया जाता है। किन्तु श्रावक प्रज्ञप्ति में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका - इन चारों को अतिथि कहा गया है।[११३]

---

१११ 'सचित्त-दव्व-विगइ-वाणह-तम्बोल-वत्थ-कुसुमेसु ।
वाहण-सयण-विलेवण-बंभ-दिसि-न्हाण-भत्तेषु ।।' -प्रतिक्रमणसूत्र में अतिचार से ।

११२ 'जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन'
खण्ड २ पृ. २६७ । -डॉ. सागरमल जैन ।

११३ अभिधानराजेन्दकोश भाग ७ पृ. ८१२ ।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप और समत्व की साधना

जैन परम्परा में गृहस्थ साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए सर्व प्रथम मार्गानुसारी गुणों को धारणकर तत्पश्चात् बारह व्रतों को ग्रहण करता है। इसके पश्चात् क्रमशः वह ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करता हुआ समत्व की साधना की ओर अग्रसर होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें अध्ययन में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है।[११४] इसके टीकाकार गणिवर भावविजयजी ने भी इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से किया है :[११५]

१. दर्शन प्रतिमा : साधक को अध्यात्ममार्ग या समत्व की यथार्थता का बोध होना और उस सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा होना ही दर्शन प्रतिमा है। प्रशमादि गुणों को धारण कर दुराग्रहों का सर्वथा त्याग कर निर्दोष सम्यक्त्व को स्वीकारना दर्शन प्रतिमा है।[११६] संसार, शरीर और भोगों से विरक्त सम्यग्दृष्टि दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है।[११७]

२. व्रत प्रतिमा : पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना व्रत प्रतिमा है।[११८]

३. सामायिक प्रतिमा : समत्व की साधना हेतु किये जाना

---

११४ 'उवासगाणं पडिमासु, भिक्खुणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ।। ११ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३१ ।

११५ वही ३०/१६ - देखें टीका भावविजयगणि ।

११६ उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१७ - देखें 'उत्तराध्ययनसूत्र : एक दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिपेक्ष्य में उसका महत्व' - डॉ. विनीतप्रज्ञाश्रीजी ।

११७ (क) 'पंचुम्बर सहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवेज्जेइ ।
सम्मतं-विसुद्ध-मइ सो दंसण सावओ भणिओ ।।५७ ।।' -वसुनन्दिश्रावकाचार ।
(ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३२६ ।

११८ 'पंचाणुव्वयधारी गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो ।
दिढिचितो समजुत्तो, णाणी वय सावओ होदि ।। ३३० ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

वाला प्रयास सामायिक है। सामायिक प्रतिमा से श्रावक समत्व प्राप्त करता है। मन, वचन और काया को शुद्ध करके सामायिक करने को सामायिक प्रतिमा कहते है।[११६]

४. पौषध प्रतिमा : प्रत्येक मास में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में निरतिचार पूर्ण पौषध करना पौषध प्रतिमा है।[१२०]

५. ब्रह्मचर्य प्रतिमा : ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से पालन करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह बताया गया है कि सब स्त्रियों का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।[१२१]

६. सचित्त आहार-वर्जन प्रतिमा : इस प्रतिमा में सचित्त आहार का पूर्णरूप से त्याग करना होता है।[१२२]

७. आरम्भ-त्याग प्रतिमा : समत्वी साधक आरम्भ का

---

११६ (क) 'जो कुणदि काउसग्गं, वारसआवत्तसंजदो धीरो ।
णमणदुगं पि कुणंतो, चदुप्पणामो पसण्णप्पा ।। ३७१ ।।
चिंतंतो ससरूवं, जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं ।
झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं ।। ३७२ ।।' -वही ।

(ख) वसुनन्दिश्रावकाचार २७६ ।

१२० (क) 'उत्तम-मज्झ जहण्णं तिविहं पोषहविहाणमुद्दिट्ठं ।
सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ।। २८० ।। -वसुनन्दिश्रावकाचार ।

(ख) 'चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद् भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोयारंभमाचरति ।। १०६ ।।' -रत्नकण्डक श्रावकाचार ।

१२१ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१७ ।

(ख) पंचाशक प्रकरण १० ।

(ग) 'सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी ।
मण वाया कायेण य बंभ वई सो हवे सदओ ।। ३८४ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

(घ) षट्खण्डागम में गुणस्थान विवेचन पृ. ४६० ।

१२२ (क) 'जं वज्जिज्जइ हरियं तुयं, पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तपिण्डित्ति तं ठाणं ।। २६५ ।।' -वसुनन्दिश्रावकाचार ।

(ख) 'सच्चित्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं ।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्त विरदो हवे सो दु ।। ३७६ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

(ग) 'मूलफलशाकशाखा करीकन्द प्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ।। १४१ ।।' -रत्नकण्डकश्रावकाचार ।

पूर्णतः त्याग कर देता है। वह जीव हिंसा के कारण अर्थात् नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरम्भ के कार्यों से विरक्त हो जाता है।[१२३]

८. परिग्रह-विरत प्रतिमा : समत्वी साधक परिग्रह से पूर्णरूप से विरत हो जाता है।[१२४]

९. अनुमति-विरत प्रतिमा : समत्व साधना की इस कक्षा में पहुँचने वाला साधक आदेश उपदेशों से पूर्णतः विरत हो जाता है।[१२५]

१०. उद्दिष्टभक्त-वर्जन प्रतिमा : समत्वी श्रावक अपने निमित्त बना हुआ भोजन त्याग देता है। लेकिन सिर-मुण्डन उस्तरे से कराता है।[१२६] दिगम्बर परम्परा में इसे अनुमति-त्याग प्रतिमा कहा है।

११. श्रमणभूत प्रतिमा : इस प्रतिमा को धारणकरने वाला गृहस्थ श्रमण के सदृश बन जाता है।

इस प्रकार ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत एवं ग्यारह प्रतिमाएँ गृहस्थ श्रावक के लिए समत्व की ओर अभिमुख

---

१२३ (क) 'जं किंचि गिहारंभं बहु थोवं वा सयाविवज्जेइ ।
आरम्भणियत्तमई सो अट्ठसु सावओ भणिओ ।। २९८ ।।' -वसुनन्दिश्रावकाचार ।
(ख) 'जो आरम्भ ण कुणदि अण्णं ण कारयदि णेव अणुमण्णे ।
हिंसा संतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हु ।। ३८५ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

१२४ (क) 'जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो ।
पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी ।। ३८६ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।
(ख) 'मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ।।२९९।।' -वसुनन्दिश्रावकाचार ।

१२५ (क) 'पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जमि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ।। ३०० ।।'-वसुनन्दिश्रावकाचार ।
(ख) 'अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ।।१४६।।'-रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।
(ग) 'जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थ-कज्जेसु-पाव मूलेसु ।
भवियव्वं भावंतो अणुमण-विरओ हवे सो दु ।। ३८८ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

१२६ (क) 'जो णव कोडि विसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं ।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो ।। ३९० ।।' -वही ।
(ख) 'व्रतं चैकादशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टशेजनम् ।
अर्थादीषन्मुनिस्तद्वात्रिर्जराधिपतिः पुनः ।। ५२ ।।' -रत्नकरण्डकश्रावकाचार ६ ।

होने की प्रक्रियाएँ हैं। आध्यात्मिक विकास की ये सीढ़ियाँ हैं; जिन्हें क्रमशः यथाशक्ति ग्रहण करता हुआ श्रावक साधु के समीप पहुँच जाता है।

जो इस समत्व की साधना के लिए प्राणपन से उपस्थित हैं, वे ही साधना के क्षेत्र में गुरूपद के अधिकारी हैं। क्योंकि समत्वयोग की साधना में मार्गदर्शक का स्थान वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो स्वयं उस साधना को करता है। निर्ग्रन्थ मुनि को गुरूपद का अधिकारी इसलिए माना गया है कि वे स्वयं समत्वयोग की साधना में निरत रहते हैं। निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ यह है कि जिसकी चेतना में कोई ग्रन्थी न हो। समत्वयोगी वही हो सकता है जिसने ग्रन्थियों का विमोचन कर दिया है। राग-द्वेष की ग्रन्थियों का विमोचन करनेवाला तथा इच्छा व आकांक्षाओं से ऊपर उठे हुए अपरिग्रही मुनि ही समत्वयोग की साधना में मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। अन्त में वीतराग प्रणीत मार्ग को ही धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है; क्योंकि वीतराग परमात्मा ही उस मार्ग को बताने में समर्थ होते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति तनावों और विक्षोभों से ऊपर उठकर समत्व को प्राप्त कर सकता है। जो साधक वीतराग परमात्मा को अपना आदर्श, निर्ग्रन्थ मुनि को अपना गुरू और वीतराग प्रणीत धर्म को अपना धर्म मानता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जो श्रावक बारह व्रतों व ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, वे नैष्ठिक श्रावक कहे जाते हैं। किन्तु जो गृहस्थ उपासक अपनी जीवन की संध्या में पूर्णतः निवृत्त होकर समाधि-मरण को स्वीकार करता है और आत्मभाव में रमण करता है, वह साधक श्रावक कहा जाता है। इस प्रकार गृहस्थ उपासकों में भी अपनी साधना की विशिष्टता के आधार पर विभिन्न भेद स्वीकार किये गये हैं। वस्तुतः जैनदर्शन में श्रावक जीवन की साधना का जो स्वरूप वर्णित है, वह भी समत्वयोग की साधना के हेतु ही है। उसे हमें समत्वयोग की साधना का प्रथम व व्यवहारिक रूप कह सकते हैं।

श्रमण धर्म

जैन परम्परा में श्रमण जीवन का तात्पर्य विरति है। इसमें बाह्य

रूप से समस्त पापकारी (हिंसक) प्रवृत्तियों से बचकर आन्तरिक राग-द्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना होता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं :

१. श्रमण; २. समन; और ३. शमन।

१. श्रमण – जो आत्मविकास के लिए परिश्रम (साधना) करता है, वह श्रमण है। यहाँ श्रमण शब्द को श्रम् धातु से निष्पन्न माना गया है।

२. समन – यदि समन शब्द के मूल रूप में सम् धातु मानते हैं तो उसका अर्थ होगा समत्व भाव। जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सम भाव रखता है, वह समन कहलाता है।

३. शमन – शमन शब्द का अर्थ है, अपने मन और इन्द्रियों की वृत्तियों को संयमित रखना। जो इन्हें संयमित करता है; वह शमन है।

वस्तुतः जैन परम्परा में श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्व भाव की साधना ही है। भगवान महावीर ने कहा है कि केवल मुण्डन करने से कोई श्रमण नहीं कहलाता। श्रमण वही कहलाता है, जो समत्व की साधना करता है।[१२७] अनुयोगद्वार में बताया गया है कि समत्व बुद्धि रखने वाला श्रमण है।[१२८] सूत्रकृतांगसूत्र में भी श्रमण जीवन की व्याख्या उपलब्ध है। जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता; सांसारिक कामनाओं से विमुक्त रहता है, प्राणीमात्र की हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मैथुन व परिग्रह के विकार से रहित होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्माश्रव और आत्मा के पतन के हेतु हैं, उन सब से निवृत्त रहता है; अपनी इन्द्रियों को अंकुश में रखता और शरीर के प्रति मोह-ममत्व से रहित होता है, वह श्रमण कहलाता है।[१२९]

---

१२७ 'समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ।। ३१ ।। -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५ ।

१२८ अनुयोगद्वार उपक्रमाधिकार १-३ ।

१२९ सूत्रकृतांगसूत्र १/१६/२ ।

साधक गुरू के समक्ष श्रमण संस्था में प्रविष्ट होने के हेतु सर्वप्रथम यही प्रतिज्ञा करता है कि "हे पूज्य! मैं जीवन पर्यन्त के लिए समत्वभाव को स्वीकार करता हूँ और सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का परित्याग करता हूँ। मैं मन, वचन और काया से न तो कोई अशुभ प्रवृत्ति करूंगा, न कराऊंगा और न ही करने वाले का अनुमोदन करूंगा। मेरे द्वारा पूर्व में हुई अशुभ प्रवृत्तियों की निन्दा करता हूँ - गर्हा करता हूँ।"

जैन धर्म में साधना के दो पक्ष बताये है - आन्तरिक और बाह्य। श्रमण जीवन आन्तरिक साधना की दृष्टि से समत्व की साधना है। इसके द्वारा साधक को राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना और बाह्यरूप से सावद्य प्रवृत्तियों से निवृत होना है। जब तक विचारों में समत्व नहीं आता, तब तक साधक सावद्य क्रियाओं से पूर्णतः निवृत्त नहीं हो सकता है।

जैन श्रमणों के प्रकार

जैन परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार, नियम तथा साधनात्मक योग्यता के आधार पर किया गया है। आचरण के नियमों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में साधु के दो प्रकार स्वीकार किये गए हैं - जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी मुनि सामान्यतः नग्न एवं पाणिपात्र होते हैं तथा एकाकी विहार करते हैं। जबकि स्थविरकल्पी मुनि सवस्त्र, सपात्र एवं संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थानांगसूत्र में साधनात्मक योग्यता के आधार पर श्रमणों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है :[१३०]

१. पुलाक : जो श्रमण साधना की दृष्टि से पूर्ण पवित्रता को प्राप्त नहीं हुए हैं।
२. बकुश : जिनके साधक जीवन में कषायभाव एवं आसक्ति होती है।
३. कुशील : जो साधु जीवन के प्राथमिक नियमों अर्थात् मूलगुणों का पालन करते हुए भी उत्तर गुणों का समुचित रूप से पालन नहीं करते, वे कुशील हैं। ऐसे साधक निम्न

---

१३० विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति ७ ।

श्रेणी के साधक हैं।

४. निर्ग्रन्थ : जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियाँ क्षीण हो चुकी हैं। इनके जीवन में समत्व प्रतिफलित होता है।

५. स्नातक : जिनके समग्र घाती कर्म क्षय हो चुके हैं और वीतराग अवस्था को प्राप्त हैं, वे उच्च कोटि के श्रमण हैं।[131] इनके जीवन में समत्व पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। क्योंकि जहाँ वीतरागता है, वहीं पूर्ण समत्व है।

जैन श्रमण के मूलगुण

जैन परम्परा में श्रमण जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएँ स्वीकार की गई हैं। उन्हें मूल गुणों के नाम से जाना जाता है।[132] दिगम्बर परम्परा के मूलाचारसूत्र में श्रमण के अट्ठाइस मूलगुण माने गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के सत्ताइस मूल गुण माने गये हैं।[133]

पंचमहाव्रत

पंचमहाव्रत श्रमण जीवन के मूलभूत गुणों में माने गये हैं। ये पंचमहाव्रत इस प्रकार हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पांचों व्रत गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए निहित हैं। अन्तर यह है कि गृहस्थ जीवन में उसका आंशिक रूप से पालन होता है। श्रमण जीवन में उनका पालन पूर्ण रूप से करना होता है। पंचमहाव्रत श्रमण जीवन के लिए विशेष रूप से बताये गए हैं – जबकि वे ही गृहस्थ जीवन के सन्दर्भ में अणुव्रत कहे गये हैं। श्रमण इन पांचों महाव्रतों का पालन पूर्णरूप से करता है। विशेष परिस्थितियों में ही इन नियमों के परिपालन में अपवाद मार्ग का आश्रय ले सकते हैं। सामान्यतः इन पंचमहाव्रतों का पालन

---

131 (क) स्थानांगसूत्र ५/३/४४५ ।
(ख) 'पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रंथ स्नातका निर्ग्रन्थाः ।' -तत्त्वार्थसूत्र ६/४६ ।
(ग) 'पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो वकुशो श्यबोधकः ।
कुशीलः स्तोकचारित्रो निर्ग्रन्थो ग्रन्थिहारकः ।। २१५ ।।' -रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।

132 (क) मूलाचार १/२-३;
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/४८ ।

133 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' भाग ६, पृ. २२८ ।

मन, वचन और काया तथा कृत-कारित और अनुमोदन इन नौ (३x३) कोटियों सहित करना होता है।

डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन' में इन पंचमहाव्रतों की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ हम उसी आधार पर उनका संक्षिप्त रूप से प्रस्तुतीकरण कर रहे हैं।

अहिंसा महाव्रत :

समत्वयोग के साधक श्रमण को सर्वप्रथम 'स्व' और 'पर' हिंसा से विरत होना आवश्यक होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों से आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा या हानि पहुँचाना पर-हिंसा है। समत्वयोगी को जगत् के सभी त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा से विरत होना आवश्यक है। क्योंकि जहाँ हिंसा है, वहाँ समत्वयोग (सामायिक) की साधना सम्भव नहीं है। हिंसा का विचार ही हमारी आन्तरिक समता को भंग कर देता है। हिंसा के लिए द्वेष बुद्धि अपरिहार्य है और जहाँ द्वेष है, वहाँ समता का अभाव है। अतः समत्वयोग की साधना अहिंसा की साधना है। दूसरे, हिंसा बाह्य जगत् के समत्व को भंग करती है। उससे सामाजिक शान्ति या परिवेश की शान्ति भंग होती है। अतः हिंसा का त्याग समत्वयोग की साधना का प्रथम चरण है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि भिक्षु जगत् में जितने भी प्राणी हैं उनकी हिंसा जानकर अथवा अनजान में न करे, न करावे और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करे।[१३४] जैनदर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है। वह मानता है कि दूसरे की हिंसा के विचार मात्र से, चाहे दूसरों की हिंसा हो या न भी हो, स्वयं के आत्मगुणों का घात होता है और आत्मा कर्म मल

---

१३४ (क) 'जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाण मजाणं वा, न हणे न हणावए ॥६॥ -दशवैकालिकसूत्र ६।
(ख) 'जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥ १० ॥'
- उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ८।

से मलिन होती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में हिंसा का एक नाम गुणविराधिका भी मिलता है। अहिंसा महाव्रत के परिपालन में श्रमण जीवन और गृहस्थ जीवन में मूल अन्तर इतना ही है कि गृहस्थ साधक केवल त्रस प्राणियों की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, वहाँ श्रमण साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियों की सभी प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। हिंसा के चार प्रकार बताये गये हैं :

१. आरम्भी; २. उद्योगी; ३. विरोधी; और ४. संकल्पी।

इसमें गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है और श्रमण चारों ही प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। दशवैकालिकसूत्र में अहिंसा महाव्रत का किस तरह से पालन करना उसकी संक्षिप्त रूप-रेखा मिलती है। उसमें कहा गया है कि समाधिवंत संयमी साधु तीन करण एवं तीन योग से पृथ्वी आदि सचित्त मिट्टी को नहीं छुए। सजीव पृथ्वी एवं सचित्त मिट्टी से भरे हुए आसन पर नहीं बैठे। यदि उसे बैठना हो तो अचित्त भूमि पर आसन आदि को यतना से प्रमार्जित करके बैठे। संयमी साधु सचित्त जल, वर्षा, ओले, बर्फ आदि ओस के जल का सेवन नहीं करे; किन्तु तीन उकाले का या अचित्त धोवन (पानी) को ग्रहण करे। किसी प्रकार की अग्नि को साधु उत्तेजित नहीं करे, छुए नहीं, सुलगावे नहीं और उसको बुझावे भी नहीं। इसी प्रकार साधु किसी प्रकार की हवा नहीं करे तथा गरम पानी, दूध या आहार आदि को फूंक से ठण्डा भी न करे। साधु त्रणों, वृक्षों तथा उनके फूल, फल, पत्ते आदि को तोड़े नहीं, काटे नहीं, लता कुंजों में बैठे नहीं। इसी प्रकार साधु त्रस और स्थावर प्राणियों में से किसी जीव की जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया से हिंसा न करे, न करावे और न करने वाले का अनुमोदन करे।[१२५] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में हिंसा और अहिंसा का जो विचार है, वह केवल प्राणियों की हिंसा तक ही सीमित नहीं है; अपितु पर्यावरण के सन्तुलन या समत्व पर भी बल देता है। हिंसा से बचने के

---

१२५ (क) दशवैकालिकसूत्र ८/३-१३।
(ख) मूलाचार ६१/६७।

लिए साधु को यही निर्देश दिया गया है कि वह प्रत्येक कार्य का सम्पादन करते समय सजग रहे, ताकि किसी प्रकार की हिंसा सम्भव न हो। अहिंसा महाव्रत के सम्यक् पालन के लिए पांच भावनाओं का विधान है :[१३६]

१. ईर्यासमिति : चलते फिरते या उठते बैठते समय सावधानी रखना।
२. वचनसमिति : हिंसक अथवा किसी के मन को दुःखाने वाले वचन नहीं बोलना।
३. मनसमिति : मन में हिंसक विचारों को स्थान नहीं देना।
४. एषणासमिति : अदीन होकर ऐसा निर्दोष आहार प्राप्त करने का प्रयास करना, जिससे श्रमण का जीवन गृहस्थों पर भार स्वरूप न हो।
५. निक्षेपणासमिति : साधु जीवन के पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक प्रमार्जन करके उपयोग में लेना अथवा उन्हें रखना और उठाना।

समवायांगसूत्र एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी अहिंसा व्रत की पांच भावनाओं का उल्लेख किया गया है।

अहिंसा भारतीय संस्कृति का प्राण है। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जैन श्रमण का प्रथम व्रत ही अहिंसा महाव्रत है। जैन आगमों में 'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं' शब्दों का प्रयोग मिलता है,[१३७] जिसका अर्थ हिंसा से पूर्णतः विरत होना है। यही व्याख्या उत्तराध्ययनसूत्र में भी मिलती है कि किसी भी परिस्थिति में त्रस एवं स्थावर जीवों को दुःखी न करना अहिंसा महाव्रत है।[१३८] जो हिंसा की अनुमोदना करता है, वह दुःख से मुक्त नहीं हो

---

१३६ (क) आचारांगसूत्र २/१५/१७६ ।
(ख) वही २/१५, ४४-४६ ।
(ग) समवायांगसूत्र २५/१ ।
(घ) प्रश्नव्याकरणससूत्र ६/१/१६ ।

१३७ स्थानांगसूत्र ४/१३१ ।

१३८ 'जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ।। १० ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ८ ।

सकता।[१३९] दशवैकालिकसूत्र में प्रतिपादित किया गया है कि 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो' अर्थात् अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।[१४०] शुभचन्द्राचार्य ने भी बताया है कि जिसमें मन, वचन और काया से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो, उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत) अहिंसा कहते हैं।[१४१] आगे उन्होंने बताया है कि जहाँ हिंसा होती है, वहाँ धर्म लेशमात्र नहीं रहता।[१४२] हिंसा दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिंसा ही घोर नरक और महाअन्धकार है।[१४३] 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् मूल में प्रमाद को हिंसा का कारण माना गया है। अहिंसा व्रत का पालन श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए अनिवार्य है। कहा गया है कि 'अहिंसा परमो धर्मः हिंसा सर्वत्र गर्हिता' अर्थात् अहिंसा ही सर्व श्रेष्ठ धर्म है। हिंसा सर्वत्र गर्हित मानी गई है। वस्तुतः अहिंसा सभी जीवों के भय को दूर करने वाली परम औषधि है।

मृषावाद (सत्य महाव्रत) :

समत्वयोग की साधना करनेवाला साधक दूसरे महाव्रत में असत्य का सम्पूर्णतः त्याग करता है। श्रमण मन, वचन एवं काया तथा कृत-कारित-अनुमोदन की नव कोटियों सहित असत्य से विरत होने की प्रतिज्ञा करता है। मन, वचन और काया में एक रूपता का अभाव ही मृषावाद है।[१४४] उत्तराध्ययनससूत्र के अनुसार क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय के कारणों के उपस्थित होने पर

---

१३९ 'न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।
एवारिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पण्णत्तो ।।८।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ८।

१४० दशवैकालिकससूत्र १/१ ।

१४१ 'वाक्चित्त तनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।
चरस्थिरांगिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ।।८।।' -ज्ञानार्णव अष्टम सर्ग ।

१४२ 'क्षमादि परमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम् ।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ।। १४ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ८ ।

१४३ 'हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं, हिंसैव दुरितार्णवः ।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः ।। १६ ।।' -वही ।

१४४ षटखण्डागम में गुणस्थान विवेचन पृ. ५६ ।

भी असत्य वचन नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।[१४५] सत्य महाव्रत के सन्दर्भ में वचन की सत्यता पर अधिक बल दिया गया है। जैनागमों में असत्य के चार प्रकार बताये हैं :

१. होते हुए नहीं कहना;
२. नहीं होते हुए उसका अस्तित्व बताना;
३. वस्तु कुछ है और उसे कुछ और बताना; और,
४. हिंसाकारी पापकारी और अप्रिय वचन बोलना।

इन चारों प्रकार के असत्य भाषण श्रमण या समत्वयोगी के लिए वर्जित हैं।

श्रमण या समत्वयोगी को शुद्ध वचन का उपयोग करना चाहिए। इसका विस्तृत विवेचन दशवैकालिकसूत्र के वाक्यशुद्धि नामक अध्ययन में मिलता है। जैन आगमों के अनुसार भाषा चार प्रकार की होती है - सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक।[१४६] श्रमण स्वार्थ अथवा परार्थवश या क्रोध अथवा भय के कारण न तो असत्य भाषण करे और न ही असत्य बोलने के लिए किसी को प्रेरणा दे।[१४७] साधक चाहे कितना भी तपस्वी हो, जटाधारी हो, मस्तक भी मुण्डा ले अथवा नग्न (दिगम्बर) हो जाये या वस्त्रधारी हो, लेकिन असत्य बोलता हो, तो वह अतिशय निन्दनीय है।[१४८] अहिंसा एवं सत्य परस्पर सापेक्ष या पूरक हैं। दूसरे शब्दों में सत्य का आधार अहिंसा है। किसी को अप्रिय बोलकर उसके हृदय को छेद दें, तो वह हिंसा ही है। नियमसार के अनुसार जो साधु राग-द्वेष अथवा मोह से होने वाले मृषाभाषा के परिणाम छोड़ता है वही सत्य महाव्रत का पालक है।[१४९]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सत्यमहाव्रती को असभ्य

---

१४५ उत्तराध्ययनसूत्र २५/२४ ।

१४६ पुरूषार्थ सिद्धयुपाय ९१ ।

१४७ दशवैकालिकसूत्र ६/१२-१३ ।

१४८ 'यस्तपस्वी जटी मुण्डी नग्नो वा चीवरावृतः ।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ।। ३१ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ९ ।

१४९ 'रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिमाणं ।
जो पजहदि साहु सया बिरियददं होइ तस्सेव ।। ५७ ।।' -नियमसार ।

वचन नहीं बोलना चाहिए। साधु को असावद्य एवं निश्चयकारी शब्दों को भी नहीं बोलना चाहिए। जिससे कई अनर्थ होने की सम्भावना हो, हिंसा के अनुमोदन में सहायक हो, ऐसे शब्द को बोलना उचित नहीं है।[१५०] निश्चयात्मक भाषा भी साधु को नहीं बोलनी चाहिए।[१५१] यदि सत्य और अहिंसा दोनों का पूर्णतः पालन सम्भव नहीं हो सके, तो वह मौन रखकर उसका पालन कर सकता है। यद्यपि उसके लिए अपवाद मार्ग का उल्लेख आगमों में है।

दशवैकालिकसूत्र में यहाँ तक कहा गया है कि सत्य होने पर भी काने को काना, बधिर को बधिर, लूले को लूला, रोगी को रोगी, नपुसंक को नपुसंक, चोर को चोर आदि कहना साधु के लिए उचित नहीं है। इस प्रकार 'रे', 'तू' आदि अनादर सूचक शब्दों का बोलना भी उचित नहीं है।[१५२] तीर्थंकर एवं आचार्य आदि भी सामान्यजन के लिए देवानुप्रिय, आयुष्यमान, महानुभाव, सौम्य आदि सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग करते थे। इनका प्रमाण आगम ग्रन्थों में विस्तृत रूप में मिलता है।[१५३]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में उल्लेख है कि यदि श्रमण संयम जीवन में असत्य बोलता है, तो संयम का घात होता है। इसीलिए उसे मौन रहना ही उचित माना गया है। इस तरह वैमनस्य और विवाद उत्पन्न हो, ऐसे क्लेशमय वचन और अविवेक, अन्याय, कलहकारक, अहंकार और धृष्टतापूर्ण वचन सत्य होने पर भी श्रमण के लिए वर्जित हैं। श्रमण को हित, मित और प्रिय वचन बोलना चाहिए। सुविचार, विरोध रहित और निरवद्य वचन बोलने से श्रमण का सत्य महाव्रत अखण्ड रहता है। इस व्रत में अपनी

---

१५० 'मुसं परिहरे भिक्खू, न य यं ओहारिणिं वए।
भासादोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया ।। २४ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १।

१५१ उत्तराध्ययनसूत्र १/३६; २४/२०।

१५२ दशवैकालिकसूत्र १/१४-२२।

१५३ (क) आचारांगससूत्र १/१/१/१;
(ख) उत्तराध्ययनससूत्र २/१; १६/१; और
(ग) ज्ञाताधर्मकथासूत्र १/१/१११।

प्रशंसा और दूसरों की निन्दा को भी त्याज्य बताया है।[१५४] आचारांगसूत्र में सत्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। उसमें अधिष्ठित होनेवाला साधक समस्त पापकर्मों का क्षय करके इस संसार से पार हो जाता है।[१५५] प्रश्नव्याकरणसूत्र में यहाँ तक कहा गया है कि सत्य भगवान है (तं खु सच्चं भगवं)। सत्य ही समग्र लोक में सारभूत तत्त्व है।[१५६]

सत्य के पालन के लिए आचारांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र की टीका में पांच भावनाओं का भी उल्लेख निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है - अनुविचिन्तिय भाषण (वाणी विवेक), क्रोध विवेक, लोभ विवेक, भय विवेक, और हास्य विवेक।[१५७]

अस्तेय महाव्रत

श्रमण का तीसरा महाव्रत 'अस्तेय' है। इसका शास्त्रीय नाम 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं' अर्थात् सर्वथा रूप से अदत्तादान का त्याग है। श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा या स्वीकृति के कोई वस्तु ग्रहण करता है, तो वह अदत्तादान है। स्वामी की बिना अनुमति के एक तिनका भी श्रमण को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[१५८] श्रमण जंगल में या किसी भी परिस्थिति में बिना स्वामी से पूछे भोजन, जल, वस्त्र, शय्या एवं औषध आदि कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षा के द्वारा ही करता है।[१५९]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि अदत्त वस्तु का ग्रहण न करके निर्दोष वस्तु को ग्रहण करता है।[१६०] अस्तेय महाव्रत

---

१५४ प्रश्नव्याकरणसूत्र २/२/१२०-२६ ।

१५५ आचारांगसूत्र १/३/२/४०-४१, १/३/२, १/३/३ ।

१५६ प्रश्नव्याकरणसूत्र २/२, ७/२/१० ।

१५७ आचारांगससूत्र २/१५/५१-५६ ।

१५८ 'चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया ।। १४ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ६ ।

१५९ मूलाचार ५/२६० ।

१६० 'चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गेण्हइ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं ।। २५ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५ ।

अहिंसा एवं सत्य का परिपोषक है; क्योंकि चौर्यकर्म व्यक्ति को हिंसक एवं असत्य भाषी बनाता है। चौर्यकर्म भी एक प्रकार की हिंसा है। जिसकी वस्तु चुराई जाती है, उसका मन दुःखी होता है। उसे आर्थिक हानि होती है। आचार्य शुभचन्द्र एवं अमृतचन्द्र का कथन है कि अर्थ या सम्पत्ति प्राणियों का बाह्य प्राण है, क्योंकि इस पर उनका जीवन आधारित रहता है। इसलिए किसी की वस्तु का हरण उसके प्राणों के हनन के समान है।[१६१] प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा गया है कि यह अदत्तादान (चोरी) सन्ताप-मरण एवं भय रूपी पातकों का जनक है - दूसरे के धन के प्रति लोभ उत्पन्न करता है।[१६२] चोरी करने वाला व्यक्ति परलोक में दुःख रूपी भयंकर ज्वाला और घोर नरक को प्राप्त करता है।[१६३] आगे शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि "हे आत्मन्! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर तथा जंगल इत्यादि में रखे हुए, गिरे हुए तथा नष्ट हुए धन का मन, वचन और काया से त्याग कर दे।[१६४] चेतन तथा अचेतन वस्तु का मोह छोड़ दे। चेतन अर्थात् दास, दासी, पुत्र, पौत्र, स्त्री, गौ, महीष तथा घोड़े आदि और अचेतन अर्थात् धन, धान्य, सुवर्ण आदि का त्याग कर दे।"[१६५] दशवैकालिकसूत्र तथा ज्ञानार्णव में बताया गया है कि श्रमण द्वारा छोटी अथवा बड़ी सचित्त तथा अचित्त कोई भी वस्तु, चाहे वह दाँत साफ करने का तिनका भी क्यों न हो, बिना दिए लेने

---

१६१ (क) 'वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ।।३।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १० ।
(ख) पुरूषार्थसिद्ध्युपाय १०३ ।

१६२ प्रश्नव्याकरणसूत्र ३ ।

१६३ 'विशन्ति नरक घोरं दुःख ज्वाला करालितं ।
अमुत्र नियतं मूढ़ाः प्राणिनश्चौर्यचर्विता ।। १५ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १० ।

१६४ (क) 'गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ।। ५८ ।।' -नियमसार ।
(ख) 'सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु ।
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ।। १६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १० ।

१६५ 'चिदचिद्रूपतापत्रं यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमैः ।। १७ ।।' -वही ।

योग्य नहीं है।[१६६]

आचारांगसूत्र में अस्तेय महाव्रत का सम्यक् रूप से पालन करने के लिए पांच भावनाओं का विधान मिलता है :

१. श्रमण विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे;
२. याचित आहारादि वस्तुओं का उपभोग आचार्य या गुरू की अनुमति से ही करे;
३. श्रमण अपने लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे;
४. श्रमण को जब भी कोई आवश्यकता हो, उस वस्तु की मात्रा का परिमाण निश्चित करके ही याचना करे; और
५. अपने सहयोगी श्रमणों के लिए भी विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे।[१६७]

कुछ आचार्यों ने अस्तेय महाव्रत के पालन के लिए इन पांच बातों को भी आवश्यक माना है :

१. श्रमण को हमेशा निर्दोष स्थान पर ही ठहरना चाहिए;
२. स्वामी की स्वीकृति से ही आहार अथवा ठहरने का स्थान ग्रहण करना चाहिए;
३. ठहरने के लिए जितना स्थान गृहस्थ ने दिया, उतना ही उपयोग करना चाहिए;
४. गुरू की अनुमति के बाद ही आहार आदि का उपभोग करना चाहिए; और
५. यदि किसी स्थान पर पूर्व में कोई श्रमण ठहरा हो, तो उसकी आज्ञा को प्राप्त करके ही ठहरना चाहिए।[१६८]

श्रमण इस तीसरे अस्तेय नामक महाव्रत को अंगीकार कर मोक्ष की उपलब्धि कर सकता है।

---

१६६ (क) दशवैकालिक सूत्र ६/१४-१५ ।
(ख) 'आस्तां परधनादित्सां कर्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम् ।
तृण मात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ।। १८ ।। -ज्ञानार्णव सर्ग १० ।

१६७ आचारांगसूत्र २/१५/१७६ ।

१६८ प्रश्नव्याकरणसूत्र ८ ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

श्रमण का चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत है। जैन आगमों में अहिंसा के बाद ब्रह्मचर्य का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तराध्ययनसूत्र एवं ज्ञानार्णव में कहा गया है कि जो दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, उसे देव, दानव और यक्ष आदि सभी नमस्कार करते हैं।[१६९] ज्ञानार्णव में बताया गया है कि यह व्रत सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते।[१७०] मन, वचन और काया तथा कृत-कारित और अनुमोदित रूप से नव कोटि सहित मनुष्य, तिर्यंच और देव शरीर सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[१७१] प्रश्नव्याकरणसूत्र में यह उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है - यम-नियमरूप प्रधान गुणों से युक्त है। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले मनुष्य का जीवन बाह्य एवं अन्तःकरण प्रशस्त, निर्मम, निश्चल, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। ब्रह्मचर्य साधुजनों के द्वारा आचरित मोक्ष का मार्ग है। इस महाव्रत का भंग होने से अन्य महाव्रतों का तत्काल ही भंग हो जाता है अर्थात् सभी व्रत, नियम, शील, तप, गुण आदि का क्षण में विनाश हो जाता है - पतन हो जाता है।[१७२] नियमसार के अनुसार स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति आकृष्ट नहीं होना ही ब्रह्मचर्य व्रत है।[१७३] ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए आन्तरिक सावधानी के साथ-साथ बाह्य संयोग एवं बाह्य वातावरण के प्रति पूर्ण सावधानी आवश्यक होती है। वस्तुतः आन्तरिक सजगता के साथ

---

१६९ 'हास किड्डं रइं दप्पं, सहसावत्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि ।। ६ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १६ ।

१७० (क) 'विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तदव्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धिरधोरेय गोचरम् ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ११ ।
(ख) 'एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ।। ३ ।।' -वही ।

१७१ 'दिवमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायक्केणं, तं वयं बूम माहणं ।। २५ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५ ।

१७२ प्रश्नव्याकरणसूत्र ६ ।

१७३ 'दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवदं ।। ५६ ।।' -नियमसार पृ. ११३ ।

बाह्य निमित्तों के प्रति विशेष सजग होना आवश्यक है; क्योंकि बाह्य निमित्तों को पाकर अन्तर में दबी वासना कब प्रकट हो जाए। उत्तराध्ययनसूत्र एवं ज्ञानार्णव में ब्रह्मचर्य महाव्रत की विस्तृत चर्चा की गई है। इस महाव्रत का पालन करने वाला साधक सदैव समत्व में स्थिर रहता है।[१७४] उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य के अट्ठारह भेदों का भी उल्लेख मिलता है।[१७५] इसकी टीका में इसी के आधार पर इसके निम्न भेद भी उपलब्ध होते हैं। औदारिक शरीर (मनुष्य एवं तिर्यंच) तथा वैक्रिय शरीर (देवता) - इन दोनों प्रकार के शरीरों से मन, वचन और काया तथा कृत-कारित एवं अनुमोदित रूप मैथुन सेवन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य के अट्ठारह भेद (२×३×३ = १८) होते हैं।[१७६]

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा एवं बाह्य निमित्त से बचने के लिए निम्न बातों का संकेत मिलता है :

१. वसति - स्त्री, पशु एवं नपुसंक जिस स्थान पर रहते हों, वहाँ श्रमण का ठहरना उचित नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र के ३२वें अध्ययन में कहा गया है कि जैसे बिल्लियों के पास चूहों का रहना उचित नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष का स्त्री के निकट या स्त्री का पुरुष के निकट रहना अनुचित है।[१७७]

२. कथा - भिक्षु श्रृंगार-रसोत्पादक कथा भी न कहे।

---

१७४ (क) 'आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं ।। ११ ।। - उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन
कुइयं रूइयं गीयं, हासियं भुत्ता सियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ।। १२ ।। - वही ।
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ।।१३ ।।' - १६।
(ख) 'सप्रपंच प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम् ।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ।। २ ।। -ज्ञानार्णव सर्ग ११ ।

१७५ 'बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु यडसमाहिए ।
जें भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छई मंडले ।। १४ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३१ ।

१७६ उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ४२१ ।

१७७ 'जहा बिरालावसहस्समूले, न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो ।। १३ ।।' -वही अध्ययन ३२ ।

३. निषिद्या - भिक्षु को स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययनसूत्र टीका में कहा है कि जिस स्थान पर कोई स्त्री बैठी हो, उस स्थान पर भिक्षु को उसके उठने के समय से लेकर एक मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए।[१७८]

आधुनिक काल में तो विज्ञान ने यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि एक व्यक्ति जिस स्थान पर बैठता है, उठने पर भी ४८ मिनट तक उसके परमाणु वहाँ पर बिखरे हुए रहते हैं। ४८ मिनट में उस स्थान से उस व्यक्ति का फोटो भी लिया जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्री या पुरुष जिस स्थान पर बैठे हों, उस स्थान पर ब्रह्मचारी साधक को नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि वहाँ बैठने पर उसमें वासना जनित भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

४. इन्द्रिय-भिक्षुक को स्त्री की ओर तथा साध्वी को पुरुष की ओर रागदृष्टि से न देखना चाहिए। स्त्री के हाव-भाव रूप आदि के देखने से काम-वासना उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है इसलिए पांचों इन्द्रियों का संयम रखे।

५. कुड्यन्तर - ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु को स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों का श्रवण नहीं करना चाहिए। आस-पास में आते हुए स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य, क्रन्दन, रूदन और विरह से उत्पन्न विलाप आदि के श्रवण से काम विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

६. पूर्वावस्था - ब्रह्मचारी साधक को पूर्व में भोगे हुए काम भोग का चिन्तन नहीं करना चाहिए। इससे वासना के पुनः उद्दीप्त होने की सम्भावना रहती है।

७. प्रणीत - ब्रह्मचारी साधक को पुष्टिकारक (गरिष्ठ) आहार का त्याग करना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा गया है कि जिस प्रकार स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी पीड़ित करते हैं; उसी प्रकार घी, दूध आदि सरस द्रव्यों के सेवन से काम

---

[१७८] उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ४२४ ।

वासना उद्दीप्त होकर पीड़ित करती है। अतः ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए गरिष्ठ भोजन का त्याग आवश्यक है।[१७९]

८. अतिमात्राहार – ब्रह्मचारी साधक को अतिमात्रा में आहार नहीं करना चाहिए। मर्यादा से अधिक आहार करने पर इन्द्रियाँ अनियन्त्रित हो जाती हैं और प्रायः साधक रोगग्रस्त हो जाते हैं। ब्रह्मचारी को अल्प एवं परिमित मात्रा में आहार करना चाहिए।[१८०]

९. विभूषावर्जन – ब्रह्मचारी साधु को स्नानादि के द्वारा शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग सर्वथा वर्जनीय है।

१०. ब्रह्मचारी साधक को पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी भोगोपभोग का त्याग करना चाहिए।[१८१]

इसी प्रकार समत्वयोगी साधक को समभावपूर्वक इस महाव्रत का पालन करना चाहिए। शुभचन्द्राचार्य ने भी दस प्रकार के मैथुन को ब्रह्मचारी के लिए त्यागने योग्य बताया है।[१८२] यह मैथुन कुछ काल पर्यन्त तक तो सुखदायक लगता है। लेकिन यह कैसा सुखदायक है? किंपाक फल (इन्द्रयाण का फल) देखने, सूंघने और खाने में स्वादिष्ट एवं मीठा लगता है; किन्तु हलाहल विष का काम करता है। वैसा ही यह है।[१८३]

---

१७९ 'रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसादित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ।। १० ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३२ ।

१८० 'निग्गन्थो धिइमन्तो, निग्गन्थीवि न करेज्ज छहिं चेव ।
ठाणेहिं उ इमेहिं, अणइक्कमणाइ य से होई ।। ३४ ।।' -वही अध्ययन २६ ।

१८१ उत्तराध्ययनसूत्र २६/३४ ।

१८२ 'आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीय स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ।। ७ ।।
योषिद्विषय संकल्पः पंचमं परिकीर्त्तितम् ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमंमतम् ।। ८ ।।
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ।। ९ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग ११ ।

१८३ 'किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ।। १० ।।' -वही ।

मूलाचार में अब्रह्मचर्य के दस कारणों का उल्लेख मिलता है :

(१) विपुलाहार; (२) शरीर श्रृंगार;
(३) गंधमाल्यधारण; (४) गाना-बजाना;
(५) उच्च शय्या; (६) स्त्री संसर्ग;
(७) इन्द्रियों के विषयों का सेवन; (८) पूर्वरति स्मरण
(९) काम-भोग की सामग्री का संग्रह; और (१०) स्त्री सेवा।[१८४]

तत्त्वार्थसूत्र में इनमें से पांच का उल्लेख है।[१८५] श्रमण या श्रमणी को जहाँ अपने ब्रह्मचर्य के खण्डन की सम्भावना होती है, उन स्थानों का उसे परित्याग कर देना चाहिए।[१८६] श्रमण-श्रमणी को ब्रह्मचर्य व्रत अक्षुण्य रखने के लिए आचारांगसूत्र में कठोरतम नियमों एवं मर्यादाओं का निर्देश किया गया और पांच भावनाएँ भी कही गई हैं।[१८७] इस प्रकार इस ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करनेवाला (समत्वयोगी) संसार के सभी दुःखों से छुटकारा पाकर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अपरिग्रह महाव्रत

श्रमण का पांचवा महाव्रत अपरिग्रह है। उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि धन, धान्य, दास वर्ग आदि जितने भी जड़ एवं चैतन्य द्रव्य हैं, उन सबका कृत-कारित-अनुमोदित तथा मन, वचन और काया से त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।[१८८] वस्तुतः अपरिग्रह महाव्रत निर्ममत्व एवं समत्व भाव की साधना है। अपरिग्रह को समझने से पहले परिग्रह को समझना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है 'मूर्च्छा परिग्रहः' अर्थात्

---

१८४ मूलाचार १०/१०५-०६ ।

१८५ तत्त्वार्थसूत्र ७/७ ।

१८६ 'दुज्जय कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणंव ।। १४ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १६ ।

१८७ आचारांगसूत्र २/१५/१७६ ।

१८८ (क) 'धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ, निम्ममत्तंसुदुक्करं ।। ३० ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १६ ।
(ख) दशवैकालिकसूत्र ४/५ ।
(ग) षड्खण्डागम में गुणस्थान विवेचन ५७ ।

मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह है।[१५९] दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि श्रमण के लिए सभी तरह का परिग्रह, चाहे वह अल्प हो या अधिक हो, त्यागने योग्य है। परिग्रह या संचय करने की वृत्ति आन्तरिक लोभ की ही द्योतक है। श्रमण यदि परिग्रह रखता है, तो वह श्रमण नहीं अपितु गृहस्थ ही है। दशवैकालिकसूत्र में बताया गया है कि परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य वस्तुओं का संग्रह नहीं है, वरन् आन्तरिक मूर्च्छाभाव या आसक्ति ही है।[१६०] प्रशमरतिप्रकरण में भी यही उल्लेख मिलता है कि 'आध्यात्मविदो मूर्च्छा परिग्रहं वर्णयति' अध्यात्मवेत्ता निश्चयतः मूर्च्छा को ही परिग्रह मानते हैं।[१६१]

जैनागमों में परिग्रह के मुख्यतः दो विभाग किये गये हैं - बाह्य परिग्रह और आभ्यंतर परिग्रह। बाह्यपरिग्रह नौ प्रकार का है :

(१) क्षेत्र (खुलीभूमि); (२) वास्तु (भवन);
(३) हिरण्य (चाँदी); (४) स्वर्ण;
(५) धन (सम्पत्ति); (६) धान्य;
(७) द्विपद (दास-दासी); (८) चतुष्पद (पशु आदि); और
(९) कुप्य (घर, गृहस्थी का सामान)।[१६२]

आन्तरिक परिग्रह चौदह प्रकार का बताया गया है :

(१) मिथ्यात्व; (२) हास्य; (३) रति; (४) अरति;
(५) भय; (६) शोक; (७) जुगुप्सा; (८) स्त्रीवेद;
(९) पुरुषवेद; (१०) नपुंसकवेद; (११) क्रोध; (१२) मान;
(१३) माया; और (१४) लोभ।[१६३]

श्रमण के लिए सभी तरह का आभ्यंतर एवं बाह्य परिग्रह त्याज्य है, ऐसा नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है।[१६४]

---

१५९ तत्त्वार्थसूत्र ७/१२ ।

१६० (क) 'ण सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ।। २० ।।' -दशवैकालिकसूत्र ६ ।
(ख) पुरूषार्थसिद्धयुपाय १११ ।

१६१ प्रशरमतिप्रकरण २/२०७ ।

१६२ श्रमणसूत्र ५० ।

१६३ वृहद्कल्प १/८३१ ।

१६४ 'सव्वेसिं गंथाणं चागो णिखेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ।। ६० ।।' -नियमसार ।

इस प्रकार के बाह्य और अन्तरंग भेदों का ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने बाह्य परिग्रह के दस भेद किये हैं और अन्तरंग परिग्रह के चौदह भेद किये हैं।[१६५] आचारांगसूत्र में श्रमण के सहायभूत चार उपकरणों का ही विधान किया गया है – वस्त्र, पात्र, कम्बल एवं रजोहरण आदि।[१६६] आचारांगसूत्र के अनुसार स्वस्थ साधु एक वस्त्र रख सकता है। साध्वी के लिए चार वस्त्र रखने का विधान है। इसी प्रकार मुनि एक से अधिक पात्र नहीं रख सकता।[१६७] प्रश्नव्याकरणसूत्र में मुनि के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है।[१६८]

शुभचन्द्राचार्य ने बताया है कि परिग्रह से काम, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरक गति प्राप्त होती है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।[१६९] श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में परिग्रह को लेकर किंचित् मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि को वस्त्र आदि अन्य सामग्री रखने का निषेध है; जबकि श्वेताम्बर परम्परा उसे संयमोपकरण के रूप में स्वीकार करती है।

इस प्रकार सम्यक्चारित्र के वर्णन में श्रमण, समत्व या समभाव की साधना के लिए हमने यहाँ पर पंचमहाव्रतों का संक्षिप्त वर्णन किया। अब महाव्रतों को दूषित करनेवाली पच्चीस क्रियाओं का वर्णन करेंगे। तत्पश्चात् पांच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषह, दस यतिधर्म, बारह भावना आदि का हम अग्रिम पृष्ठों पर संक्षिप्त में वर्णन करेंगे। इन पच्चीस क्रियाओं के नाम तत्त्वार्थसूत्रादि की टीका एवं नवतत्त्व प्रकरण में निम्न प्रकार से दिए गए हैं :

(१) कायिकी क्रिया; (२) अधिकरणकी क्रिया;

---

१६५ 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः ।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश ।। ४ ।।' –ज्ञानार्णव सर्ग १६ ।

१६६ आचारांगसूत्र १/२/५/६० ।

१६७ वही २/५/१/११४ एवं २/६/१/१५२ ।

१६८ (क) बोलसंग्रह ५/२८-२६ ।
(ख) प्रश्नव्याकरणसूत्र १० ।

१६९ 'संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा याऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ।। १२ ।।" –ज्ञानार्णव सर्ग १६ ।

(३) प्राद्वेषिकी क्रिया; (४) पारितापनिकी क्रिया;
(५) प्राणातिपातिकी क्रिया; (६) आरम्भकी क्रिया;
(७) परिग्रहकी क्रिया; (८) मायाप्रत्ययकी क्रिया;
(९) मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया; (१०) अप्रत्याख्यानिकी क्रिया;
(११) दृष्टिकी क्रिया; (१२) स्पृष्टिकी क्रिया;
(१३) प्रातित्यकी क्रिया; (१४) सामन्तोपनिपातिकी क्रिया;
(१५) नैशस्त्रिकी क्रिया; (१६) स्वाहिस्तिकी क्रिया;
(१७) आज्ञापनिकी क्रिया; (१८) वैदारणिकी क्रिया;
(१९) अनाभोगिकी क्रिया; (२०) अनवकांक्षप्रत्ययिकी क्रिया;
(२१) प्रायोगिकी क्रिया; (२२) सामुदानिकी क्रिया;
(२३) प्रेमिकी क्रिया; (२४) द्वेषिकी क्रिया और
(२५) ईर्यापथिकी क्रिया आदि।[२००]

अष्टप्रवचनमाता : समिति गुप्ति

जैनधर्म में श्रमण जीवन के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों का विधान मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इन्हें 'अष्ट प्रवचनमाता' कहा गया है।[२०१] भगवतीआराधना के अनुसार समिति और गुप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वैसी ही रक्षा करती है, जैसे माता अपने पुत्र की। अतः गुप्ति और समिति को माता कहा गया है।[२०२]

प्राकृत में 'पवयणमायाओ' शब्द में पवयण अर्थात् प्रवचन शब्द का अर्थ है – जिनेश्वर देव प्रणीत सिद्धान्त और 'मायाओ' शब्द

---

२०० 'काइय अहिगरणिया, पाउसिया पारितावणी किरिया ।
पाणाइवायारंभिय, परिग्गहिआ मायवत्ती अ ।। २२ ।। – नवतत्त्व प्रकरण ।
मिच्छादंसणवत्ती अपच्चक्खाणां य दिट्ठि पुट्ठि य ।
पाडुच्चिय सामंतो-वणीअ नेसत्थि साहत्थी ।। २३ ।। – वही ।
आणवणि विअरणिआ अणभोग्ग अणवकंखपच्चाइया ।
अन्ना पओग समुदा-ण पिज्ज दोसेरियावहिया ।। २४ ।।" –नवतत्त्व प्रकरण ।

२०१ (क) 'अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिया' ।।१।। –उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २४ ।
(ख) मनुस्मृति २/२० ।

२०२ भगवतीआराधना १२० ।

का अर्थ है माता। पांच समितियों और तीन गुप्तियों - इन आठों में सम्पूर्ण प्रवचन का समावेश हो जाता है। इसलिए इन्हें प्रवचनमाता कहा जाता है। इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है; इसलिए भी इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है। समिति श्रमण जीवन की साधना का पक्ष है। उत्तराध्ययनसूत्र में समिति के लिए 'समिई' शब्द प्रयुक्त किया गया है। समिति शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'इण' (गतो) धातु से बना है। सम् का अर्थ सम्यक् प्रकार से है और इण का अर्थ गति या प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दों में विवेकपूर्वक आचरण करना समिति है। उत्तराध्ययनसूत्र, ज्ञानार्णव तथा नवतत्त्वप्रकरण में पांच समिति तथा तीन गुप्ति का वर्णन विस्तार से मिलता है। लेकिन हम यहाँ पर उनका संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत करेंगे। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार पांच समिति आचरण के क्षेत्र में प्रवृत्ति रूप हैं।[२०३] इसी प्रकार नवतत्त्वप्रकरण में भी सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक जो प्रवृत्ति हो वह समिति और सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक निवृत्ति हो वह गुप्ति है।

समिति

श्रमण जीवन में संयम निर्वाह के लिए गमनादि पांच क्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है। वे पाँच क्रियाएँ इस प्रकार है :

१. ईर्यासमिति : गमनागमन क्रिया में सावधानी।[२०४]
२. भाषासमिति : बोलने में सावधानी।[२०५]
३. एषणासमिति : आहारादि की गवेषणा (अन्वेषण), ग्रहण एवं

---

२०३ (क) 'एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पक्त्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्तेसु सव्वसो' ।।२६।। -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २४ ।
(ख) 'इरिया भासेसणादाणे, उच्चारे समिईसु अ ।
मणगुत्ति वयगुत्ति, कायगुत्ति तहेव य ।। २६ ।।' -नवतत्त्वप्रकरण ।
(ग) 'इर्याभाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः ।। ३ ।।
वाक्कायचित्तजाने कसा वद्य प्रतिषेधकं ।
त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ।। ४ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग १८ ।

२०४ 'पासुगमग्गेण दिवाअवलोगंतो जुगप्पमाणंहि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदि हवे तस्स ।। ६१ ।।' -नियमसार ४ ।

२०५ 'पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ।। ६२ ।।' -वही ।

उपभोग में सावधानी।[२०६]

४. आदान निक्षेप समिति : वस्त्र, पात्र आदि उपधि को उठाने एवं रखने में सावधानी।[२०७]

५. उच्चार प्रस्रवण समिति : मूल मूत्रादि का विसर्जन करने में सावधानी।[२०८] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि मुनि अपनी शारीरिक गन्दगी को ऐसे स्थान पर परठे जहाँ जीवों की विराधना न हो।

गुप्ति

गुप्ति शब्द गोपन से बना है; जिसका अर्थ है खींच लेना – दूर कर लेना। इसका दूसरा अर्थ ढंकनेवाला या रक्षा कवच भी है। प्रथम अर्थ के अनुसार मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना ही गुप्ति है और दूसरे अर्थ में आत्मा की अशुभ से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्ति के बिना कर्मों का संवर नहीं हो सकता। भगवतीआराधना, मूलाचार आदि आगमों में कहा है कि जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए बाढ़ होती है, उसी प्रकार पाप को रोकने के लिए गुप्ति होती है।[२०९] सामान्यतः गुप्ति का अर्थ निवृत्तिपरक है। गुप्तियाँ तीन प्रकार की हैं :[२१०]

---

२०६ 'कदकारिदाणुमोदणरहिंद तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णपरेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ।। ६३ ।।' -वही ।

२०७ 'पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ।। ६४ ।।' वही ।

२०८ (क) 'उच्चारं पासवणं, खेलं सिघांणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वाहि तहाविहं ।। १५ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २४ ।
(ख) 'पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ।। ६५ ।।' -नियमसार ।

२०९ (क) भगवतीआराधना गा. ११८६ ।
(ख) मूलाधार गा. ३३४ ।

२१० (क) 'इरिया भाषैषणादाणे, उच्चारे समिईसुअ ।
मणगुत्ति वयगुत्ति, कायगुत्ति तहेव य।। २६ ।।' -नवतत्त्व प्रकरण ।
(ख) 'इरिया भाषैषणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुति वयगुति, कायगुती य अट्ठमा ।।२ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २४ ।
(ग) 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।। ४ ।।' -सर्वार्थसिद्धि ।
(घ) तत्त्वार्थवार्तिक ६/४/४ ।
(च) तत्त्वार्थसार ६/४ ।

१. मनोगुप्ति; २. वचनगुप्ति; और ३. कायगुप्ति।

१. मनोगुप्ति : अशुभ प्रवृत्ति से मन को हटाकर शुभ प्रवृत्ति या समत्व की ओर अभिमुख होना मनोगुप्ति है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा है।[२११] उत्तराध्ययनसूत्र में भी मनोगुप्ति के चार प्रकार बताये गए हैं : सत्य, असत्य, सत्यमृषा और असत्यअमृषा।[२१२]

२. वचनगुप्ति : अशुभ एवं असत्य वचन व्यवहार का परित्याग करना वचन गुप्ति है। पाप की हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा, भक्तकथा इत्यादि वचनों का परिहार करना ही वचनगुप्ति है।[२१३] उत्तराध्ययनसूत्र में भी मनोगुप्ति के चार प्रकार बताये गए हैं : सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार।[२१४]

३. कायगुप्ति : काया के व्यापार से निवृत हो जाना कायगुप्ति है। बन्धन, छेदन, मारन, आकुंचन (संकोचना) तथा प्रसारण इत्यादि काय क्रियाओं से निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं।[२१५]

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के फल को परिभाषित किया गया है। वह इस प्रकार है[२१६] :

मन को नियन्त्रित करके समत्वयोग में एकाग्र रहना मनोगुप्ति है।
वचन को नियन्त्रित करके समभाव में स्थिर बनना वचनगुप्ति है।

---

२११ 'कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ।। ६६ ।।' -नियमसार ४ ।

२१२ उत्तराध्ययनसूत्र २४/२० ।

२१३ 'थी राजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ।। ६७ ।।' -वही ।

२१४ उत्तराध्ययनसूत्र २४/२२-२३ ।

२१५ 'बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ।। ६८ ।।' -वही ।

२१६ उत्तराध्ययनसूत्र २६/५४-५५ ।

कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति है।

परीषह :

साधक द्वारा साधना मार्ग में अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को समभावपूर्वक सहन करना परीषह कहा जाता है।[२१७] स्थानांगसूत्र में भी कहा गया है कि समभावपूर्वक परीषह सहन करने वाले साधक की कर्म निर्जरा होती है।[२१८] तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है कि साधक मोक्षमार्ग से च्युत न हो तथा कर्म निर्जरा के लिए जो कुछ सहने योग्य है, वह परीषह है।[२१९] श्रमण जीवन में परीषह को सहन करना आवश्यक मानता है। तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है। लेकिन परीषह में आकस्मिक रूप से जो संकट उपस्थित हो जाते हैं; उन्हें सहन किया जाता है। श्रमण जीवन की साधना में बाधक परिस्थितियाँ परीषह कहलाती हैं। परीषह का शाब्दिक अर्थ 'परि' अर्थात् समग्र रूप से अथवा अविचलित भाव से एवं 'षह' अर्थात् सहन करना। *श्रमण साधना का मुख्य मार्ग समत्व है। संयम यात्रा में समत्व से* विचलित होने के लिए अनेक परिस्थितियाँ आती हैं। उन परिस्थितियों में समभाव रखना या उसे समभावपूर्वक सह लेना परीषहजय है। दशवैकालिकसूत्र में परीषहजय को मुनि का कर्त्तव्य बताया गया है।[२२०] उत्तराध्ययनसूत्र, समवायांग, तत्त्वार्थसूत्र आदि में बाइस परीषहों का विवेचन किया गया है। साथ ही उन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी गई है। यह बाइस परीषह

---

२१७ वही टीका पत्र १२६ ।

२१८ स्थानांगसूत्र ५/१/७४ ।

२१९ 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।। ८ ।।' तत्त्वार्थसूत्र ९ ।

२२० (क) 'आयवयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया ।। १२ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ३ ।
(ख) 'परीसह रिऊदंता धुऽमोहा जिइंदिया ।
सव्व दुक्ख प्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ।। १३ ।।' -वही ।

निम्न प्रकार से है।[२२१]

१. क्षुधापरीषह : अत्यन्त भूख से पीड़ित होने पर भी साधु नियम विरूद्ध आहार ग्रहण न करे। समभावपूर्वक भूख की वेदना सहन करे।[२२२]

२. पिपासापरीषह : श्रमण का प्यास से कण्ठ सूखता हो; तब भी सचित्त जल न पिए, प्यास की वेदना सहन करे।[२२३]

३. शीतपरीषह : अत्यधिक शीत लगने पर भी श्रमण अग्नि से तपने की इच्छा न करे।[२२४]

४. उष्णपरीषह : अत्यधिक गर्मी होने पर भी श्रमण स्नान या पंखे आदि से वायु सेवन की अभिलाषा न करे।[२२५]

५. दंशमशकपरीषह : डाँस, मच्छर आदि काटने से उन पर क्रोध न करें। समता भाव से सहन करे।[२२६]

६. अचेलकपरीषह : वस्त्रों के फट जाने से, पुराने हो जाने से या अनुकूल न होने से ग्लानि न लावे। प्रमाण से

---

२२१ (क) उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २ ।
(ख) समवायांगसूत्र २२/१ ।
(ग) 'क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंशमशकनागन्यारतिस्त्रीचर्या
निषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचना ऽलाभरोग तृणस्पर्शमल
सत्कारपुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानदर्शनानि ।। १० ।।' -तत्त्वार्थसूत्र ६ ।

२२२ (क) 'दिगिंछापरिग्गह देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ।। २ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २ ।
(ख) 'शकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या ।। १ ।।' -समवायांगसूत्र २२ ।
(ग) 'क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंशमश कनागन्यारतिस्त्रीचर्या निषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचना
ऽलाभरोग तृण स्पर्शमलसत्कारपुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानदर्शनानि ।। १० ।।'-तत्त्वार्थसूत्र ६ ।

२२३ 'तओ पुट्ठो पिवासाए दो गुंछी लज्जसंजए ।
सीओदगंन सेविज्जा, वियडस्सेणं चरे ।।४।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २ ।

२२४ 'न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताणं न बिज्जई ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिंतए ।। ७ ।।' -वही ।

२२५ 'उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ।। ६ ।।' -वही ।

२२६ 'पुट्ठो यदंसमसएहिं, समरेव महामुणी ।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ।। १० ।।' -वही ।

अधिक न रखे।[२२७]

७. अरतिपरीषह : साधु जीवन में सुख-सुविधाओं का अभाव है, इस प्रकार का विचार न करे। संयम में अरुचि हो तो भी मन लगाकर उसका पालन करे।

८. स्त्रीपरीषह : स्त्री संग की आसक्ति को बन्धन और पतन का कारण जानकर साधु स्त्री संसर्ग की इच्छा न करे और साध्वी पुरुष को देखकर अपना मन ब्रह्मचर्य से चलायमान न करे और संयम में दृढ़ रहे।

९. चर्यापरीषह : यहाँ चर्या का अर्थ गमन है। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग के कष्टों, कंकर, पत्थर, काँटे, विषम भूमि आदि एवं परिचित-अपरिचित गाँव में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को समभावपूर्वक सहन करे।

१०. निषद्यापरीषह : स्वाध्याय आदि के लिए एकासन से बैठना पड़े अथवा बैठने के लिए विषम भूमि उपलब्ध हुई हो; तो भी श्रमण मन में दुःखी न होकर समता भाव से सहन करे।

११. शय्यापरीषह : शय्या योग्य स्थान अच्छा न हो अथवा उपाश्रय टूटा-फूटा हो - हवादार न हो, तो श्रमण मन में दुःखी न हो। समभाव से सहन करें।[२२८]

१२. आक्रोशपरीषह : यदि कोई श्रमण को कठोर एवं कर्कश शब्द कहे अथवा अपशब्द कहे तो भी उन्हें सहन कर उसके प्रति क्रोध न करे।[२२९]

१३. वधपरीषह : यदि कोई श्रमण पर प्रहारादि करे एवं कदाचित् उसका प्राणान्त भी करने के लिए तत्पर हो जाए, तो भी साधु पूर्वकृत कर्मों का विपाक मानकर

---

२२७ 'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए ।
अदुण सचेलए होक्खामि, इइ भिक्खू न चिंतए ।। १२ ।।' -वही ।

२२८ 'पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमअदु पावगं ।
किमेगरायं करिइ, एवं तत्थऽहियासए ।। २३ ।।' - उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २ ।

२२९ 'अक्कोसेज्जा परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ।। २४ ।।' -वही ।

राग-द्वेष के परिणाम न लावे। समत्व भावना में रमण करे।

१४. याचनापरीषह : संयमोपयोगी वस्तुओं की याचना करते हुए लज्जा न करे।[२३०]

१५. अलाभपरीषह : आवश्यक वस्त्र, पात्र, आहार, पानी आदि सामग्री आदि न मिलने पर साधु लाभान्तराय कर्म का उदय समझकर उसे समभाव से सहन करे।

१६. रोगपरीषह : शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर साधु रूदन न करे। चिकित्सा के सम्बन्ध में अधीर न होकर उसे असातावेदनीय का उदय समझकर वेदना को समभावपूर्वक सहन करे।

१७. त्रणस्पर्शपरीषह : त्रण आदि की शय्या में सोने तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से तृण या काँटे आदि चुभने की वेदना को समभाव से सहन करे।[२३१]

१८. मलपरीषह : वस्त्र या शरीर पर पसीने एवं धूल आदि के कारण मैल जम जाए तो भी साधु उद्वेलित न होकर उसे समभाव से सहन करे।[२३२]

१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह : जनता में मानसम्मान होने पर साधु प्रसन्न न हो और न होने पर खिन्न भी नहीं हो - समभाव में रहे।[२३३]

२०. प्रज्ञापरीषह : साधु अपनी तीव्र बुद्धि का गर्व न करे। लोगों के विवादादि करने से भी खिन्न होकर यह विचार नहीं करे कि इससे तो अज्ञानी होता तो अच्छा रहता।

२१. अज्ञानपरीषह : यदि साधु की बुद्धि मन्द हो - कदाचित् परिश्रम करने पर भी शास्त्र आदि का अध्ययन न कर

---

२३० 'गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासु त्ति, इइ भिक्खु न चिंतए ।। २६ ।।' -वही।

२३१ 'अचेलगस्स लहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स, हुज्जा गाय-विराहणा ।। ३४ ।।' -वही।

२३२ *'किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।*
धिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए ।। ३६ ।।' -वही।

२३३ 'अहो! ते अज्जवं साहु, अहो! ते साहु मद्दवं।
अहो! ते उत्तमा खन्ती, अहो! ते मुत्ति उत्तमा ।। ५७ ।।' -वही अध्ययन ६।

सके, तो भी खिन्न न होकर ज्ञान व ज्ञानी की भक्ति, विनय, बहुमान, सेवा आदि करके अपनी साधना में संलग्न रहे।

२२. सम्यक्त्वपरीषह : अन्य धर्मावलम्बी साधु, सन्यासी, योगी आदि के आडम्बर देखकर साधु अपने शुद्ध धर्म से विचलित न हो। उसकी देव, गुरू, धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए।

इन बाईस परीषहों में बीस परीषह प्रतिकूल और दो परीषह अनुकूल हैं। आचारांगनिर्युक्ति में अनुकूल परीषहों को शीत परीषह एवं प्रतिकूल परीषहों को उष्ण परीषह कहा गया है।[२३४]

दशविध मुनिधर्म :

जैन आगमों में दशविध श्रमण धर्म का वर्णन विस्तार से मिलता है; जिसका पालन गृहस्थ और श्रमण दोनों कर सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के ६वें अध्ययन में आर्जव, मार्दव, क्षमा एवं मुक्ति इन चार धर्मों का ही वर्णन किया गया है।[२३५] इसके इकतीसवें अध्ययन में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जो दशविध मुनिधर्म का पालन सम्यक् प्रकार से करता है, वह संसार परिभ्रमणा से मुक्त हो जाता है। इस गाथा की व्याख्या में निम्न दस धर्मों का उल्लेख उपलब्ध होता है :[२३६]

(१) क्षमा; (२) मार्दव; (३) आर्जव; (४) मुक्ति;
(५) तप; (६) संयम; (७) सत्य; (८) शौच;
(९) अकिंचन; और (१०) ब्रह्मचर्य।

प्रकारान्तर में इन दस धर्मों का उल्लेख आचारांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांग, मूलाचार, बारसानुवेक्खा, तत्त्वार्थसूत्र,

---

२३४ आचारांगनिर्युक्ति २०२-०३।

२३५ उत्तराध्ययनसूत्र ६/५७।

२३६ (क) उत्तराध्ययनसूत्र टीका पत्र ३०१६।
(ख) 'उत्तमः क्षमामार्दवआर्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्याग सत्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥'
-तत्त्वार्थसूत्र ६।

नवतत्त्वप्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों में भी व्यापक रूप से उपलब्ध होता है।[२३७]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि साधक क्रोध से अपने आप को बचाये रखे।[२३८]

१. क्षमा – क्षमा आत्मा का प्रथम धर्म है। दशवैकालिकसूत्र में बताया गया है कि क्रोध प्रीति का नाशक है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[२३९] 'मेत्ति भूवेसु कप्पए' अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव धारण करें।

२. मार्दव – मार्दव का अर्थ है विनम्रता या कोमलता। उत्तराध्ययनसूत्र में कथन है कि धर्म का मूल विनय है।[२४०] *साधक विनय से अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकता* है।[२४१] दशवैकालिकसूत्र में भी विनय का विस्तृत विवेचन मिलता है।[२४२]

३. आर्जव – निष्कपटता या सरलता आर्जव गुण है। सरल हृदय में ही धर्म का वास हो सकता है।[२४३] आचारांगसूत्र में कहा गया है कि कथनी और करनी मे

---

२३७ (क) आचारांगसूत्र १/६/५ ।
(ख) स्थानांगसूत्र १०/१४ ।
(ग) समवायांगसूत्र १०/६ ।
(घ) मूलाचार ११/१५ ।
(च) तत्त्वार्थसूत्र ६/१२ ।
(छ) बारसानुवेक्खा ७१ ।
(ज) 'खंती मद्दव अज्जव, मुत्ती तव संजमे अ बोधव्वे ।
सच्चं सोअं आकिंचणं च बंभं च जइ धम्मो ।। २६ ।। -नवतत्त्वप्रकरण ।

२३८ उत्तराध्ययनसूत्र ४/१२ ।

२३९ 'जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।। ३५ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ८ ।

२४० वही १/४५ ।

२४१ (क) उत्तराध्ययनसूत्र ४/१२ ।
(ख) 'कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो ।
माया मित्ताणी नासेइ, लोहो सव्व-विणासणो ।।३७।।' -दशवैकालिकसूत्र ८ ।

२४२ देखें दशवैकालिकसूत्र, नवम अध्ययन ।

२४३ 'सोहि उज्जु भुएषु धम्मो सुद्धस्सचिट्ठई ।।१२।। -उत्तराध्ययनसूत्र ३ ।

एकरूपता ही सरलता है।[२४४]

४. मुक्ति - मुक्ति का अर्थ निर्लोभता है। लोभ वृत्ति का त्याग ही मुक्ति धर्म है।

५. तप - आत्मा को विशुद्ध करने के लिए या कर्मों की निर्जरा के लिए तप किया जाता है।

६. संयम - मन, वचन तथा काया की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना अर्थात् विवेकपूर्ण प्रवृत्ति करना ही संयम है। समवायांगसूत्र में संयम को सत्रह प्रकार का बताया गया है।[२४५]

७. सत्य - सत्यधर्म से तात्पर्य है, सत्यता या ईमानदारी से जीवनयापन करना एवं असत्य भाषण से विरक्त रहना।

८. शौच - यह 'शुचेर्भावः शौचम्' अर्थात् पवित्रता का सूचक है। शौच का सामान्य अर्थ दैहिक पवित्रता या शारीरिक शुद्धि होता है।

९. अकिंचनता - मूलाचारवृत्ति में परिग्रह का त्याग अकिंचनता बताया गया है।[२४६] अकिंचनता का व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'नास्ति यस्य किंचन सः अकिंचन अकिंचनस्य भाव इति अकिंचनम्' अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का भाव अकिंचन है। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार शरीरादि में ममत्व भाव का सर्वदा अभाव ही अकिंचनता है।[२४७]

१०. ब्रह्मचर्य - श्रमण के लिए सभी प्रकार का मैथुन त्याज्य है। इसका विस्तृत विवेचन हमने ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया है।

बारह भावना (अनुप्रेक्षा)

जैन धर्म में गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए बारह भावनाओं

---

२४४ 'जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो। -आचारांगसूत्र १/२/५/१२६।

२४५ समवायांगससूत्र १७/२।

२४६ देखिये 'मूलाचार - एक समीक्षात्मक अध्ययन' पृ. २२६।

२४७ तत्त्वार्थभाष्य २१३।

का चिन्तन आवश्यक बताया गया है। ये बारह भावनाएँ मन के वे भावनात्मक पहलू हैं, जो साधक को उसकी वस्तुस्थिति का बोध कराते हैं। भावना विहीन धर्म शून्य है। वास्तव में भावना ही परमार्थ स्वरूप है। इन भावनाओं का विस्तार से विवेचन हमने चतुर्थ अध्याय में किया है। यहाँ हम केवल इनके नामों का ही उल्लेख करते हैं :

(१) अनित्य; (२) अशरण; (३) एकत्व; (४) अन्यत्व;
(५) संसार; (६) लोक; (७) अशुचि; (८) आस्रव;
(९) संवर; (१०) निर्जरा; (११) धर्म; और (१२) बौद्धि।

प्रकारान्तर से जैन परम्परा में चार भावनाओं का विवेचन भी उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र,[२४८] योगशतक,[२४९] अमितगति,[२५०] तथा योगशास्त्र[२५१] आदि अनेक ग्रन्थों में मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का उल्लेख भी मिलता है। ये भावनाएँ समत्वयोग की साधना के लिए आवश्यक हैं।

२.३.२ सामायिक चारित्र एवं समत्वयोग की साधना

पूर्व में हमने चारित्र के भेदों की चर्चा करते हुए यह देखा था कि जैन धर्म में पांच प्रकार के सम्यक्चारित्र प्रतिपादित किये गए हैं। उनमें सामायिक चारित्र का सबसे प्रथम स्थान है। इसके पूर्व भी हमने सामायिक और समत्वयोग की साधना में तारतम्य बताया था कि जैन साधना को यदि एक ही वाक्य में कहना हो, तो वह समत्वयोग या सामायिक की साधना है। सामायिक का तात्पर्य समभाव की उपलब्धि ही माना गया है। सामायिक की साधना का मतलब यही है कि व्यक्ति राग-द्वेष और तद्जन्य कषायों से ऊपर उठे। कषायों के रूप में जैनदर्शन में निम्न चार कषायें मानी गई

---

२४८ 'मैत्रीप्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ्यानि ।। ६ ।।' -तत्त्वार्थसूत्र ७ ।

२४९ योगशतक ७६ ।

२५० 'सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृतौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।'-परमात्मा ज्ञात्रिंशिका (अमितगति) ।

२५१ 'मैत्रीप्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ।। ११७ ।।' -योगशास्त्र ४ ।

हैं : (१) क्रोध; (२) मान; (३) माया; और (४) लोभ।

इन कषायों के मूल में भी राग-द्वेष के तत्व रहे हुए हैं। आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष की प्राप्ति का जो निकटतम साधन बताया है, उसे वे सामायिक या कषाय-मुक्ति कहते हैं। वे लिखते हैं कि जो भी समभाव की साधना करेगा, वह मुक्ति को प्राप्त करेगा। अन्यत्र वे यह भी कहते हैं कि कषायों से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति हैं। कषायों से ऊपर उठना ही सामायिक की साधना है और इसे ही सामायिक या समत्वयोग की साधना भी कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम यह पाते हैं कि हमारी चेतना के समत्व को भंग करनेवाला मूल तत्व राग है। राग के कारण ही द्वेष का जन्म होता है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ राग है, वहाँ-वहाँ व्यक्त या अव्यक्त रूप में द्वेष रहा हुआ है और ये राग-द्वेष के तत्व ही क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों को जन्म देते हैं। कषायों की उपस्थिति में सामायिक चारित्र का परिपालन सम्भव नहीं होता है। जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त में यह बताया गया है कि जब तक व्यक्ति के जीवन में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की सत्ता रहती है अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के तत्व अपने तीव्रतम रूप में उपस्थित होते हैं, तब तक उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति के अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ की वह स्थिति, जिस पर नियन्त्रण करना सम्भव न हो, समाप्त नहीं होती; तब तक वह गृहस्थ धर्म का भी परिपालन नहीं कर पाता। मुनि जीवन के लिए तो कहा गया है कि जब तक व्यक्ति कषायों पर नियन्त्रण की क्षमता पूर्णतः विकसित नहीं कर लेता, तब तक वह मुनि जीवन के योग्य नहीं बनता है। सामायिक चारित्र की साधना मुनि जीवन का प्रथम चरण है। वह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति कषायों के व्यक्त होने की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को निरस्त कर दे। कषायों की उपस्थिति में सामायिक की साधना सम्भव नहीं होती और मुनि जीवन में भी प्रवेश सम्भव नहीं होता। सामायिक चारित्र के परिपालन के लिए भी कषायों से ऊपर उठना आवश्यक है; क्योंकि ये कषाय हमारे चैतसिक समत्व को भंग करते हैं। जब तक कषाय की अभिव्यक्ति होती रहती है, तब तक सामायिक की साधना सम्भव नहीं होती

है। अतः सामायिक चारित्र और समत्वयोग की साधना में तादात्म्य ही परिलक्षित होता है; क्योंकि समत्वयोग की साधना के लिए भी चित्तवृत्ति का निराकुल होना आवश्यक है। जब तक चेतना में आकुलता है, तब तक समत्वयोग की साधना सम्भव नहीं है। चारित्र तभी सम्यक् बनता है, जब हमें चैतसिक समत्व की उपलब्धि हो और इस चैतसिक समत्व की उपलब्धि के लिए चित्तवृत्ति का इच्छा, आकांक्षा और राग-द्वेष से ऊपर उठना आवश्यक है। इच्छाओं, आकाँक्षाओं, राग-द्वेष तथा तद्जन्य कषायों से ऊपर उठने पर ही चारित्र सम्यक् बनता है। सम्यक्चारित्र ही सामायिक चारित्र है और यही समत्वयोग की साधना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में जो त्रिविध साधना मार्ग प्रस्तुत किया गया है, वह समत्वयोग की साधना के लिए ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – ये तीनों ही समत्वयोग की साधना के ही तीन पक्ष हैं। इस प्रकार जैनदर्शन का यह त्रिविध साधना मार्ग समत्वयोग की साधना ही है। इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग की साधना का तृतीय चरण है। इसके द्वारा साधक सर्वकर्म क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता और जब तक ज्ञान सम्यक् नहीं होता, तब तक चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता है।[२५२] इससे यह फलित होता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ये दोनों सम्यक्चारित्र रूपी वृक्ष के बीज और मूल हैं। जैसे बीज और मूल के बिना कोई भी वृक्ष पनप नहीं सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन रूप बीज और सम्यग्ज्ञान रूप मूल के बिना सम्यक्चारित्र रूपी वृक्ष पनप नहीं सकता। उसका अस्तित्व भी इन दोनों के बिना नहीं रह सकता। दूसरी दृष्टि से देखें, तो सम्यक्चारित्र अपने साथ इन दोनों को लेकर चलता है। सर्वार्थसिद्धि में भी कहा गया है कि "चारित्र मोक्ष का साक्षात्कार है।" भगवतीआराधना में बताया गया

---

२५२ 'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।। ३० ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८।

है कि "चारित्र की आराधना करने से दर्शन, ज्ञान और तप तीनों आराधनाएँ हो जाती हैं।" चारित्रपाहुड में भी सम्यग्दर्शनादि तीनों को चारित्र रूप बताते हुए कहा गया है कि "सम्यक्त्वाचरण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।" महापुराण के अनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित कोई भी क्रिया मुक्ति रूप कार्य के लिए उपयोगी नहीं होती।[२५३]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि "जो कर्म के रजकण को रिक्त करता है, वह चारित्र है।"[२५४] चारित्र की यही चर्चा निशीथभाष्य में भी प्राप्त होती है।[२५५]

तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि "मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदन द्वारा पाप रूप क्रियाओं का त्याग सम्यक्चारित्र है।"[२५६] द्रव्यसंग्रह में चारित्र का लक्षण उपलब्ध होता है कि "अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र कहा है। व्यवहारनय से उस चारित्र को व्रत-समिति और गुप्तिरूप कहा है।"[२५७] भगवतीआराधना में बताया गया है कि "सत्पुरुषों द्वारा

---

२५३ (क) 'चारित्रमन्ते गृह्यन्ते मोचप्राप्तेः साक्षात्कारणमितिज्ञापनार्थम् ।'
-सर्वार्थसिद्धि ६/१८/४३६/४ ।
(ख) 'अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं सव्वं ।
आराहणाए सेसस्स चारित्तराहणा भज्जा ।।' -भगवतीआराधना सू. ८/४१ ।
(ग) 'तं चेव गुणविसुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।। ८ ।। -चारित्रपाहुड ।
सम्मत-चरण-सुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ।। ६ ।।' -चारित्रपाहुड ।
(घ) 'चारित्र दर्शन-ज्ञानविकलं नार्थकृत्मतम् ।
पतनायैव तद्धि स्यात् अन्धस्यैव विविलिंगतम् ।।' -महापुराण २४/१२२ ।

२५४ 'अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं, चरित्तं होई आहियं ।। ३३ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ ।

२५५ निशीथभाष्य : -'जैनदर्शन और कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' पृ. १२५ से उधृत ।

२५६ 'चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमत-कारितै पापक्रियाणां यस्त्यागः
सच्चारित्रमुवन्ति तत् ।' -तत्वानुशासन २७ (नागसेनसूरि) ।

२५७ 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती च जाण चारित्तं ।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं-ववहारणया दु जिण-भणियं ।। ४५ ।।' -द्रव्यसंग्रह ।

जिसका आचरण किया जाता है, वह चारित्र है।"[२५८]

उत्तराध्ययनसूत्र में भी बताया गया है कि "साधक एक ओर से विरति करे और एक ओर से प्रवृत्ति अर्थात् वह असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करे।"[२५९] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा गया है कि "हिंसा, असत्य चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह - इन पांचों पाप प्रणालियों से विरत होना सम्यक्चारित्र है।"[२६०] समयसार में कहा है कि "जो नित्य प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण एवं आलोचना करता है, अपने व्रत नियम में अवस्थित रहता है - वही वास्तव में चारित्र है।"[२६१] अपने ज्ञान स्वभाव में निरन्तर विचरण करना (निश्चय दृष्टि से) चारित्र है।[२६२] प्रवचनसार में बताया है कि स्व-स्वरूप में रमण करना अर्थात् स्व-समय में प्रवृत्ति करना चारित्र है। पंचास्तिकाय में भी यही विवेचन मिलता है। परमात्मप्रकाश के अनुसार अपनी आत्मा को जानकर उसके प्रति श्रद्धान करना ही चारित्र है। समयसार तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है कि "आत्म-द्रव्य में निश्चल-निर्विकार अनुभूति रूप जो अवस्थान है, वही निश्चय चारित्र का लक्षण है।" कार्तिकयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि "रागादि दोषों से रहित शुभ ध्यान में लीन आत्म-स्वरूप ही चारित्र है।" मोक्षपंचाशिका में कहा गया है कि "अपने में अवस्थित आत्मा जिस निरामूल सुख को उपलब्ध करती

---

२५८ 'चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं, समायिकादिकम् ।
चरति याति येन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम्।।'
-भगवतीआराधना वि.८/४१/११ ।

२५९ 'एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्ति च संजमे य पवत्तणं ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२ व्याख्या (आ. प्र. स.) पृ. ५५३ ।

२६० 'हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा - परिग्रहाभ्यां च ।
पाप प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।। ४६ ।। -रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।

२६१ 'णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि, णिच्चं पडिक्कमदि जो य ।
णिच्चं आलोचेयदि, सो हु चरित्तं हवदि चेदा ।।' -समयसार मू. ३८६ ।

२६२ 'स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तर-चरणाच्चरित्रं भवति ।'-समयसार आत्मख्याति ३८६ ।

है, वही निश्चयात्मक चारित्र है।[२६३]

जैनदर्शन के अनुसार सम्यक्चारित्र आत्मा में समत्व का संस्थापन करता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि चारित्र ही वास्तव में धर्म है और जो धर्म है, वह समत्व है और मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध दशा को उपलब्ध करना ही समत्व है।[२६४] पंचास्तिकाय में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "समभाव ही चारित्र है।"[२६५] डॉ. सागरमल जैन के अनुसार भी चित्त अथवा आत्मा की वासनाजन्य मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना ही सम्यक्चारित्र है।[२६६]

जैन साधना में सम्यक्चारित्र की साधना को विभिन्न प्रकार से विवेचित किया गया है। इसी क्रम से चारित्र के पांच भेदों का उल्लेख किया गया है :

(१) सामायिक चारित्र; (२) छेदोपस्थापन चारित्र;
(३) परिहारविशुद्धि चारित्र; (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र; और

---

२६३ (क) 'स्वरूपेचरणं चारित्रं, स्वसमय-प्रवृत्तिरित्यर्थः तदेव वस्तु-स्वभावत्वाध्दर्मः'
-प्रवचनसार त. प्र. ७ ।
(ख) 'जीव-स्वभाव-नियत-चारित्रं भवति । तदपि कस्मात् ?
स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात् ।' -पंचास्तिकाय ता. वृ. १५४/२२४ ।
(ग) 'जाणावि मण्णवि अप्पपरू जो परभाउ चएहि ।
सो जिय सुध्दउ भावऽउ णाणिहिं चरणु हवेइ ।।' -परमात्मप्रकाश मू. २/३० ।
(घ) 'आत्माधीन-ज्ञान-सूख-स्वभावे शुध्दात्मद्रव्ये
त्रिश्चल-निर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानंतल्लक्षण-निश्चय-चारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते ।।'
-समयसार ता. वृ. ३८ ।
(च) 'स्वरूपाविचल-स्थितिरूपं सहज-निश्चय चारित्रम् ।।' -नियमसार ता. वृ. ५५ ।
(छ) 'अप्प-सरूवं वत्थु, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं ।
सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा १६ ।
(ज) 'निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्टतः ।
यदात्मनैव संवेधं चारित्रं निश्चयात्मकम् ।। -मोक्षपंचाशिका मू. ४५ ।

२६४ प्रवचनसार १/७ ।

२६५ पंचास्तिकायसार १०७ ।

२६६ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ८४
-डॉ. सागरमल जैन ।

(५) यथाख्यात चारित्र।[२६७]

इन पांचों चारित्रों के परिपालन का मुख्य लक्ष्य तो व्यक्ति का कषायों से ऊपर उठना ही है। जैन परम्परा में कषाएँ चार मानी गई हैं :

१. क्रोध; २. मान;
३. माया; और ४. लोभ।

यह कहा गया है कि कषायों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है। अतः उपरोक्त पांचों चारित्र का सम्बन्ध मूल में तो कषायों से मुक्ति का ही रहा हुआ है। पांचों प्रकार के चारित्र कषायों के विगलन की तरतमता को ही सूचित करते हैं। कषायों का मूलभूत कारण राग-द्वेष है। राग-द्वेष के कारण ही कषायों का जन्म होता है। अतः राग-द्वेष से ऊपर उठने की प्रक्रिया को ही सामायिक चारित्र कहते हैं। वस्तुतः सामायिक चारित्र का परिपालन समत्वयोग की साधना का आधार है; क्योंकि साधना का मूलभूत लक्ष्य वीतरागता की उपलब्धि है और वीतरागता की उपलब्धि राग-द्वेष से ऊपर उठने से ही सम्भव है। अतः राग-द्वेष से ऊपर उठना ही सामायिक चारित्र की साधना है। समभाव में स्थित रहने के लिए समस्त अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग ही सामायिक चारित्र है।[२६८] उत्तराध्ययनसूत्र की टीकाओं में राग-द्वेष या विक्षोभ से रहित होकर सभी प्रकार की पाप प्रवृत्तियों से निवृत्त होना ही सामायिक चारित्र है।[२६९] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सत्य है कि राग-द्वेष के तत्व हमारी चेतना के समत्व को भंग करते हैं; किन्तु उसमें भी मूल तत्व तो राग ही है। राग के कारण ही द्वेष का जन्म होता है। जहाँ राग है वहाँ व्यक्त या अव्यक्त रूप में द्वेष रहा हुआ है। द्वेष का जन्म राग से ही होता है और फिर ये राग-द्वेष के तत्व ही क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों को जन्म देते

---

२६७ 'समाइयत्थ पढमं छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ।। ३२ ।।
अकसायं अहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एवं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ।। ३३ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८।

२६८ तत्वार्थसूत्र १/१८।

२६९ उत्तराध्ययन टीका पत्र २८१७।

हैं। सामायिक चारित्र का लक्ष्य राग-द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों की परिणति को अल्प करना है। सामायिक चारित्र का साधक राग-द्वेष और कषायों पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करता है और उन्हें व्यक्त होने से रोकता है। यद्यपि अन्तर में उनका पूर्णतः अभाव नहीं होता है। सामायिक चारित्र दो प्रकार का है :

(१) इत्वरकालिक - जो कुछ समय के लिए ग्रहण किया जाता है; और
(२) यावत्कथित - जो सम्पूर्ण जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है।

मूलाचार के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के समय इत्वरिक सामायिक नवदीक्षित मुनि को प्रदान की जाती है। बीच के २२ तीर्थंकरों के समय में उनको यावत्कथित सामायिक चारित्र ही देते थे - छेदोपस्थापनीय नहीं।

सामायिक चारित्र के बाद दूसरा स्थान छेदोपस्थापन चारित्र का है। हमारी दृष्टि में कषायों के इन आवेगों को उन्मूलित करने का जो प्रयत्न है; वही छेदोपस्थानपन चारित्र है। अन्तर स्थित कषायों को उन्मूलित कर आत्मा को समत्व में स्थापित करना, यही छेदोस्थानपन चारित्र का मूल लक्ष्य है। सामायिक चारित्र से छेदोस्थानपन चारित्र में कषायों के उन्मूलन के प्रयत्न अधिक तीव्र होते हैं। सामायिक चारित्र में जहाँ व्यक्ति कषायों की बाह्य अभिव्यक्ति को रोकता है; वहाँ छेदोपस्थानपन चारित्र में उनके मूल के उच्छेदन का प्रयास करता है। यद्यपि इस अवस्था में भी अन्तर में निहित कषायों की सत्ता पूर्णतः समाप्त नहीं होती, किन्तु वह क्षीण अवश्य होती है। जिस चारित्र के आधार पर श्रमण जीवन में वरिष्ठता और कनिष्ठता का निर्धारण किया जाता है; वह छेदोस्थापनीय चारित्र है। इस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेद करके साधक को महाव्रत प्रदान किये जाते हैं।

चारित्र का तीसरा प्रकार परिहारविशुद्धि है। समत्वयोग की साधना की दृष्टि से हम उसे इस प्रकार व्याख्यायित कर सकते हैं : 'कषायों के परिहार के द्वारा आत्मविशुद्धि का विशेष प्रयत्न करना।' परिहारविशुद्धि में व्यक्ति कषायों को जड़ से उन्मूलित करने का प्रयत्न करता है। विशिष्ट प्रकार की तप साधना आदि के द्वारा वह अपनी देहासक्ति को मिटाने का प्रयत्न करता है; क्योंकि

देहासक्ति से राग का जन्म होता है और राग से द्वेष का जन्म होता है - राग-द्वेष से कषायों का जन्म होता है। परिहार का अर्थ है - असंयम से निवृत्ति। परिहार से जिस चारित्र को अंगीकार करके कर्मकलंक की विशुद्धि की जाती है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। परिहार अर्थात् गण या संघ से अलग होकर मुनि एक विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचरण को करते हुए कर्मों का क्षय अथवा आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए जो साधना करता है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।[२७०] असंयम के परिहार से होने वाली विशुद्धि को परिहारविशुद्धि कहते हैं।[२७१]

पांच प्रकार के चारित्र में चतुर्थ चरण सूक्ष्मसम्परायचारित्र का है। सम्पराय अर्थात् कषायों के कारण जीव संसार भ्रमण करता है। इस अवस्था में कषायों का उन्मूलन तो हो जाता है, किन्तु देहासक्ति सूक्ष्म रूप से बनी रहती है। इसीलिए इसे सूक्ष्मसम्परायचारित्र नाम दिया गया है। इस चारित्र की साधना में व्यक्ति का जो मुख्य लक्ष्य होता है, वह अव्यक्त बीज रूप में रही देहासक्ति को जड़ से समाप्त करना है। देहासक्ति के समाप्त होने पर राग-द्वेष और कषायों के पुनर्जन्म की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है तथा व्यक्ति समत्वयोग और वीतरागता की साधना की दिशा में आगे बढ़ जाता है। उसमें यथाख्यातचारित्र का प्रकटन होता है।

यथाख्यातचारित्र चारित्र की साधना का अन्तिम लक्ष्य है। वह वीतरागता की उपलब्धि है - समत्वयोग की पूर्णता है। इसमें दो शब्द हैं - यथा + आख्यात अर्थात् जिनेश्वर परमात्मा ने जैसा आख्यात/निरूपित किया है, उसके अनुसार विशुद्ध चारित्र का पालन जिसमें हो, वह यथाख्यातचारित्र है। यथाख्यातचारित्र में राग-द्वेष और तद्जन्य क्रोधादि कषाय सम्पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं और उनके पुनःउद्भावन की सम्भावना नहीं रहती। जीव यथाख्यातचारित्र का पालन करते हुए आत्मा को पूर्णतः विशुद्ध बनाकर वेदनीय आदि चारों अघाती कर्मों का क्षय कर देता है और उसके बाद सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है। यह पूर्ण वीतरागता

---

२७० कर्म विज्ञान भाग ६ पृ. ३७६।

२७१ हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ. ५६-६१।

की अवस्था है; जो समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में इस चारित्र का फल मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। इस अवस्था में व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णतः निराकुल और उद्वेगों से रहित होता है। चेतना का निराकूल और अनुद्विग्न रहना समत्वयोग की पूर्णता है।

इस प्रकार जैनदर्शन में चारित्र साधना के उपरोक्त जो पांच भेद कहे गए हैं, उनमें सामायिक चारित्र ही मुख्य है; क्योंकि सामायिक चारित्र के अभाव में शेष चारित्र भी चारित्र नहीं रहते। छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र सामायिक चारित्र के ही अग्रिम चरण हैं। क्योंकि सामायिक चारित्र मूलतः राग-द्वेष, इच्छा और आकांक्षा से ऊपर उठने की साधना ही है और जब तक वीतरागता की उपलब्धि नहीं होती, तब तक समभाव या सामायिक की साधना आवश्यक बनी रहती है। एक अन्य दृष्टि से विचार करें, तो सामायिक की साधना समत्वयोग की साधना ही है; क्योंकि सामायिक में सावद्य योग का त्याग है। जब तक जीवन में राग-द्वेष और कषायों के तत्व उपस्थित हैं, तब तक किसी न किसी रूप में सावद्ययोग की प्रवृत्ति बनी रहती है। अतः सामायिक की साधना में व्यक्ति मन, वचन और काया की राग-द्वेष से अनुरंजित प्रवृत्तियों का त्याग करता है।

इस प्रकार सामायिक चारित्र की साधना और समत्वयोग की साधना एक दूसरे की पर्यायवाची ही है। सामायिक जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है; किन्तु इसका अर्थ तो समभाव या समता की साधना ही है। चाहे हम उसे सामायिक कहें या सम्यक्चारित्र की साधना कहें; वह मूलतः तो समत्वयोग की साधना ही है। पांचों प्रकार के चारित्र समत्वयोग की साधना के ही विभिन्न चरण हैं। सम्यक्चारित्र उसका प्रथम चरण है और यथाख्यात चारित्र उसकी पूर्णता है। अग्रिम अध्याय में हम समत्वयोग की साधना क्या है; इसका साध्य, साधक और साधना पक्ष क्या है - इसका विवेचन करेंगे।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

अध्याय ३

समत्वयोग : साधक, साध्य और साधना

३.१ समत्वयोग में साध्य, साधक और साधनामार्ग का पारस्परिक सम्बन्ध।

समत्वयोग की साधना में सब से महत्त्वपूर्ण पक्ष समत्वयोग के साधक, साध्य और साधनामार्ग के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना है। समत्वयोग की साधना का साध्य तो समत्व की उपलब्धि ही है। हमारे आध्यात्मिक और व्यवहारिक जीवन का लक्ष्य असन्तुलन, कुसंयोजन और अव्यवस्था को समाप्त करके एक सुसन्तुलित, सुसंयोजित, सुव्यवस्थित और समत्वपूर्ण अवस्था को प्राप्त करना है। समत्वयोग की साधना का समग्र प्रयत्न सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में उपस्थित संघर्षों को समाप्त करना है। यह वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर समत्व की स्थापना का प्रयत्न है। इस प्रकार समत्वयोग का साध्य वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में रहे हुए असन्तुलन को समाप्त करके जीवन में समत्व की उपलब्धि ही है।

वर्तमान में मनुष्य का जीवन तनावों एवं संघर्षों से परिपूर्ण है। व्यक्ति एक ओर इच्छा और आकाँक्षाजन्य आन्तरिक संघर्षों से अपने चैतसिक सन्तुलन को भंग करता है, तो दूसरी ओर सामाजिक संघर्षों को जन्म देता है। इसके परिणामस्वरूप वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की शान्ति भंग हो जाती है; किन्तु जीवन का साध्य तो सन्तुलन या समत्व को बनाये रखना है। जब भी आन्तरिक और बाह्य निमित्तों से यह सन्तुलन टूटता है, तब उसे पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। सन्तुलन को पुनः स्थापित करने का यह प्रयत्न ही साधनामार्ग है। इस प्रकार साध्य और साधना एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न नहीं हैं।

जीवन का साध्य वही हो सकता है, जो स्वयं उसके स्वभाव में

निहित है। जीवन के साध्य को हमें स्वयं जीवन में खोजना होगा। सन्तुलन या समत्व बनाए रखने की प्रवृत्ति, जो जीवन का एक आदर्श है; वह हमारी जीवनशैली में ही अन्तर्निहित है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "जीवन का आदर्श (साध्य) जीवन के अन्दर ही निहित है। उसे बाहर खोजना प्रवंचना है। जीव विज्ञान एवं मनोविज्ञान यह बताते हैं कि जीवन में स्वयं सन्तुलन या समत्व बनाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि जीवन का साध्य सन्तुलन या समत्व है, तो फिर जीवन में इस समत्व या सन्तुलन को बनाये रखने की प्रवृत्ति को भी स्वीकार करना होगा। जो स्वयं जीवन में नहीं है, वह साधना के द्वारा भी प्राप्य नहीं है। संघर्ष नहीं, समत्व ही मानव जीवन का आदर्श हो सकता है; क्योंकि यही हमारा स्वभाव है। जो स्वभाव हो वही आदर्श (साध्य) है। स्वभाव से भिन्न साध्य की कल्पना अयथार्थ है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि समत्वयोग की साधना का साध्य समत्व ही है।

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि जीवन का लक्ष्य संघर्ष है या संघर्ष का निराकरण। पाश्चात्य जगत् में स्पेन्सर, डार्विन एवं मार्क्स आदि विचारकों ने संघर्ष को ही जीवन का लक्ष्य माना है। किन्तु यह एक मिथ्या अवधारणा है। जीवन का लक्ष्य संघर्ष नहीं समत्व की साधना है। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि "यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का स्वभाव संघर्ष है और मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है और संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिये होता है। जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, उसे स्वभाव कैसे कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव-इतिहास का एक तथ्य है, तो वह उसके दोषों का - उसके विभाव का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव-स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की अवस्था है। क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिये होते आये हैं। सच्चा मानव इतिहास संघर्ष की कहानी नहीं, संघर्षों के

---

[1] 'जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४०८। -डॉ. सागरमल जैन।

निराकरण की कहानी है।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चैतसिक, दैहिक और सामाजिक स्तर पर समत्व की स्थापना करना ही समत्वयोग का साध्य है। जहाँ तक समत्वयोग की साधना का प्रश्न है, समत्वयोग की साधक आत्मा है और आत्मा समत्वरूप ही है। भगवतीसूत्र में गौतम ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि आत्मा क्या है और आत्मा का साध्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि आत्मा समत्व रूप है और समत्व को प्राप्त करना ही आत्मा का साध्य है। इस प्रकार जैन परम्परा में साध्य और साधक दोनों में एक अपेक्षा से अभेद माना गया है। जिस प्रकार दैहिक स्तर पर स्वस्थता साध्य भी है और साधक का स्वभाव लक्षण भी है; उसी प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर समत्व आत्मा का साध्य भी है और वही समत्व आत्मा का स्वभाव भी है।[३] स्वास्थ्य कोई बाह्य वस्तु नहीं। वस्तुतः वह बीमारी या विकृति का अभाव है। उसी प्रकार समत्व भी आत्मा से बाह्य कोई उपलब्धि नहीं है। वह तो इच्छा और वासनाजन्य विकारों के समाप्त होने पर प्राप्त होता है। जिस प्रकार स्वस्थता शरीर की प्रकृति है और बीमारी विकृति है, उसी प्रकार समत्व या समभाव चेतना की प्रकृति है और विषमता या विभाव उसकी विकृति है। विकृतियों या विभाव के जाने पर ही स्वभाव की उपलब्धि होती है। अतः समत्वयोग की साधना का मूल लक्ष्य आत्मा की वैभाविक अवस्था को समाप्त करना है। स्वभाव पाया नहीं जाता है। वह विभाव के हटने पर स्वतः प्रकट होता है। समत्वरूपी साध्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे बाहर से प्राप्त किया जाये। वह तो हमारे स्वभाव का ही अंग है। इस प्रकार समत्वयोग में साध्य और साधक का निश्चयदृष्टि से अभेद है।

किन्तु साध्य और साधक के इस अभेद का यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार के स्तर पर ही उनमें अभेद माना जावे; क्योंकि साध्य और साधक के व्यवहार के स्तर पर भी अभेद मानेंगे, तो साधना

---

[२] 'जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भा. १ पृ. ४०८। -डॉ. सागरमल जैन।

[३] भगवतीसूत्र १/६।

की निरर्थकता सिद्ध होगी। स्वास्थ्य हमारा स्वभाव है; लेकिन हममें बीमारी या विकृति की सम्भावना ही नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साधना का लक्ष्य वस्तुतः स्वभाव में आई हुई विकृतियों को समाप्त करना है। इसलिये व्यवहार के स्तर पर समत्वयोग साधक वह व्यक्ति है, जिसमें विकार रहे हुए हैं। वस्तुतः विभाव दशा में रही हुई आत्मा ही साधक है; क्योंकि साधना का लक्ष्य विभाव से स्वभाव की ओर जाना है। अतः व्यवहार के स्तर पर हम यह कह सकते हैं कि जो आत्मा विभाव दशा में रही हुई है तथा इच्छाओं और आकाँक्षाओं की तनावपूर्ण स्थिति में है; वही साधक है और उसे ही अपनी साधना के द्वारा उस समत्वरूपी साध्य को उपलब्ध करना है। इस प्रकार निश्चयदृष्टि से समत्वयोग के साध्य और साधक में अभेद है। किन्तु व्यवहार के स्तर पर उन दोनों में भेद है; क्योंकि यदि दोनों में भेद स्वीकार नहीं करेंगे, तो साधनामार्ग की कोई अपेक्षा ही न रह जायेगी।

जहाँ तक समत्व के साधनामार्ग का प्रश्न है, जैनदर्शन में उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में स्वीकार किया गया है। समत्व की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम हमें अपने दृष्टिकोण को शुद्ध करना होता है। भौतिकवादी जीवनदृष्टि अथवा पदार्थों में आसक्ति जब तक रहेगी, तब तक समत्व की उपलब्धि सम्भव नहीं है। समत्व की उपलब्धि के लिये निश्चय से यह जानना आवश्यक है कि बाह्य पदार्थ न मेरे हैं, न मैं उनका हूँ। अतः बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि रखना और उनकी आकांक्षा रखना सम्यक् जीवनदृष्टि नहीं है। सम्यक् जीवनदृष्टि का विकास निराकांक्षा और निर्ममत्व की स्थिति में ही सम्भव है - यही सम्यग्दृष्टि है। समत्व की उपलब्धि के लिये सम्यग्दृष्टि का विकास आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि समत्व की साधना का प्रथम चरण है। समत्व की साधना का दूसरा चरण सम्यग्ज्ञान है। इच्छाओं और आकांक्षाओं का विकास आत्म-अनात्म के सम्यक् विवेक के अभाव में ही होता है। इच्छाओं का जन्म 'पर' में आत्मबुद्धि या राग भावना के कारण होता है। अतः साधना के दूसरे चरण में यह जानना आवश्यक है कि 'स्व' और 'पर' क्या है? 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान के बिना समत्व में अवस्थिति सम्भव नहीं है। 'स्व' और 'पर' के

सम्बन्ध में सम्यक् समझ उत्पन्न होने पर ही हम 'पर' से विमुख होकर 'स्व' में अवस्थित हो सकते हैं और तभी हमारी चेतना तनाव से मुक्त रह सकती है। इस प्रकार समत्वयोग की साधना का दूसरा चरण 'स्व' और 'पर' की सम्यक् समझ है; जिसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि और समयग्ज्ञान होने पर भी जब तक व्यक्ति का जीवन व्यवहार परिशुद्ध नहीं होता है, तब तक जीवन में समभाव की उपलब्धि सम्भव नहीं होती। समभाव की उपलब्धि के लिये इच्छाओं और आकांक्षाओं के घेरे को तोड़ना आवश्यक है। 'पर' को पर समझ लेना यह सम्यग्ज्ञान है। लेकिन 'पर' में रही हुई आसक्ति को समाप्त कर देना यह सम्यक्चारित्र है। साधना की पूर्णता सम्यक्चारित्र में ही है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञान के आधार पर जीवन व्यवहार के परिमार्जन का प्रयत्न है। सम्यग्ज्ञान समत्व को जानना है और सम्यक्चारित्र समत्व को जीना है। समत्व केवल जानने की वस्तु नहीं, वह जीने की वस्तु है। किन्तु जानना और जीना, यह साधक आत्मा से भिन्न होकर अपना अस्तित्त्व नहीं रखते। इसलिये जानना और जीना यह दोनों आत्मा की अवस्थाएँ हैं। जैनाचार्यों ने यह माना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आत्मा से तादात्म्य है, क्योंकि ये तीनों ही आत्मा की ही पर्यायावस्था की सूचक हैं। आत्मा से पृथक् न तो ज्ञान का अस्तित्व है; न श्रद्धा की सत्ता है और न चारित्र की सम्भावना है।

जैन धर्म में साध्य (मोक्ष) और साधक में अभेद ही माना गया है। समयसारटीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं कि परद्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।[४] आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साधक में अभेद बताते हुए कहते हैं कि कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और इन पर विजय पाना ही मोक्ष है।[५] मुनि न्यायविजय भी लिखते हैं कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जहाँ तक आत्मा

---

[४] समयसार टीका ३०५।

[५] योगसूत्र १-३।

कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, वह संसार है। उनको ही जब वह अपने वशीभूत कर लेती है, तब उसे मोक्ष कहा जाता है।[६] इस प्रकार साधक और साध्य दोनों ही आत्मा हैं। दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषयों और कषायों के वशीभूत रहती है, तब तक वह साधक है और जब उन पर विजय पा लेती है, तब वही साध्य बन जाती है।

जैन धर्म में साध्य और साधक दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि आत्मा की अपूर्णता की अवस्था ही साधक अवस्था है और आत्मा की पूर्णता की अवस्था ही साध्य है। साधक उसे बाह्य रूप से प्राप्त नहीं कर सकता; उसके भीतर में ही नवनीत रहा हुआ है और उसको क्षमता या समत्व से प्राप्त करने की आवश्यकता है। जैसे बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं। उपाध्याय अमरमुनि कहते हैं कि जैन साधना 'स्व' में स्व को उपलब्ध करना, निज में जिनत्व की शोध करना और आत्मा में पूर्ण रूप से रमण करना है। द्रव्यार्थिकदृष्टि से साध्य और साधक दोनों एक ही हैं; यद्यपि पर्यायार्थिकदृष्टि या व्यवहारनय से उनमें भेद है।[७] आत्मा की स्वभाव दशा साध्य है और उसकी विभाव पर्याय ही साधक है। विभाव से स्वभाव की ओर गति ही साधना है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप यह साधना पथ है और जब ये सम्यक्चतुष्टय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसौख्य और अनन्तशक्ति को उपलब्ध कर लेते हैं, तब वही अवस्था साध्य बन जाती है। इस प्रकार जो साधक चेतना का स्वरूप है, वही सम्यक् बनकर साधना पथ बन जाता है और उसी का पूर्ण रूप साध्य होता है। साधना पथ और साध्य दोनों ही आत्मा की अवस्थाएँ हैं। आत्मा की सम्यक् अवस्था साधना पथ है और पूर्ण अवस्था साध्य है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी साधनामार्ग भी आत्मा

---

६ अध्यात्मतत्त्वालोक ४, ६ ।

७ सामायिकसूत्र ('जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४३२ -डॉ. सागरमल जैन से उद्धृत) ।

से भिन्न नहीं है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि साध्य, साधक और साधनामार्ग में अभेद है। किन्तु इस अभेद का तात्पर्य इतना ही है कि अस्तित्त्व की दृष्टि से साध्य, साधक और साधनामार्ग एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। आत्मा का समत्वरूप स्वभाव ही साध्य है और उस समत्व को पूर्ण रूप से उपलब्ध करने का प्रयत्न करनेवाली आत्मा ही साधन है। उस समत्व की उपलब्धि के सम्बन्ध में जो प्रयत्न और पुरुषार्थ किया जाता है, वह साधनामार्ग है। इस प्रकार साध्य, साधक और साधनामार्ग में एक अभेद है, किन्तु व्यवहार के स्तर पर इन तीनों में भेद भी है। समत्वरूपी स्वभाव में अवस्थिति साध्य है; विभाव से स्वभाव की ओर प्रयत्नशील आत्मा साधक है और विभाव को समाप्त कर स्वभाव को पुनः उपलब्ध कर लेना साधना है। विभाव व स्वभाव दोनों ही आत्मा की पर्यायें हैं। विभाव पर्याय में रहने वाली आत्मा को तब तक साधक कहा जाता है जब तक वह विभाव से स्वभाव में जाने का प्रयत्न करती है। यदि उसमें इस प्रयत्न का अभाव हो जाये, तो वह साधक की कोटि में नहीं आती। यह दो स्थितियों में होता है। इस हेतु प्रयत्न प्रारम्भ न करने पर या समत्व की उपलब्ध कर लेने पर। इसलिये साध्य और साधक में भेद भी है। पुनः विभाव से स्वभाव में आने या तनावों को समाप्त कर समत्व की उपलब्धि के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह साधनामार्ग है। यदि विभाव से स्वभाव में जाने के लिये कोई प्रयत्न या पुरुषार्थ न हो, तो साधनामार्ग का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। साधक जिस पर चलकर साध्य को उपलब्ध करता है, वही साधनामार्ग है। इस प्रकार साध्य, साधक और साधनामार्ग में निश्चयनय की अपेक्षा से अभेद है, किन्तु व्यवहार की अपेक्षा से इनमें भेद भी है। अब हम जैनदर्शन की दृष्टि से साध्य, साधक और साधनामार्ग के स्वरूप पर किंचित् विस्तार से विचार करेंगे।

३.२ समत्वयोग का साध्य समभाव की उपलब्धि :

भारतीय दर्शनों एवं धर्मों में साधना का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति माना गया है। यद्यपि सभी भारतीय दार्शनिक किसी न किसी रूप में मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण की अवधारणा की चर्चा करते

हैं, किन्तु उसके स्वरूप को लेकर उनमें मतभेद पाये जाते हैं। किन्तु ये मतभेद मुख्यतः दार्शनिक या तत्त्व-मीमांसीय मतभेदों के आधार पर रहे हुए हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सभी भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष को एक प्रशान्त अवस्था माना है। मोक्ष या निर्वाण की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कुछ कहते हैं कि वासनाओं एवं वितर्कों के प्रहाण से प्रशान्त मनोदशा या चित्तसमाधि ही निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ है, चित्त का राग-द्वेष के मल से रहित निष्पाप एवं निश्छल होना। इतिवुत्तक में बुद्ध कहते हैं कि वह (निर्वाण) ध्रुव है, न उत्पन्न होने वाला है; शोक और राग रहित है। वहाँ सभी दुःखों का निरोध हो जाता है।[८] उदान में बुद्ध कहते हैं कि गर्म लोहे पर घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं, वे बुझ जाती हैं; वे कहाँ गईं, इसका कोई पता नहीं चलता।[९] इसी प्रकार कामनाओं के बन्धन से मुक्त निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई पता नहीं लगा सकता। आगे वे कहते हैं कि "भिक्षुओं ! न तो मैं उसे अगति कहता हूँ, न गति कहता हूँ, न स्थिति कहता हूँ और न च्युति कहता हूँ।" निर्वाण का समझना आसान नहीं है। यहाँ मात्र यह समझना पर्याप्त है कि जब ज्ञानी की तृष्णा नष्ट हो जाती है, तब उसे रागादि क्लेश नहीं रहते हैं और तब ही निर्वाण की उपलब्धि होती है। वस्तुतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति है, जहाँ संज्ञा (इच्छाएँ और आकांक्षाएं) निरूद्ध हो जाती हैं, संस्कार शान्त हो जाते हैं और वेदना समाप्त हो जाती है। लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्ति विज्ञानों की अप्रमत्त अवस्था है। वह चित्तप्रवृत्तियों का निरोध है।[१०] स्थिरमति के अनुसार क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय हो जाना ही निर्वाण है। असंग के अनुसार निवृत्त चित्त अचित्त होता है; क्योंकि वह न तो विषयों का ग्राहक होता है और न उसमें विकल्प या वितर्क रहते हैं। लेकिन अचिंत्य होते हुए भी वह कुशल है; शाश्वत् है; सुखरूप है; विमुक्तकाय है और धर्माख्य है।[११] इस प्रकार हम

---

[८] इतिवुत्तक २/२/६ ।

[९] उदान ८/१० ।

[१०] लंकावतारसूत्र २/६२ ।

[११] त्रिंशिका-विज्ञप्ति भाष्य (उद्धृत् 'बौद्ध धर्म मीमांसा' पृ. १५०) ।

देखते हैं कि तनावों को उत्पन्न करने वाली अशान्त चित्तवृत्ति का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। वह स्व-संकल्पों, इच्छाओं और आकांक्षाओं का अभाव है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो निर्वाण इच्छाओं और आकांक्षाओं का समाप्त हो जाना ही है। इनके समाप्त होने से चित्त निर्विकल्प हो जाता है। जब तक जीवन में इच्छाएँ और आकांक्षाएँ रहती हैं, तब तक व्यक्ति की चेतना तनावग्रस्त और अशान्त रहती है। अतः समस्त साधना पद्धतियों का लक्ष्य मन या चित्त की इस अशान्त और तनावग्रस्त अवस्था को समाप्त करने का है। इसे ही निर्वाण या मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष या निर्वाण वस्तुतः इसी जीवन में उपलब्ध किया जाता है।

डॉ. प्रीतम सिंघवी अपने 'समत्वयोग : एक समन्वय दृष्टि' में लिखती हैं कि जीवन चेतनतत्त्व की सन्तुलन शक्ति है। चेतना जीवन है और जीवन का कार्य है, समत्व का संस्थापन। नैतिक जीवन का उद्देश्य एक ऐसे समत्व की स्थापना करना है, जिससे आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष और आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष समाप्त हो जाये। समत्व जीवन का साध्य है – वही नैतिक शुभ है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष आदि सभी जीवन की विषमता, असन्तुलन या तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत वासनाशून्य, निष्काम, अनासक्त एवं वीतरागदशा ही नैतिक दृष्टि से शुभ मानी जा सकती है; क्योंकि यह समत्व का सृजन करती है। समत्वपूर्ण जीवन ही आदर्श जीवन है। पूर्ण समत्व की यह अवस्था जैन धर्म में वीतरागदशा, गीता में स्थितिप्रज्ञता तथा बौद्धदर्शन में आर्हतावस्था के नाम से जानी जाती है।[१२] व्यक्ति का चित्त जब राग-द्वेष और मोह से रहित हो जाता है; तृष्णाएँ और आकांक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं; तभी मुक्ति या निर्वाण का प्रकटीकरण होता है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार निर्वाण किसी अनुपलब्ध वस्तु की उपलब्धि नहीं है। वह तो आत्मोपलब्धि है। वह एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें पाना कुछ भी नहीं है, वरन् सब कुछ खो देना है। वह पूर्ण रिक्तता और शून्यता है। किन्तु सब कुछ खो देने पर

---

[१२] समत्वयोग : एक समन्वय दृष्टि पृ. ३०। -डॉ. प्रीतम सिंघवी।

भी इस अवस्था में सब कुछ पा लिया जाता है। पूर्ण रिक्तता पूर्णता बनकर प्रकट होती है। जितनी मात्रा में वासनाएँ, अहंकार और चित्त के विकल्प क्षीण होते हैं, उतनी ही मात्रा में आत्मोपलब्धि या आत्म साक्षात्कार होता है। जब चेतना में इनका पूर्ण अभाव होता है, तभी मोक्ष या आत्मपूर्णता की उपलब्धि होती है। वह चित्त की विमुक्ति है और स्वतन्त्रता है।[१३]

इस प्रकार मोक्ष या निर्वाण वह अवस्था है, जहाँ राग-द्वेष, भय, इच्छा, आकांक्षा सभी समाप्त हो जाते हैं और व्यक्ति एक प्रशान्त अवस्था को प्राप्त करता है। इस आधार पर यदि विचार करें, तो मोक्ष या निर्वाण, जिसे भारतीय चिन्तन ने जीवन का लक्ष्य निरूपित किया है; वह अन्य कुछ नहीं - केवल चेतना के समत्व की स्थिति है। इस प्रकार समत्व ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। पूर्ण समत्व की अवस्था और निर्वाण या मोक्ष की अवस्था एक दूसरे की पर्यायवाची ही हैं। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर ने कहा है कि "समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।"[१४] आचार्य कुन्दकुन्द भी लिखते हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के जो परिणाम हैं, वही समत्व है और वही जीवन का साध्य है।[१५] इसे ही मोक्ष कहा जाता है।

इस प्रकार समत्वयोग की साधना का साध्य वस्तुतः चित्तसमाधि या चित्त की निर्विकल्प दशा की प्राप्ति ही है। इस निर्विकल्प चित्त को ही जैनदर्शन में वीतराग अवस्था कहा गया है। बौद्धदर्शन इसे अर्हतावस्था और गीता इसे स्थितप्रज्ञ दशा कहता है। इस वीतराग, वीततृष्ण या अनासक्त दशा की प्राप्ति ही हमारे जीवन का साध्य है; क्योंकि इस अवस्था में ही चित्त पूर्णतः निर्विकल्प एवं समाधि की स्थिति में होता है। ऐसे वीतराग या वीततृष्ण व्यक्तित्व का चित्रण हमें सभी भारतीय दर्शनों में मिलता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा इस शोध प्रबन्ध के पांचवे अध्याय में की गई है।

---

[१३] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४१४। -डॉ. सागरमल जैन।

[१४] भगवतीसूत्र १/६।

[१५] 'तेसिं विसुद्धदंसणणाणहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ।। ५ ।।' -प्रवचनसार १।

३.३ समत्वयोग के साधक का स्वरूप :

समत्वयोग का साधक जीव या आत्मा को माना गया है। जीव या आत्मा के स्वरूप का निर्वचन दो रूपों में पाया जाता है - एक व्यवहारिक स्तर और दूसरा आध्यात्मिक स्तर पर। व्यवहारिक स्तर पर शरीरधारी और विभावदशा में जीनेवाला व्यक्ति ही समत्वयोग का साधक माना जा सकता है; क्योंकि जिसने समत्व को पूर्णतः उपलब्ध कर लिया है उसके लिये साधना की कोई अपेक्षा नहीं है। समत्वयोग की साधना तो उसी व्यक्ति को करना है, जो वर्तमान में विषय वासनाओं तथा इच्छाओं व आकांक्षाओं से ग्रस्त है। जैन धर्म में आत्मा की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं - एक स्वभाव अवस्था और दूसरी विभाव अवस्था। स्वभाव अवस्था की अपेक्षा से तो आत्मा को समत्वरूप ही माना गया है। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर ने आत्मा को समत्वरूप कहा है। समत्व यह आत्मा का स्वलक्षण या स्वभाव है। आत्मा के लिये जैनदर्शन में आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समय' शब्द का भी प्रयोग किया है। वस्तुतः जो समत्व से युक्त है, वही समय अर्थात् आत्मा है। समय का अर्थ होता है - जो अच्छी तरह चलता रहे, शाश्वत रहे। काल कभी रूकता नहीं है, इसलिए समय कहलाता है। आत्मा भी शाश्वत होती है, इसलिए समय कहलाती है। *'सम्यक् एति इति समयः समइयम् सम् ए अ।'* सम्+अय्+अ = समय। समत्व से समय का कोई तालमेल नहीं है। आत्मा के इस समत्वस्वरूप की पुष्टि डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक' अध्ययन के द्वितीय भाग में की है। वे लिखते हैं कि "जहाँ जीवन है, चेतना है; वहाँ समत्व रखने के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यह है कि वह बाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर साम्यावस्था बनाये रखने की कोशिश करता है।"[१६] इसकी पुष्टि में वे फ्रायड का एक उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं। फ्रायड लिखते हैं कि "चैतसिक जीवन और

---

[१६] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १। -डॉ. सागरमल जैन।

सम्भवतः स्नायविक जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति यही है कि वह आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करने और साम्यावस्था को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है।"[७७] एक लघु कीट भी अपने को वातावरण से समायोजित करने का प्रयास करता है। चेतन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सदैव समत्वकेन्द्र की ओर बढ़ना चाहता है। समत्व के हेतु प्रयास करना जीवन का सार तत्त्व है। न केवल आध्यात्मिक, अपितु मनोवैज्ञानिक एवं जैविक स्तर पर भी समत्व जीवन का लक्षण सिद्ध होता है।

समत्व जीवन का या आत्मा का स्वभाव या स्वलक्षण है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा में विभाव या विचलन की स्थिति नहीं है। संसार के प्राणियों में समत्व से विचलन पाया जाता है। समत्व से विचलन आत्मा की विभावदशा या वैभाविक अवस्था है। संसारी आत्मा इससे ग्रसित रहती है। विभाव दशा में स्थित सांसारिक आत्मा को ही साधक कहा गया है।

जैनदर्शन में मुक्ति को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त बताया गया है। मुक्तावस्था में आत्मा/व्यक्ति इन चारों से युक्त रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि संसारदशा में आत्मा में इनका अभाव होता है। संसारदशा में ये आत्मा की शक्तियाँ अव्यक्त होती हैं और मुक्तावस्था में व्यक्त होती हैं। मुक्ति का अर्थ चेतना पर आये हुए कर्मों के आवरण को समाप्त करना ही है; ताकि आत्मा में रहे हुए अनन्तचतुष्टय अभिव्यक्त हो सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में साधक और साध्य में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जिनमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अनभिव्यक्त अवस्था में है, किन्तु जो इन्हें प्रकट करने के लिये प्रयत्नशील हैं, वे साधक हैं और जिनमें ये गुण प्रकट हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं। इसी प्रकार जैनदर्शन में उसी आत्मा को साधक कहा जाता है, जिसमें अभी वीतरागता या सर्वज्ञता के

---

[७७] 'Beyond the pleasure principle-5' - Freud.

-उद्धृत अध्यात्मयोग और चित्त विकलन पृ॰ २४६ ।

लक्षण अभिव्यक्त नहीं हुए; यद्यपि ये गुण भी उसकी सत्ता में निहित हैं। इसलिये साधक आत्मा वही है, जो अपनी आत्मिक शक्तियों और अपने समत्वगुण से परिचित तो है, किन्तु अभी उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर पाई है। जो अपनी इन आत्मिक शक्तियों या गुणों को प्रकट करना चाहता है, उसे साधक कहा जाता है।

एक अन्यापेक्षा से जैनदर्शन में आत्मा को राग-द्वेष आदि से रहित माना गया है; क्योंकि ये उसके स्वाभाविक गुण नहीं हैं, अपितु विभावदशा के सूचक हैं। किन्तु संसार अवस्था में आत्मा राग-द्वेष, विषय-कषाय एवं इच्छा-आकांक्षा से युक्त होती है। यह उसके विचलन की अवस्था हैं। जो आत्मा राग-द्वेष एवं विषय-कषाय जन्य तनावों को समाप्त करके अपने को समभाव या समत्व में स्थिर करना चाहती है; उसे ही साधक आत्मा कहा जाता है। संक्षेप में कहें तो जो व्यक्ति अपने में निहित अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रकट करना चाहता है; राग-द्वेष, विषयों और कषायों से ऊपर उठकर वीतरागदशा को प्राप्त करना चाहता है अथवा इच्छा-आकांक्षाजन्य तनावों को समाप्त करके समभाव में स्थित होना चाहता है, वही समत्वयोग का साधक माना जाता है।

३.४ समत्वयोग की साधना के विभिन्न चरण

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है, समत्वयोग की साधना राग-द्वेष और मोह तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायों से ऊपर उठने की साधना है; क्योंकि क्रोध, मान, माया और लोभ के तत्त्व ही हमारे चित्त के समत्व को भंग करते हैं। अतः साधक को समत्वयोग की साधना के लिये इनसे ऊपर उठने की आवश्यकता है। समत्वयोग का साधक इनसे किस क्रम से ऊपर उठ सकता है, इसका विवेचन जैनदर्शन के गुणस्थान सिद्धान्त में हमें विस्तार से मिलता है। जैनदर्शन का यह मानना है कि व्यक्ति के बन्धन का मूल कारण तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाएँ ही हैं। अतः समत्वयोग की साधना में कषायों से ऊपर उठना आवश्यक है। जैन कर्म-सिद्धान्त बन्धन रूप आठ कर्मों में

मोहनीयकर्म को प्रधान मानता है। मोहनीयकर्म के दो भेद किये गये हैं – दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म। दर्शनमोहनीयकर्म व्यक्ति की दृष्टि को दूषित करता है और चारित्रमोहनीयकर्म व्यक्ति के आचरण को दूषित करता है। व्यक्ति के जीवन का दृष्टिकोण और उसका आचरण सम्यक् हो, वह कषायों और वासनाओं से ऊपर उठे, यही समत्वयोग की साधना है। यह समत्वयोग की साधना किस क्रम से सम्भव है, उसके कौन-कौन से चरण हैं? इसका विचार करना आवश्यक है।

समत्वयोग की साधना के लिये दृष्टिकोण की विशुद्धि आवश्यक है। भोगवादी जीवनदृष्टि समत्वयोग की साधना को सफल नहीं होने देती। समत्वयोग की साधना के लिये त्यागमूलक जीवनदृष्टि आवश्यक है। त्यागवृत्ति का विकास होने पर ही आसक्ति या राग का प्रहाण हो सकता है और उसके प्रहाण से ही कषायों का उपशम या क्षय सम्भव है। अतः भौतिक या भोगवादी दृष्टि का परित्याग करके संयमवादी और निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि को स्वीकार करने पर ही समत्वयोग की साधना आरम्भ की जा सकती है। जैन धर्म में इस प्रक्रिया को दर्शनविशुद्धि या सम्यक्दृष्टि का उद्भावन कहा गया है। यह समत्वयोग की साधना का प्रथम चरण है; क्योंकि जब तक व्यक्ति की समझ ठीक नहीं होती, तब तक उसका आचरण और व्यवहार भी सम्यक् नहीं हो सकता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने समत्व की सिद्धि के प्रथम चरण के रूप में दर्शनविशुद्धि या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को आवश्यक माना है। समत्वयोग की साधना का दूसरा चरण विवेक और समता का विकास करना है। जब तक व्यक्ति स्व-पर के भेद को नहीं समझता – उसमें आत्म-अनात्म का विवेक जाग्रत नहीं होता, तब तक उसकी आसक्ति नहीं टूटती है। आसक्ति को तोड़े बिना न तो दृष्टिकोण सम्यक् बन पाता है और न ही आचरण सम्यक् बन पाता है। इस कारण से समत्व की उपलब्धि भी नहीं होती है। इसलिये समत्वयोग की साधना में दूसरा चरण आत्म-अनात्म का विवेक या भेद विज्ञान है। जिसे आत्म-अनात्म का विवेक हो जाता है, उसकी 'पर' के प्रति कोई आसक्ति नहीं रहती और 'पर' के प्रति आसक्ति समाप्त होने पर ही समत्वयोग की साधना की

सफलता निर्भर होती है। किन्तु दृष्टि की विशुद्धि और विवेक तथा समता का विकास वासना या कषाय के उपशान्त हुए बिना सम्भव नहीं है। अतः वासनाओं और कषायों को उपशान्त करने के लिये प्रयत्न या पुरुषार्थ आवश्यक है। इसे ही जैनदर्शन की भाषा में सम्यक्चारित्र कहा गया है। इस प्रकार दृष्टि की विशुद्धि और आत्म-अनात्म के विवेक का विकास कहीं न कहीं कषायों के उपशमन या सम्यक्चारित्र पर निर्भर रहा है। यद्यपि जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के तीन चरण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र माने गये हैं, किन्तु वे परस्पर सापेक्ष हैं। आध्यात्मिक विकास अथवा समत्वयोग या वीतरागता की साधना के जो विविध चरण माने गये हैं, उनमें सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की उपलब्धि (दर्शनविशुद्धि) को आवश्यक माना गया है। किन्तु जैनदर्शन का गुणस्थान सिद्धान्त सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और दर्शनमोह के त्रिक का क्षय या उपशम आवश्यक मानता है। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का तात्पर्य क्रोध, मान, माया और लोभ की तीव्रतम अवस्थाएँ हैं। जब तक क्रोध, मान, माया और लोभ की तीव्रता समाप्त नहीं होती, तब तक समत्वयोग की साधना में प्रथम पद निक्षेप भी नहीं होता। क्रोध, मान, माया और लोभ की इस तीव्रतम अवस्था के नियन्त्रण से ही विवेकबुद्धि का विकास और दृष्टि की विशुद्धि सम्भव है। मनुष्य में वासना और विवेक का अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। जब तक वासनाओं पर अंकुश नहीं लगता, तब तक विवेक का प्रकटन सम्भव नहीं है। दूसरी ओर बिना विवेक के जाग्रत हुए वासनाओं पर अंकुश भी नहीं लगाया जा सकता। अतः समत्वयोग की साधना के क्षेत्र में विकास करने के लिये विवेक का विकास और वासना का नियन्त्रण दोनों ही आवश्यक है।

समत्वयोग की साधना में आत्मा कैसे अपना कदम आगे बढ़ाती है, इस बात को जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा और गुणस्थान सिद्धान्त के द्वारा समझाया गया है। त्रिविध आत्मा की अवधारणा में आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं :

१. बहिरात्मा; २. अन्तरात्मा; और ३. परमात्मा।[१८]

इनमें बहिरात्मा मिथ्या जीवनदृष्टि या भोगवादी जीवनदृष्टि की परिचायक है। यह आध्यात्मिक समत्व की अपेक्षा उसकी विक्षिप्तता की अवस्था है। उसके पश्चात् अन्तरात्मा का क्रम आता है। अन्तरात्मा साधक आत्मा है। वह अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करती है और क्रमशः उसमें सफलता प्राप्त करती है। उसके पश्चात् परमात्मा का क्रम आता है। यह समत्वयोग की पूर्णता और वीतरागता की स्थिति है। बहिरात्मा सम्यक् जीवनदृष्टि को स्वीकार करके अन्तरात्मा के रूप में वासनाओं और कषायों को समाप्त करते हुए परमात्मदशा को प्राप्त करती है। इस प्रकार जैनदर्शन में त्रिविध आत्मा की अवधारणा के द्वारा भी समत्वयोग की साधना की प्रक्रिया को ही स्पष्ट किया गया है। किन्तु इस प्रक्रिया में बहिरात्मा और परमात्मा दोनों ही दो छोर हैं। समत्वयोग की साधना की प्रक्रिया अन्तरात्मा के माध्यम से चलती है। समत्वयोग की साधना या अन्तरात्मा के विकास के विविध चरणों का सम्यक् विवेचन जैनदर्शन के गुणस्थान सिद्धान्त में मिलता है। इस सिद्धान्त में तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ की स्थिति, जिसे जैनदर्शन की परिभाषा में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क कहा गया है, उससे ऊपर उठते हुए पूर्ण वीतरागता की स्थिति प्राप्त करने के चौदह चरणों का उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना में आध्यात्मिक विकास के निम्न चौदह चरण बताये गये हैं। उन्हें गुणस्थान की संज्ञा दी जाती है। आगे हम क्रमशः इन चरणों या गुणस्थानों की विवेचना करेंगे। जैनदर्शन में गुणस्थान की अवधारणा आध्यात्मिक विशुद्धि के विभिन्न स्तरों को सूचित करने के लिये उपलब्ध होती है। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन इसी अवधारणा के आधार पर होता है। मोह और योग के कारण जीवन के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है। कर्मों का उदय,

---

[१८] (क) अध्यात्ममत परीक्षा गा. १२५;
(ख) योगावतार द्वात्रिंशिका १६-१२; और
(ग) 'तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो 'हु' देहीजं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चइवि बहिरप्पा ।। ४ ।।' -मोक्खपाहुड ६।

गुणस्थानक

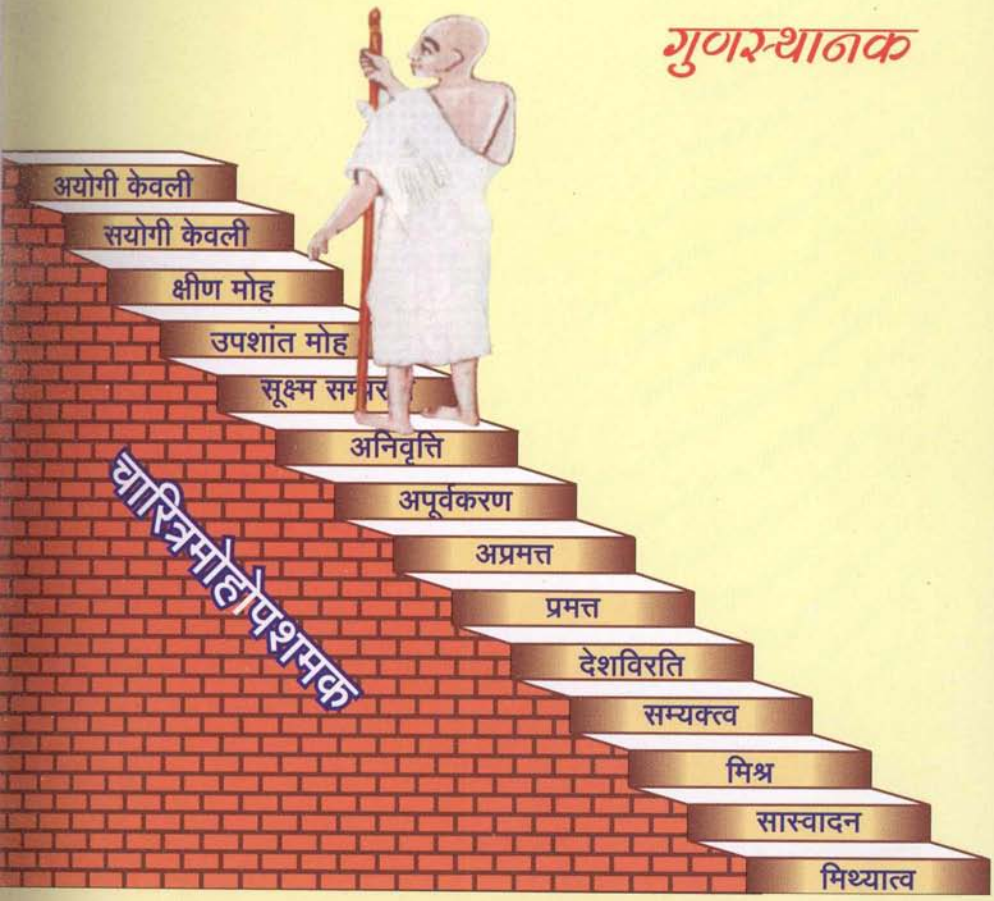

मिथ्या दृष्टि

उपशम, क्षय और क्षयोपशम ही गुणस्थानों का प्रमुख कारण है। यह गुणस्थान शब्द दो शब्दों से बना है – गुण+स्थान। गुण का अर्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से है और स्थान का अभिप्राय अवस्था, स्थिति या श्रेणी विशेष से है। जीवात्मा की अशुद्धतम अवस्था के परिहार से लेकर शुद्धतम दशा अर्थात् मुक्तावस्था तक की विकास भूमिकाएँ गुणस्थान हैं। इन गुणस्थानों से आत्मा उत्तरोत्तर विशुद्ध होकर समत्वयोग में प्रगति करती है। समत्वयोग की इन अवस्थाओं से आगे बढ़ते-बढ़ते विकास की उच्चतम दशा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने में ये गुणस्थान कार्यकारी हैं। जैनदर्शन में इन चौदह गुणस्थानों को निम्न नामों से अभिहित किया गया है :

१. मिथ्यात्व;	२. सास्वादन;
३. मिश्र;	४. अविरत सम्यग्दृष्टि;
५. देश-विरत सम्यग्दृष्टि;	६. प्रमत्तसंयत;
७. अप्रमत्तसंयत (अप्रमत्तविरत);	८. अपूर्वकरण;
९. अनिवृत्तिकरण;	१०. सूक्ष्मसम्पराय;
११. उपशान्तमोह;	१२. क्षीण मोह;
१३. सयोगी केवली; और	१४. अयोगी केवली।[१६]

प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है तथा पांचवे से बारहवाँ गुणस्थान सम्यक्चारित्र को दर्शाता है। तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान :

इस गुणस्थान में आत्मा में यथार्थज्ञान या बोध का अभाव होता है। यथार्थ बोध के अभाव के कारण आत्मा निरन्तर बाह्य पदार्थों से सुख प्राप्त करने की कामना करती है और आन्तरिक सुख से वंचित रह जाती है।

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के उदय से जीव की प्रवृत्ति भी मिथ्या हो

---

[१६] 'मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदापमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ ९ ॥
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा च णादव्वा ॥ १० ॥' –गोम्मटसार जीवकाण्ड।

जाती है।[२०] उसकी श्रद्धा भी विपरीत होती है; जैसे धतूरे के बीज खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है। इसी कारण वह सर्वज्ञ भाषित तत्त्वों में विपरीत श्रद्धा करता है। वह सुदेव को कुदेव, सुगुरू को कुगुरू और सुधर्म को कुधर्म मानता है। तदनुसार कुदेव को सुदेव, कुगुरू को सुगुरू तथा कुधर्म को सुधर्म मानकर वह उनके प्रति आस्था रखता है।[२१] उसे आत्म और अनात्म - 'स्व' और 'पर' का विवेक नहीं होता। वह अधर्म को धर्म, असत्य को सत्य मानकर चलता है, दिग्मूढ़ होकर लक्ष्य से विमुख भटकता रहता है और अपने गन्तव्य को प्राप्त नहीं कर पाता।[२२]

सामान्यतः मिथ्यादृष्टि जीव की अभिरुचि आत्मोन्मुख नहीं होती है। उसकी रूचि बाह्य पदार्थों की उपलब्धि की होती है। वह बाह्य पदार्थों को अपने हित और सुख का साधन समझता है। उसकी दृष्टि भौतिक या भोगवादी होती है। डॉ. सागरमल जैन गुणस्थान सिद्धान्त में लिखते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थान में आत्मा दर्शनमोह और चारित्रमोह की कर्म प्रकृतियों से प्रगाढ़ रूप से जकड़ी हुई होती है। मानसिक दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान में प्राणी तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ (अनन्तानुबन्धी कषाय) के वशीभूत रहता है। वासनात्मक प्रवृत्तियाँ उस पर पूर्ण रूप से हावी होती हैं, जिनके कारण वह सत्यदर्शन, समत्व या आदर्श आचरण से वंचित रहता है।[२३] जैन विचारधारा के अनुसार संसार की अधिकाँश आत्माएँ मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहती हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में रही हुई ये आत्माएँ भी दो प्रकार की हैं :

१. भव्य आत्मा : जिस आत्मा को योग्य निमित्त मिलने पर यथार्थ का बोध हो सकता है और अपने आध्यात्मिक विकास या

---

२० (क) 'मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अट्ठाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं, संसइदमण्णाणं ।। १५ ।।' -वही ।
(ख) 'तत्वाणि जिन दृष्टानि, यस्तद् यानि न रोचते ।
मिथ्यात्वस्योदये जीवो, मिथ्यादृष्टिरसौ अतः ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १/११ ।

२१ 'आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं एवं पूर्णता' पृ. २५ ।

२२ 'गुणस्थानक्रमारोह', श्लोक ८ । -रत्नशेखरसूरि ।

२३ 'गुणस्थान सिद्धान्त' षष्ठम् अध्याय पृ. ५२ ।

समत्व की पूर्णता को प्राप्त कर सकती है, उसे भव्य आत्मा कहा जाता है।

२. अभव्य आत्मा : जो आत्मा कभी भी अपना आध्यात्मिक विकास करने में समर्थ नहीं है और जिसे यथार्थ बोध की प्राप्ति असम्भव है, वह अभव्यात्मा है।[२४]

मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा में तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ की उपस्थिति के साथ मिथ्यात्वमोह का भी उदय रहता है। यह मिथ्यात्व पांच प्रकार है :

१. अभिग्रह मिथ्यात्व; २. अनभिग्रह मिथ्यात्व;
३. अभिनिवेशिक मिथ्यात्व; ४. संशय मिथ्यात्व; और
५. अनाभोग मिथ्यात्व।[२५]

१. अभिग्रह मिथ्यात्व : इस मिथ्यात्व के उदय से व्यक्ति मिथ्यादेव, मिथ्यागुरू, और मिथ्याधर्म को मानने वाला होता है। अन्य की उसे जानकारी नहीं होती।

२. अनभिग्रह मिथ्यात्व : इस मिथ्यात्व के योग से जीव को सम्यक् समझ नहीं होती। वह सही को सही नहीं समझता है। चाहे सच्चे देव-गुरू-धर्म हो या मिथ्या देव-गुरू-धर्म हो, वह सभी को समान समझता है। इस कारण सुदेव आदि पर उसकी दृढ़ श्रद्धा नहीं होती।

३. अभिनिवेशिक मिथ्यात्व : इस मिथ्यात्व के उदय से व्यक्ति हठधर्मी होता है। मिथ्या उपदेश करता है और पकड़ी हुई मान्यता को नहीं छोड़ता है। यह दुराग्रह की अवस्था है।

४. संशय मिथ्यात्व : इस मिथ्यात्व के कारण आत्मा परमात्मा के आप्त वचनों में शंकित रहती है। वह वचनों को सुनकर संकल्प-विकल्प करती है। अहंकार एवं भय के कारण शंका का निवारण करने का प्रयत्न भी वह नहीं करती है।

५. अनाभोग मिथ्यात्व : इस मिथ्यात्व के कारण मनुष्य सच्चे देव, गुरू और धर्म के स्वरूप को नहीं जानता है और मानता भी

---

[२४] वही पृ. ५३।

[२५] (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. १५।
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका (पूज्यपाद) ८११।

नहीं है। वह केवल खाना, पीना और मौज उड़ाना, इसमें ही मस्त बना रहता है। अनाभोग मिथ्यात्व में व्यक्त और अव्यक्त दोनों मिथ्यात्व विद्यमान रहते हैं।

आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में कहा है कि मिथ्यादृष्टि उस सर्प के समान है जो दूध पीकर भी पुनः विष को उगालता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जिनवाणी को भी सुनता है, आगम का अध्ययन भी करता है; पर अपने मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है।[२६] प्रश्न होता है कि मिथ्यात्व को गुणस्थान क्यों माना गया है? मिथ्यात्व को गुणस्थान इसीलिये माना है कि जैसे सघन बादलों के आच्छादित होने पर सूर्य की प्रभा सम्पूर्णतः नहीं छिपती है, वैसे ही मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का उदय हो जाने पर जीव का दृष्टिगुण सम्पूर्णतः आच्छादित नहीं होता है, बल्कि आंशिक रूप से अनावरित रहता है। यदि ऐसा न माना जाय तो निगोदिया जीव को अजीव कहा जायेगा।[२७] आचार्य हरिभद्रसूरि ने मार्गाभिमुख अवस्था के चार विभाग किये हैं :

१. मित्रा; २. तारा; ३. बला; और ४. दीपा।[२८]

मिथ्यात्व के कारण अध्यवसायों में संक्लेश बना रहता है। इस सम्बन्ध में महोपाध्याय श्री यशोविजयजी लिखते हैं :

'पर परणति कर आपणी जाने, वरते आरत ध्याने।
साधकबाधकता नवि जाने, ते मिथ्यागुण ठाणे।।'[२९]

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद मिलते हैं :

१. अनादि अनन्त; २. अनादि सान्त; और ३. सादि सान्त।

१. अनादि अनन्त : अभव्य जीव अथवा जातिभव्य (जो जीव कभी मुक्त नहीं होते)। अभव्य जीवों का मिथ्यात्व अनादि अनन्त है।

---

[२६] 'पठन्नपिवचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुंचति।
कुदृष्टिः पडत्पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम् ।।' -अमितगति श्रावकाचार २/१५।

[२७] 'सव्व जीवाणं पि यणं, अक्खरस्स अणंत भागो निच्चु ग्घाडिओ चिट्ठइ।
जई पुण सो वि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा ।। ७५ ।।' -नंदी।

[२८] योगदृष्टि समुच्चय।

[२९] यशोविजयजी।

२. अनादि सान्त : जो जीव अनादि कालीन मिथ्यादर्शन ग्रन्थी का भेदन करके सम्यग्दृष्टि बन सकता है। वह जीव भव्य कहलाता है – उसका मिथ्यात्व अनादि सान्त होता है।

३. सादि सान्त : एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद जो जीव पुनः मिथ्यात्वी हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, उसकी अपेक्षा से मिथ्यात्व सादि सान्त है।[३०] क्योंकि जिस जीव ने एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति कर ली है, वह निश्चित ही मोक्षगामी है। जिस जीव के मिथ्यात्व की आदि है, उसके मिथ्यात्व का अन्त भी अवश्यम्भावी है। तीसरे भेद के अनुसार मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और देशोनअर्धपुद्गलपरावर्त है।[३१] मिथ्यात्वदशा में जब आत्मा के सभी कर्मों की स्थिति अन्तः कोटा-कोटि सागरोपम की रह जाती है, तो वह इसी गुणस्थान के अन्तिम चरण में यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृतिकरण करके ग्रन्थी-भेद करता हुई उसमें सफल होने पर विकास के सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करती है। मिथ्यात्व का क्षय या उपशम इसी अवस्था में होता है। अतः इसे भी गुणस्थान कहा गया है।

२. सास्वादन गुणस्थान

जिसमें सम्यक्त्व का आस्वादन अर्थात् स्वाद मात्र रह जाता है, उसको सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। जैसे खीर खाने के पश्चात् जब उसका वमन होता है, तो उस खीर का कुछ स्वाद अनुभव में आता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से पतित जीव जब मिथ्यात्व की ओर जाता है, तो वह कुछ समय तक सम्यक्त्व के आस्वादन का अनुभव करता है। इसलिये इसे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।[३२]

---

[३०] 'अभव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनाद्यनन्ता स्थितिर्भवेत् ।
सा भव्याश्रिता मिथ्यात्वे, अनादिसान्ता पुनर्मता ।।' -गुणस्थान क्रमारोह ।

[३१] गुणस्थान क्रमारोह ।

[३२] 'सम्मत्तरयण-पव्वयसिहरादो मिच्छभूमि समहिमुहो ।
णासिय सम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ।।'
-गोम्मटसार जीवकाण्ड २०; समयसार नाटक अ० १४ छंद २० ।

इसी सास्वादन को प्राकृत भाषा में सासायण कहा गया है और संस्कृत में इसके दो रूप मिलते हैं – सासादन और सास्वादन। श्वेताम्बर परम्परा में सास्वादन और दिगम्बर परम्परा में सासादन रूप प्रचलित है। इन दो रूपों के कारण दोनों की व्याख्याएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इसका अर्थ है – सम्यक्त्व के आस्वाद सहित; जबकि दिगम्बर परम्परा में इसका अर्थ है – सम्यक्त्व की विराधना सहित। वस्तुतः यह गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से विकासशील कहा जाता है, लेकिन फिर भी आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है। जब आत्मा ऊपर के गुणस्थानों से पतित होती है, तो प्रथम गुणस्थान में जाने से पूर्व इस गुणस्थान से गुजरती है।[३३] पतनोन्मुख आत्मा को मिथ्यात्व गुणस्थान तक पहुँचने की मध्यावधि जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः अवली समय की होती है।[३४] वही इस गुणस्थान का स्थितिकाल है। एक बार यथार्थबोध अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद मोहासक्ति के कारण आत्मा पुनः मिथ्यात्व को ग्रहण करती है। फिर भी उसे यथार्थता या सम्यक्त्व का आस्वाद बना रहता है। उस क्षणिक एवं आंशिक आस्वाद के कारण ही जीव की यह अवस्था सास्वादन गुणस्थान की कही जाती है। अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में बताया है कि सास्वादन गुणस्थान से गिरता हुआ जीव नियम से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है।[३५] षट्खण्डागम[३६] और गोम्मटसार जीवकाण्ड में सासादन गुणस्थान का अर्थ स (सहित) + आसादन अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना से युक्त है।[३७] धवला में "आसादनं सम्यक्त्वं विराधनं सह आसदनेन

---

३३ 'संयोजनोदये भ्रष्टो जीवः प्रथम दृष्टितः ।
अन्तरालात् मिथ्यात्वोवर्ण्यते श्रस्वदर्शनः ।।' -सं. पंचसंग्रह १/२० ।

३४ काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक अवली होती है । यह एक अवली प्रमाण काल भी एक मिनिट से बहुत छोटा होता है ।

३५ तत्त्वार्थवार्तिक ६/१/१३ पृ. ५८६ ।

३६ 'सासणसम्मादिट्ठी त्ति को भावो परिणामिश्रोभावो' -षड्खंडागम ५/१/७ सूत्र ३ ।

३७ (क) षट्खण्डागम १/१/१० ।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा. १६ ।
(ग) 'आसनं क्षेपण सम्यक्त्व विराधनं तेन सह वर्त्तते यः स सासनः ।'
(घ) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मंदप्रबोधिनी टीका गा. १६ ।

इति सासादन" अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहा गया है और आसादन से युक्त ही सासादन गुणस्थान है।[३८]

इस गुणस्थान में जीव को अनन्तानुबन्धी का उदय और सम्यक्त्व की विराधना होने के कारण आत्मा समत्व में स्थिर नहीं रह सकती है। समत्व की साधना की दृष्टि से इस गुणस्थान में क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक, दो या चारों की तीव्रतम स्थिति का उदय होता है। अतः यह असमत्व की अवस्था है।

३. मिश्र गुणस्थान

इस गुणस्थान का क्रम विकास श्रेणी में न आकर पतनोन्मुख श्रेणी में ही आता है, जिसमें अवक्रान्ति करनेवाली पतनोन्मुख आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर आती है और उत्क्रान्ति करनेवाली आत्मा, जिसने एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श किया हो, प्रथम गुणस्थान से निकलकर तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध करके यदि आत्मा पुनः पतित होती हो, तो प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती है और वही आत्मा उत्क्रान्ति काल में प्रथम गुणस्थान से सीधी तृतीय गुणस्थान में भी आ सकती है।[३९] इस गुणस्थानवर्ती जीव की निश्चयात्मक अवस्था नहीं होने के कारण कभी वह सम्यक्त्व की ओर अभिमुख होता है, तो कभी मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होता है। वह एक में स्थिर नहीं बन पाता है। दही और गुड़ के मिश्रित स्वाद जैसी यह स्थिति है। इसमें एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम होते हैं। जैसे कमरे में एक छोटे से दीप को जलाने से कमरे के एक कोने में ही प्रकाश होता है, शेष कमरे में अंधेरा ही बना रहता है, वैसे ही इस गुणस्थान में धर्म-बोध की कुछ झलक होती है। इस गुणस्थान वाले जीव न तो सर्वज्ञ कथित वचनों पर पूर्णतः श्रद्धा करते हैं और न ही पूर्णतः अश्रद्धा करते हैं। असमंजस की स्थिति में रहते हैं। इस मिश्रित परिणाम का मूल

---

[३८] (क) धवला १/१/१ पृ. १६३।
(ख) तत्वार्थवार्तिका ६/१/१३।

[३९] गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण पृ. ५४।

कारण सम्यक्-मिथ्यात्व नामक कर्म प्रकृति का उदय होता है। यह मिश्रगुणस्थान जीवन में संघर्ष की अवस्था का द्योतक है। इसमें सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ अथवा व्यक्ति में निहित पाशविक और आध्यात्मिक वृत्तियों के मध्य संघर्ष चलता रहता है। लेकिन जैन विचारधारा के अनुसार यह वैचारिक या मानसिक संघर्ष की अवस्था अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक नहीं रहती। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति ऊपर उठ जाता है, तो विकास क्रम में आगे बढ़कर यथार्थ का बोध कर लेता है अर्थात् वह चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है[४०] और यदि वह पाशविक वृत्तियों से आक्रान्त होता है, तो वह यथार्थ बोध से पुनः पतित होकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। वस्तुतः यह अनिश्चय की अवस्था है। अतः इस अवस्था में भी चेतना या आत्मा समत्व की स्थिति में नहीं रहती है। इस गुणस्थान में पहले गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि कुछ अधिक होती है।[४१]

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास का परिचायक है। इस गुणस्थान में जीव यथार्थता का बोध या सत्यता को उपलब्ध कर लेता है। वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य स्वीकर करता है। उसका दृष्टिकोण भी सम्यक् हो जाता है, लेकिन फिर भी आचरण उसके अनुरूप नहीं होता है।[४२] पूर्व संस्कारों के कारण अशुभ, असत्य को जानता हुआ भी उससे बच नहीं सकता। सत्य को जानना अलग है और सत्यमय हो जाना अलग है। सही रास्ते का ज्ञान हो जाना और उस पर चल पड़ना दोनों अलग-अलग

---

[४०] (क) 'सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंर सव्वधादिकज्जेण ।
णय सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ।।
दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो ।।' -गोम्मटसार जीवकांड २१, २२ ।

(ख) 'सम्यग् मिथ्यास्वचिर्मिश्रः सम्यग् मिथ्यात्व पाकतः ।
सुदुष्करः पृथाभावो दधिमिश्र गुडोपमः ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १/२२ ।

(ग) गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेष्ण पृ. ५६ । -गुणस्थान क्रमारोह ।

[४१] षट्खण्डागम ४/१०५, सूत्र १ ।

[४२] सं. पंचसंग्रह १/२३ ।

अवस्थाएँ है। उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् (यथार्थ) होने पर भी आचरणात्मक पक्ष असम्यक् होता है। जैनदर्शन की अपेक्षा से दर्शनमोहनीयकर्म के आवरण का अभाव होने पर या इस आवरण के क्षीण हो जाने पर जीवात्मा को यथार्थ का बोध तो होता है किन्तु चारित्रमोहनीयकर्म का उदय बना रहने से साधक का आचरण सम्यक् नहीं होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव एक अपंग व्यक्ति के समान होता है, जो देखता तो है किन्तु चल नही पाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मा सम्यक् मार्ग या समत्व के मार्ग को जानते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पाती, क्योंकि वह हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि सावद्य व्यापारों का परित्याग नहीं कर पाती है। इसलिये वह अविरत सम्यग्दृष्टि कही जाती है। पापजनक प्रवृत्तियों से पृथक् हो जाने को विरत कहते हैं। यदि कोई जीवात्मा पापजनक प्रवृत्तियों से विरत नहीं होती है, तो वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाती है।[४३] फिर भी अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मा में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के स्थायी तथा तीव्रतम आवेगों का अभाव होता है; क्योंकि जब तक कषायों के इन तीव्रतम आवेगों अर्थात् अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का क्षय या उपशम नहीं होता, तब तक उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मा का किसी अंश में समत्व की ओर झुकाव अवश्य रहता है।

जैन धर्म के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती आत्मा को निम्न सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना होता है :

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध; २. अनन्तानुबन्धी मान;
३. अनन्तानुबन्धी माया; ४. अनन्तानुबन्धी लोभ;
५. मिथ्यात्व मोह; ६. मिश्र मोह; और
७. सम्यक्त्व मोह।

आत्मा जब इन सात कर्म-प्रकृतियो को पूर्णतः क्षय करती है, तो ही वह सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है। वही क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त आत्मा इस

---

[४३] 'णो इन्दियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ।। २६ ।।' -गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ।

गुणस्थान से पुनः पतित नहीं होती है। वह अग्रिम विकास श्रेणियों में बढ़ती हुई अन्त में परमात्मस्वरूप को प्राप्त करती है। औपशमिक सम्यक्त्व वह कहलाता है, जिसमें वासनाएँ सम्पूर्णतः समाप्त नहीं होती, बल्कि उन्हें कुछ समय के लिये दबा दिया जाता है। अतः ऐसी आत्मा के यथार्थ दृष्टिकोण में अस्थायित्व होता है, जिसके कारण अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) के पश्चात् पुनः वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं और उनके कारण आत्मा सम्यक्त्व से फिर विमुख हो जाती है। इसी प्रकार आंशिक रूप से वासनाओं का क्षय और आंशिक रूप से दमित होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का जो बोध होता है, वह भी अस्थायी होता है; क्योंकि इसमें भी दमित वासनाएँ पुनः प्रकट होकर व्यक्ति की यथार्थ दृष्टि को धूमिल करके उसे सम्यक्त्व से गिरा देती है। वासनाओं के आंशिक क्षय और आंशिक दमन पर आश्रित यथार्थ दृष्टिकोण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह तीन भंगों से युक्त होता है :

१. चार का क्षय और तीन का उपशमन;
२. पांच का क्षय और दो का उपशमन; और
३. छः का क्षय और एक का उपशमन

उपशम सम्यक्त्व से यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अधिक निर्मल होता है। क्षायिक सम्यक्त्व तो सम्पूर्णतः निर्मल होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भवचक्र में असंख्य बार आता-जाता रहता है। किन्तु उपशम सम्यक्त्व श्रेणी आरोहण करने की स्थिति में अधिकतम चार बार ही आता है। क्षायिक सम्यक्त्व भवचक्र में केवल एक बार ही आता है। इसमें रही हुई आत्मा का या तो तद्भव में मोक्ष हो जाता है या अधिक से अधिक तीन या चार भव में मोक्ष होता है।

समत्व की साधना की अपेक्षा से इस गुणस्थान में आत्मा चारों कषायों की अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का क्षय करके आंशिक समत्व को प्राप्त करती है। उसमें कषायों के आवेग तीव्रतम नहीं होते हैं।

५. देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास का पांचवा सोपान है। इस गुणस्थान से संयम की साधना का प्रारम्भ होता है। व्यक्ति आंशिक

रूप से सम्यक् आचरण करने लगता है। इस गुणस्थान का दूसरा नाम विरताविरत भी है; क्योंकि इस गुणस्थानवर्ती आत्मा सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखती हुई त्रस जीवों की हिंसा से विरत होती है, किन्तु स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं होती। फिर भी वह निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करती है। त्रस जीवों के त्याग की अपेक्षा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा से अविरत होने से यह गुणस्थान विरताविरत कहलाता है।[४४] देशसंयत और संयतासंयत इसके दूसरे पर्यायवाची नाम है।

श्रावक के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार कुल बारह व्रत होते हैं। इनका पालन करने वाला देशविरत कहलाता है। देशविरत वह है, जिसने अपने जीवन को संयम की परिधि में बांधना शुरू किया है। दूसरे शब्दों में उसने अपने जीवन को संयमित और नियन्त्रित करना प्रारम्भ कर दिया है। ऐसे श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हुए समत्व को प्राप्त करते हैं। वे बारह व्रतधारी होते हैं और बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं। वासनामय जीवन से आंशिक रूप से निवृत्त होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन आदि अशुभाचार तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से भी आंशिक रूप से विरक्त होते हैं। ऐसे देशविरत श्रावक आत्मकल्याण करते हुए समत्व को प्राप्त करते हैं। इस गुणस्थान में साधक यद्यपि गृहस्थाश्रमी होता है, फिर भी वह अपनी वासनाओं पर यथाशक्ति नियन्त्रण करने का प्रयास करता है। उसको जो उचित प्रतीत होता है, वह उसका आचरण करने की भी कोशिश करता है। चतुर्थ गुणस्थान में वासनाएँ एवं कषायों के आवेग प्रकट होते हैं, व्यक्ति उन पर नियन्त्रण भी नहीं कर पाता है। फिर भी एक अवधि के पश्चात् वे स्वयं ही उपशान्त हो जाते हैं। वे स्थायी नहीं रहते, जैसे तृणपुंज में अग्नि तीव्रता से प्रज्वलित हो जाती है और उसको काबू करना कठिन हो जाता है, किन्तु एक समय के पश्चात् वह स्वयं ही उपशान्त हो जाती है। इस पंचम गुणस्थान की प्राप्ति के लिये व्यक्ति को अप्रत्याख्यानी

---

[४४] 'जो तस वहाओ विरदो अविरदओ तह य थावर वहाओ।
एक्क समयम्मि जीओ, विरदाविरदो जिणेक्कमई ।। ३१ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड)।

कषायों को उपशान्त करना होता है। जो व्यक्ति वासनाओं एवं कषायों पर आंशिक नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं रखता, वह व्यक्ति इस देशविरत नामक गुणस्थान में प्रवेश नहीं कर पाता है। पंचम गुणस्थानवर्ती साधक साधना-पथ से फिसलता तो है, फिर भी उसमें संभलने की क्षमता होती है। यह पांचवा गुणस्थान मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच को होता है। इस गुणस्थान में साधक आंशिक रूप से समत्व या समताभाव में अधिष्ठित रहता है।

६. प्रमत्त सर्वविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

पांचवा देशविरत गुणस्थान मनुष्यों और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को होता है, लेकिन छठा प्रमत्त संयत गुणस्थान तो केवल मनुष्यों को ही होता है। स्वतः पाप मुक्त होने के आत्मपरिणामों को ही सर्वविरत गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान के अधिकारी त्यागी महापुरुष, साधु-साध्वी और अणगार होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा का प्रत्याख्यानावरणीय नामक तीसरा कषायचतुष्क क्षय या उपशमित हो जाता है। वह मोह एवं आसक्ति से भी विरक्त हो जाती है। वह संयमी होती है और अनुशासन में रहती है। फिर भी आत्मा सर्वविरति का निर्दोष पालन नहीं कर सकती है, क्योंकि रागादि रूप में अल्प प्रमाद रहता है। जल में खींची रेखा के समान कषायों का उदय अल्पकाल में समाप्त हो जाता है। इस गुणस्थान में साधक बाह्य शुभ-प्रवृत्तियों में व्यस्त होता है, किन्तु हिंसादि पापों का सम्पूर्णतः परित्याग कर देता है। इस गुणस्थान में संज्वलन कषायचतुष्क और हास्यादि नव नोकषाय के अतिरिक्त मोहनीयकर्म की शेष सभी प्रकृतियों के उदय का अभाव होता है।[४५] प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का क्षयोपशम या क्षय होने पर व्यक्ति प्रमत्त संयत नामक छठे गुणस्थान में आरोहण करता है।[४६] क्रोधादि वृत्तियाँ अव्यक्त रूप में अन्तरमानस को झकझोरती रहती हैं। फिर भी साधक उनकी बाह्य अभिव्यक्ति नहीं

---

[४५] 'संज्जणणोकसायणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ।। ४५ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ।

[४६] 'तईयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं ।
देसेक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति ।। १२३४ ।।' -विशेषावश्यकसूत्र ।

होने देता। वह उन पर नियन्त्रण रखता हुआ दृढ़तापूर्वक उन पर विजय प्राप्त कर आगे बढ़ने का प्रयास करता है। इन पर विजय प्राप्त होने पर वह आगे की श्रेणी (अप्रमत्त संयत गुणस्थान) में चला जाता है और जब-जब कषायादि प्रमाद उन पर हावी होते हैं, तब-तब वह पुनः इस श्रेणी में आ जाता है। इस प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान में साधक झूलता रहता है। इस गुणस्थान में यदि साधक पूर्ण जागरूकता के साथ समत्व का पालन करता है, तो आगे की श्रेणी में बढ़ जाता है और यदि प्रमाद के वशीभूत हो जाता है, तो इसी गुणस्थान में अवस्थित रहता है। समत्व या समता का पालन करने के लिये यह गुणस्थान अत्युत्तम स्वीकार किया गया है।

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

प्रमादों से मुक्त और समत्व में निमग्न आत्मदशा को ही अप्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। जिस आत्मा में पूर्णतः सजगता की स्थिति होती है, देह में रहते हुए भी जो देहातीत भाव से युक्त हो; आत्मस्वरूप या समत्व में रमण करती हो, उसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती आत्मा कहा जाता है। उसका ध्यान केवल अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित रहता है। फिर भी कोई साधक ४८ मिनिट से अधिक देहातीत भाव में स्थिर नहीं रह पाता; क्योंकि दैहिक उपाधियाँ उसे विचलित किये बिना नहीं रहतीं। अतः इस गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं माना गया है। संयमी साधक छठे और सातवें गुणस्थान के मध्य परिचारण करते रहते हैं।[४७] जब साधक समत्वयुक्त जाग्रत अवस्था या देहातीत भाव में अधिक काल तक रहता है, तो वह विकास की अग्रिम श्रेणियों की ओर प्रस्थान कर जाता है। अन्यथा देहभाव की जाग्रति होने पर पुनः नीचे छठे गुणस्थान में चला जाता है। अप्रमत्त संयत गुणस्थान में साधक समस्त प्रमाद के अवसरों (जिनकी संख्या ३७,५०० मानी

---

[४७] 'अकसायमहक्खायं जं संजलणोदए न तं तेणं ।
लब्भइ लद्धं च पुणो भस्सइ सव्वं तदुदयम्मि ।। १२४७ ।।
नहु नवरिमहक्खाओवघाइणो संसचरणदेसंपि ।
घाएंति ताणमुदये होइ जओ साइयारं तं ।। १२४८ ।।' -विशेषावश्यकसूत्र ।

गई हैं)[४८] से बचता है। इस गुणस्थान में किसी भी प्रकार का प्रमाद प्रकट नहीं होता है। किन्तु जब भीतर अचेतन मन में सत्ता में रही हुई कषाय तरंगे उठती हैं, तो वे उसे देहभाव में ले जाती हैं। इस गुणस्थान में चेतन मन स्वस्वरूप में या आनन्दानुभूति में निमग्न रहता है। गोम्मटसार में कहा गया है कि जब क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्य आदि नोकषाय का उदय अति मन्द हो जाता है, तभी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की प्राप्ति होती है।[४९] जैसे-जैसे भावों की शुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अभिनव शक्ति निष्पन्न होती है और साधक समत्व के कारण प्रमाद को अपने पर हावी नहीं होने देता है।

८. अपूर्वकरण (निवृत्तिकरण) गुणस्थान

सम्यक् प्रकार से समत्व से युक्त साधक ऐसी अपूर्व स्थिति को प्राप्त करता है, जो कभी पूर्व में प्राप्त नहीं हुई। ऐसे अपूर्व अध्यवसायों या आत्मशक्ति का होना अपूर्वकरण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'निवृत्ति बादर गुणस्थान' अर्थात् यह स्थूल (बादर) कषायों से निवृत्ति का गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में उत्कर्ष भावों का प्रादुर्भाव होता है। साधना की इस भूमिका में प्रवेश करने पर जीवों के परिणाम प्रति समय अपूर्व-अपूर्व होते हैं। इस अवस्था में आत्मशक्ति विकसित हो जाती है और कर्मावरण अत्यन्त हल्का हो जाता है। यह आध्यात्मिक साधना की विशिष्ट अवस्था है। इसमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी कषायों की तीनों चौकड़ियों का उपशम या क्षय कर दिया जाता है तथा संज्वलन की चौकड़ी अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान आदि का भी क्षय या उपशम करने का प्रयत्न रहता है। इस प्रकार साधक इन सबसे ऊपर उठकर पूर्वबद्ध कर्मों का तीव्रता से क्षय करता है और नवीन कर्मों का बन्ध भी अल्प मात्रा

---

[४८] '२५ विकथाएं, २५ कषाय और नौ कषाय, ६ मन सहित पांचों इन्द्रियाँ, ५ निद्रां, २ राग और द्वेष', इन सबके गुणनफल से यह ३७,५०० की संख्या बनती है।

[४९] 'संज्जणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ।। ४५ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड)।

में ही करता है।[५०]

आठवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाला साधक मोहनीयकर्म का क्षय करते हुए नौवें एवं दसवें गुणस्थान से होता हुआ सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। वह आत्म-स्वरूप से अधःपतन तो नहीं करता, बल्कि आगे विकास करता हुआ पूर्ण समत्व की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव निम्न पांच क्रियाएं करता है:

१. स्थितिघात : कर्मों की दीर्घकालीन स्थिति को अपरिवर्तनाकरण के द्वारा कम कर देने का स्थितिघात कहते है।

२. रसघात : बन्धे हुए कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा अल्प कर देना रसघात है।

३. गुणश्रेणी : जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया गया था, उन्हें समय के क्रम में अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है।

४. गुणसंक्रमण : पहले बन्धी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बन्ध रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना अर्थात् परिणत कर देना गुणसंक्रमण है।

५. अपूर्वस्थितिबन्ध : पूर्व की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बन्ध करना अपूर्वस्थितिबन्ध है। आत्मा इन प्रक्रियाओं के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मदलिकों का तीव्र वेग से क्षय या उपशम करने लगती है। यह प्रक्रिया अपूर्व होने से इस गुणस्थान का नाम भी अपूर्वकरण गुणस्थान है।

यद्यपि स्थितिघात आदि घटनाएँ अन्य गुणस्थानों में भी घटित होती हैं, फिर भी इस गुणस्थान में वे अपूर्व होती हैं; क्योंकि पूर्व की अपेक्षा से अधिक शुद्धि होती है। इस अवस्था में साधक मुक्ति को अपना अधिकार मान लेता है। गुणस्थान सिद्धान्त में प्रथम सात गुणस्थानों में कर्म की प्रधानता होती है और अन्तिम सात गुणस्थानों अर्थात् आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक पुरुषार्थ का प्राधान्य है। दूसरे शब्दों में पूर्व के सात गुणस्थानों में आत्मा पर कर्म शासन करते हैं, लेकिन आठवें गुणस्थान से आत्मा स्वयं कर्मों

---

[५०] गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण पृ. ६२।

पर शासन करती है। सातवें गुणस्थान तक आत्मा वासनाओं एवं कषायों से युक्त होने के कारण वह स्वशक्ति का उपयोग नहीं कर सकती, लेकिन इस गुणस्थान में आते ही स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इस गुणस्थान में आत्मा अपने समत्व से युक्त होकर क्रम से उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास करती है।

९. अनिवृत्तिकरण (बादर-सम्पराय गुणस्थान)

स्थूल कषायों से निवृत्ति के अध्यवसाय को अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में निर्मल अध्यवसायों से बादर कषायों का या तो नाश हो जाता है या उनका उपशमन हो जाता है।

इस गुणस्थान के अन्त में क्रोध, मान, माया और बादर लोभ तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन सात कर्म प्रवृत्तियों का क्षय या उपशमन होता है। परिणामतः व्यक्ति के अध्यवसाय निर्मल हो जाते हैं। यहाँ निष्कषाय और निर्वेद अवस्था प्राप्त होती है। इस गुणस्थान में एक साथ आरोहण करनेवाले सभी साधकों के समान परिणाम होते हैं। जबकि आठवें गुणस्थान तक साधकों के परिणामों में विशुद्धि की अपेक्षा से तरतमता होती है। इसमें प्रारम्भ में सूक्ष्म लोभ तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक और घृणा के भाव शेष रहते हैं। फिर भी पूर्ववर्ती अवस्थाओं की अपेक्षा उत्तरवर्ती अवस्था में कषायों का अंश न्यून होता जाता है। जैसे-जैसे कषाय का अंश कम होता जाता है, वैसे-वैसे परिणामों में प्रति समय विशुद्धता बढ़ती जाती है और अन्त में हास्यषटक का भी क्षय हो जाता है।[५१] इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त परिमाण होती है।[५२] एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय इस गुणस्थान के होते हैं। क्योंकि सभी जीव समसमयवर्ती शुद्धिवाले होते हैं। इसमें जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए प्रत्येक समय एक ही परिणाम होते हैं। अतः भिन्न समयवर्ती परिणामों में विसदृशता और एक समयवर्ती

---

[५१] 'आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं और पूर्णता' पृ. ४४। -जयन्तसेनसूरि।

[५२] धवला ६११, भा. १/८, सूत्र ४, पृ. २२१।

परिणामों में सदृशता ही होती है।[५३] परिणामों के द्वारा कर्मों का विशेष क्षय होता है। नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव उपशमक और क्षपक दो प्रकार के होते हैं। उपशमक - जो चारित्र मोहनीयकर्म का उपशमन करते हैं। क्षपक - जो चारित्र मोहनीयकर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं। जब साधक मोहनीयकर्म का उपशमन या क्षय करता है, तो इसके साथ अन्य कर्मों का उपशमन और क्षय स्वाभाविक रूप से होता है।

१०. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम है सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान। सम्पराय का अर्थ है लोभ।[५४] इस गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ शेष रह जाता है।[५५] जैन पारिभाषिक शब्दों में मोहनीयकर्म की अट्ठाईस कर्म प्रवृत्तियों में से सत्ताईस कर्म प्रकृतियों का क्षय या उपशमन हो जाने पर मात्र संज्वलन लोभ शेष रहता है, तब साधक इस गुणस्थान में पहुँचता है। इस गुणस्थान को सूक्ष्म लोभ शेष रहने के कारण ही इसका नाम सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है। पंचसंग्रह में बताया गया है कि जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपड़े में सूक्ष्म रूप में लालिमा की आभा रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है।[५६] इस गुणस्थान में उपशम और क्षपक श्रेणी वाले दोनों प्रकार के जीव होते हैं। उपशम श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म लोभ को उपशमित करके ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है और क्षपक श्रेणी वाला

---

५३ 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष', भाग २, पृ. १४ ।

५४ 'सम्पराय कषायः' -तत्त्वार्थवार्तिका ६/१/२१ ।

५५ सूक्ष्मसम्पराय सूक्ष्मसंज्वलन लोभ :
(क) गोम्मटसार टीका कर्मकाण्ड जीव प्रबोधिनी केशववर्णि गा. ३३६१;
(ख) संस्कृत पंचसंग्रह १/४३-४४ ।

५६ (क) 'सूक्ष्मसम्पराय सूक्ष्मसंज्वलन लोभः, शमं यत्र प्रपद्यते ।
क्षयं वा संयतः सूक्ष्मः, साम्परायः स कथ्यते ।। ४३ ।।
कौसुम्भोन्तर्गतो रागो, यथावस्त्रे तिष्ठते ।
सूक्ष्म लोभगुणे लोभः शोध्यमानस्तथा तनुः ।। ४४ ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १ ।
(ख) 'पुव्वापुव्वप्फड्डय बादर सुहुमेगयकिट्टियणुभागा ।
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ।। ५६ ।।' -गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ।

सूक्ष्म लोभ का क्षय करके सीधा बारहवें गुणस्थान में चला जाता है।[५७] यह अप्रतिपाती भाववाला होने के कारण इसका पतन नहीं होता है। इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है।

११. उपशान्त मोह गुणस्थान

इस गुणस्थान में जब साधक की मोहनीयकर्म की सभी प्रकृतियाँ उपशान्त रहती हैं, तब साधक वीतराग समान हो जाता है। यहाँ मोहनीयकर्म की सत्ता तो रहती है, परन्तु उनका उदय नहीं होता। मोहनीयकर्म के उपशान्त होने से वीतरागता होती है, किन्तु ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों को आवृत्त करने वाले गुणों का उदय बना रहता है। इस कारण वीतरागता होने पर भी वह अल्पज्ञ या छद्मस्थ ही कहा जाता है। चूंकि इस गुणस्थानवर्ती आत्माएँ उपशमश्रेणी से आगे बढ़ती हैं, अतः मोहनीयकर्म का पुनः उदय होने पर वे वीतरागदशा से पतित हो जाती हैं। जैसे राख में दबी हुई अग्नि पर पवन के लगते ही राख हट जाती है और अग्नि प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार दमित वासनाएँ संयोग पाकर पुनः प्रज्वलित होती हैं और साधक इस गुणस्थान से गिर जाता है। इस गुणस्थान में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त के लिये उपशान्त करके आत्मा वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता को प्राप्त कर लेती है। इसी कारण इसे उपशान्त मोह या उपशान्त कषाय भी कहते हैं।[५८] क्षपक श्रेणी से आरोहण किये बिना साधक को मोक्ष उपलब्ध नहीं हो सकता। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव नियम से उपशम श्रेणी से आरोहण करनेवाला होता है, अतः उसका पतन स्वाभाविक है। इस गुणस्थान की काल-मर्यादा जघन्य से एक समय की ओर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त परिमाण की होती है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होने से पूर्व ही यदि व्यक्ति मृत्यु को

---

[५७] 'गुणस्थानक्रमारोह' श्लोक ७३ ।

[५८] (क) 'अधोमले यथा नीते, कतके नाम्भेऽस्तु निर्मलम् ।
उपरिष्टात्तथा शान्त, मोहो ध्यानेन मोहने ।। -संस्कृत पंचसंग्रह १/४७ ।

(ख) 'कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलए ।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकषायओ होदि ।। ६१ ।।' -गोम्मटसार (जीवकांड) ।

प्राप्त होता है, तो वह अनुत्तरविमान में उत्पन्न होता है और अग्रिम गुणस्थानों से पतित होकर चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त होता है; क्योंकि देवों के पांचवें आदि अग्रिम गुणस्थान नहीं होते हैं। उनका चौथा गुणस्थान होता है। पतन के समय भी वह क्रम के अनुसार ही निम्न-निम्न गुणस्थानों को प्राप्त करता है। इस पतन के काल में वह सातवें और चौथे गुणस्थान में होकर पुनः क्षायिक श्रेणी से यात्रा प्रारम्भ कर सकता है। यदि इन दोनों गुणस्थानों में नहीं रुकता है, तो वह सीधा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है।

१२. क्षीण मोह गुणस्थान

इस गुणस्थान में साधक मोहकर्म की अट्ठाईस ही प्रकृतियों को पूर्णतः क्षीण कर देता है। इसी कारण इसका नाम क्षीण मोह गुणस्थान है।[५६] जो साधक मोहकर्म की इन प्रकृतियों का उपशम या दमन करता है, वह ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर भी पुनः पतित हो जाता है। वह बारहवें गुणस्थान में प्रवेश नहीं करता है। किन्तु जो साधक वासनाओं एवं आकांक्षाओं को सम्पूर्णतः क्षय करते हुए आगे बढ़ता है, तो वह दसवें गुणस्थान में रहे हुए अवशिष्ट सूक्ष्म लोभ को क्षय कर सीधे बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में आने के पूर्व ही वह राग-द्वेष-मोह तथा तद्जन्य वासनाओं और आकांक्षाओं को पूर्णतः समाप्त कर देता है। अतः इस अवस्था को यथाख्यात चारित्र कहते हैं; क्योंकि इसमें व्यक्ति के चारित्र में कोई भी दोष नहीं रहता है। यह स्व-स्वरूप स्थिति है।

जैन धर्म के अनुसार इन आठ कर्मों में मोहकर्म ही सबसे प्रधान है। इस मोहकर्म के क्षय होने पर शेष कर्म अपने आप में ही क्षय हो जाते हैं। इस गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरणीय,

---

[५६] (क) 'जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।। ३३ ।।' -समयसार ।
(ख) द्रव्यसंग्रह टीका गाथा १३ ।
(ग) 'णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदय समचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ।। ६२ ।।' -गोम्मटसार (जीवकांड) ।

दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीनों घातीकर्म भी समाप्त (क्षय) हो जाते हैं और आत्मा अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन से युक्त हो विकास की अग्रिम श्रेणी में बढ़ जाती है। इस गुणस्थान में पतन का कोई भय नहीं होता। साधक उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे जल के समान पवित्र एवं शुद्ध होते हैं। अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में इस गुणस्थान की भावदशा की स्पष्ट चर्चा की है। इस गुणस्थान का पूरा नाम क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान है; क्योंकि मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय होने पर भी शेष छद्म (घातीकर्म का आवरण) अभी विद्यमान रहता है। इस अवस्था को क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ कहा गया है और उसके स्वरूप विशेष को क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान कहा गया है।[६०] क्षपक श्रेणी वाले साधक ही इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और यहाँ से अग्रिम चरण में सयोगी केवली गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। इस बारहवें गुणस्थान को तीन नामों से सम्बोधित किया गया है :

१. क्षीण कषाय; ३. वीतराग; और ३. छद्मस्थ।

ये तीनों व्यावर्तक विशेषण हैं, क्योंकि क्षीण कषाय नामक विशेषण के अभाव में वीतराग छद्मस्थ से बारहवें गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं।

बारहवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त परिमाण है और इस गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक श्रेणी वाले ही होते हैं।

१३. सयोगी केवली गुणस्थान

दसवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म और बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय – इस प्रकार चारों घाती कर्मों का क्षय करके साधक केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। लेकिन इस गुणस्थान में चार अघाती कर्म अर्थात् आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय शेष रहते हैं।

---

[६०] धवला १/१/१ए सूत्र २०, पृ. १८६।

इस कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती है। इस गुणस्थान में बन्धन के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग इन पांच कारणों में से योग के अतिरिक्त शेष चार कारण समाप्त हो जाते हैं। किन्तु आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध रहने के कारण मन, वचन और काया की योग प्रवृत्ति होती है। अतः मन, वचन और काय के साधनों के अनुसार योग के तीन भेद होते हैं :

१. मनोयोग; २. वचनयोग; और ३. काययोग।

इन योगों के कारण बन्धन तो होता है, लेकिन कषायों के अभाव में उसका टिकाव नहीं होता। प्रथम क्षण में बन्ध होता है, दूसरे क्षण में कर्मों का विपाक होता है और तीसरे क्षण में वे कर्म परमाणु खिर जाते (निर्जरित होते) हैं। इस गुणस्थान में योगों के कारण होनेवाले बन्धन और विपाक, यह प्रक्रिया केवल औपचारिक मानी जाती है। क्योंकि इसमें स्थिति और रस का अभाव होता है। योगों के अस्तित्त्व के कारण इस स्थिति को सयोगी केवली गुणस्थान कहा गया है। यह अवस्था साधक और सिद्ध के बीच की अवस्था है। इस गुणस्थानवर्ती साधक को जैनदर्शन के अनुसार अर्हत्, सर्वज्ञ एवं केवली कहा जाता है। सयोगी केवली में यदि कोई तीर्थंकर हो तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। इस गुणस्थान का काल जधन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक का है।

१४. अयोगी केवली गुणस्थान

जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगी केवली कहलाते हैं। जब सयोगी केवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हें अयोगी केवली और उनकी अवस्था विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।[६१]

---

[६१] (क) 'प्रदाहा घातिकर्माणि, शुक्लध्यान कृशानुना ।
अयोगो याति शैलेशोमोक्षलक्ष्मीं निरास्त्रवः ।।' -संस्कृत पंचसंग्रह १/५० ।

(ख) 'सीलेसिं संपत्तो निरूद्धणिस्सेआसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।। ६५ ।।' -गोम्मटसार (जीवकांड) ।

सयोगी केवली गुणस्थान में आत्मा द्वारा पूर्णता प्राप्त कर लेने पर भी उसका शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जहाँ शरीर है, वहाँ शारीरिक अनुभूतियों (वेदना) का होना निश्चित है। अतः पुरुषार्थ के द्वारा इनमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता। जीवनमुक्त आत्मा उन शारीरिक उपाधियों की समाप्ति को निकट देखती है, तो शेष कर्मों अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति यदि आयुकर्म से अधिक हो तो उसे समान करने के लिये प्रथम केवली समुद्घात करती है और उसके पश्चात् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपातीशुक्ल ध्यान द्वारा केवली परमात्मा की आत्मा सुमेरूपर्वत के समान निष्प्रकम्प स्थिति की उपलब्धि करके शरीर का त्याग कर स्व-स्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है और इस प्रकार निरुपाधिक सिद्धि या मुक्ति को प्राप्त कर लेती है। वहाँ परम विशुद्धि, पूर्णता, कृत-कृत्यता तथा अव्याबाध आनन्द की स्थिति होती है। ज्ञानसार में इस अयोगी केवली गुणस्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि त्याग परायण साधक को अन्त में सभी योगों का त्याग करना होता है। मेघ-शून्य गगन में चमकते हुए चन्द्र की तरह यह गुणस्थानवर्ती आत्मा अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है।

इसी गुणस्थान में चारित्रिक विकास और स्वरूप-स्थिरता की चरम स्थिति होती है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यन्त अल्प होता है। जितना समय पांच ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ, ऋ, लृ को मध्यम स्वर से उच्चारण करने में लगता है, उतने ही समय तक आत्मा इस गुणस्थान में रहती है। फिर मन, वचन और काया की समस्त चेष्टाओं का निरोध कर शैलेशी अवस्था प्राप्त कर देह का त्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है। लेकिन षट्खण्डागम की धवला टीका में वीरसेन ने बताया है कि जिसके मन, वचन, काय रूप योग नहीं होता है, वह अयोगीकेवली कहलाता है[६२] और जो योग रहित केवली एवं जिन होता है, वह अयोगीकेवलीजिन कहलाता है।[६३] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में भी कहा है कि जिसके

---

[६२] 'न विद्यते योगो यस्य स भवत्योगः केवलमस्यास्तीति केवली ।
योगश्चासौ केवली च अयोगी केवली ।।' धवला १/१/१, सूत्र २२, पृ. १६२ ।

[६३] (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड मन्दप्रबोधिनी टीका गाथा ६५ ।
(ख) जीवप्रबोधिनी टीका गाथा १० ।

कर्मों के आगमन का आस्रव रूपी द्वार पूर्ण रूप से बन्द हो गया हो अर्थात् सम्पूर्ण संवर से युक्त हो और तपादि के द्वारा जिसके समस्त कर्मों की निर्जरा हो गई हो, ऐसा काययोग रहित केवली अयोगी केवली कहलाता है।[६४]

इस प्रकार उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आत्मा उत्तरोत्तर अपनी वासनाओं और कषायों पर विजय प्राप्त करती हुई चौदहवें गुणस्थान में अपने आयुकर्म का क्षय करके सिद्ध और मुक्त कहलाती है। वह चार घाती और चार अघाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करके अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त कर लेती है। वह विभावदशा का त्याग कर स्वभावदशा में अवस्थित हो जाती है और बाह्य से भिन्न होकर अन्तर से अभिन्न हो जाती है। ये चौदह गुणस्थान उत्तरोत्तर समत्व के विकास या शुद्धि के सूचक हैं। व्यक्ति इस एक-एक सोपान को प्राप्त करता हुआ या समत्व में अधिष्ठित होता हुआ अन्तिम सीढ़ी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, जहाँ अचिन्त्य अव्याबाध आनन्द की केवल अनुभूति होती है।

३.५ समत्वयोग और सामायिक

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना को सामायिक की साधना के रूप में जाना जाता है। अतः समत्वयोग की इस चर्चा में सामायिक की चर्चा अपेक्षित है।

जैन आगम साहित्य में समत्वयोग या सामायिक को मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख अंग माना है। सामायिक में समभाव या समता की वृत्ति ही मुख्य है। वस्तुतः सामायिक समत्वयोग या समत्ववृत्ति की साधना को साधक जीवन का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। समत्व की साधना के दो पक्ष हैं - बाह्य रूप में वह सावद्य (हिंसक या पापमूलक) प्रवृत्तियों का त्याग है,[६५] तो आन्तरिक रूप में वह

---

[६४] 'सीलेसिं संपत्तो, निरूद्धणिस्सेसआसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।। -गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ६५ ।

[६५] 'विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।। १२५ ।।' -नियमसार ।

सुखःदुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना है।[६६] यह चित्तवृत्तियों के अविचलन की अवस्था है। बाह्य व्यवहार की दृष्टि से सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि और आध्यात्मिक आधार पर अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में राग-द्वेष से ऊपर उठकर चित्तवृत्ति का अविचलित या तनावमुक्त रहना ही समत्वयोग या सामायिक है। वस्तुतः यह आत्मरमण या साक्षात्कार की स्थिति है और पापकर्म से विरति है। सामायिक की साधना समत्ववृत्ति रूप पावन गंगा में अवगाहन करना है।

- सामायिक का मूल शब्द सम है, उस सम या समत्व की प्राप्ति ही सामायिक है।
- सभी आत्माओं के प्रति समभाव या तुल्यता का भाव ही सामायिक अथवा समत्व है।

सामायिक शब्द के विभिन्न अर्थ

संस्कृत भाषा में 'आय' का अर्थ है - लाभ। सम+आय = समाय अर्थात् जिससे सम् का लाभ हो वह समाय है। इसमें 'इक' प्रत्यय जोड़ने से प्रथम वर्ण 'स' में रहा 'अ' स्वर दीर्घ हो जाता है।

इस प्रकार सम्+आय+इक = सामायिक शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् जिससे सम् का लाभ होता है, वह सामायिक है। 'समाय' या 'सामाय' पद के साथ 'इकण' प्रत्यय लगाने से भी सामायिक शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। समय अर्थात् काल, समय+इक = सामायिक - जो कार्य निश्चित समय पर होता है, उसे सामायिक कहा जाता है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गति' अर्थवाली 'इन्' धातु से 'समय' शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है। जो एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से वापस मुड़कर आत्मा की ओर गमन करता है, उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है।[६७]

---

[६६] 'लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।। ६१ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १६ ।

[६७] सर्वार्थसिद्धि ७/११ ।

गोम्मटसार में सामायिक का अर्थ इस प्रकार से मिलता है :

'सम+आय' - सम का अर्थ है आत्मभाव (एकीभाव) और आय का अर्थ है गमन। जिसके द्वारा बाह्य प्रवृत्तियों से अर्थात् पर-परिणति से निवृत्त होकर आत्म-परिणति (अन्तर्मुखता) की ओर जाया जाता है, वही सामायिक है। सामायिक कोई रूढ़िवादी क्रिया नहीं, अपितु समता के समुद्र में अवगाहन करना है।[६८] यही आत्मानुभूति की प्रक्रिया है। राग-द्वेष एवं विषय विकार रूपी कालुष्य को आत्मा से अलग कर उसे विशुद्ध बनाना ही सामायिक या समत्वयोग की साधना है। संक्षिप्त रूप में सामायिक एक ओर चित्तवृत्ति का समत्व है, तो दूसरी ओर पापों से रहित होना है। अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवेश पाना और शुभ से शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि कर समभाव में स्थिर होना ही सामायिक है।[६९]

सामायिक का शब्दार्थ

सामायिक शब्द का अर्थ बड़ा ही विलक्षण है। सामायिक शब्द का गम्भीर एवं उदार अर्थ भी इसी शब्द में छिपा हुआ है। प्राचीन जैनाचार्य हरिभद्रसूरि एवं मलयगिरि ने सामायिक शब्द के विभिन्न अर्थों की दृष्टि से जो व्याख्याएँ की हैं, वे इस प्रकार हैं :

१. समाय : 'रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य आयः = लाभः समायः समाय एवं समाधिकम्'। रागद्वेष में मध्यस्थ रहना सम है। अतः साधक को मध्यस्थ भाव या समभाव की प्राप्ति रूप जो लाभ है, वह सामायिक हैं।

२. समानि : 'ज्ञानदर्शन चारित्राणि, तेषु अयनं = गमनं समायः स एव सामायिकम्'। ज्ञान दर्शन और चारित्र मोक्ष मार्ग के साधन हैं, उनमें अयन् अर्थात् प्रवृत्ति करना सामायिक है।

३. 'सर्व जीवेषु मैत्री साम, साम्नो आयः = लाभः समायः स एव सामायिकम्।' सब जीवों पर मैत्रीभाव रखने को 'साम' कहते हैं। अतः साम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक है।

४. 'समः सावद्ययोग परिहार निरवद्ययोगानुष्ठानरूप जीव-परिणामः

---

[६८] गोम्मटसार जीवकाण्ड (टीका) ३६८।

[६९] देखिये 'सामायिकसूत्र' पृ. ३५।

तस्य आयः = लाभः समाय = स एव सामायिकम् सावद्ययोग परिहार रूपं।' अर्थात् पापकार्यों का परित्याग और निरवद्ययोग अर्थात् अहिंसा, दया, समता, आदि कार्यों का आचरण करना सामायिक है। इसी प्रकार जीवात्मा का शुद्ध स्वभाव 'समू' कहलाता है। सम की जिसके द्वारा प्राप्ति हो, वह सामायिक है।

५. 'सम्यक् शब्दार्थः समशब्दः सम्यगयनं वर्तनं समयः स एव सामायिकम्।' 'सम' शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन का अर्थ आचरण है अर्थात् जिसका आचरण श्रेष्ठ हो, वही सामायिक है, समत्वयोग है।

६ 'समये कर्त्तव्यम् सामायिकम्।' समय पर जो उत्कृष्ट साधना की जाती है, वह सामायिक है। उचित समय पर करने योग्य आवश्यक कर्त्तव्य को सामायिक कहा जाता है। यह अन्तिम व्युत्पत्ति हमें प्रति समय सामायिक या समता में जीने की प्रेरणा देती है। समय का एक अर्थ सिद्धान्त भी है अर्थात् सिद्धान्त या आगम में जिसे कर्त्तव्य कहा है, उसका पालन करना सामायिक है।

इस समत्व की साधना में कोई जाति, मत या पन्थ का भेद नहीं है। इसकी साधना सभी कर सकते हैं। धर्म विशेष या किसी वस्त्रभूषा विशेष से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, स्त्री हो या पुरुष, जैन हो या अजैन समत्ववृत्ति की आराधना कर सकता है।[७०] आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक शब्द के साम, सम और सम्म ये तीन अर्थ मिलते हैं :

'साम समं च सम्मं मिइ, सामाइअस्स एगट्ठा।
महुर परिणाम सामं, समं तुला, सम्मं खीर खंड जुई।।'

साम अर्थात् शान्ति, नम्रता, मधुरता, समस्त जीवों के प्रति मैत्री और आत्मतुल्यता का भाव। सम अर्थात् सम्यक्त्व, मध्यस्थता, समता, प्रशमता और राग-द्वेष से रहित अवस्था अथवा तुला (तराजु) जैसा सम परिणाम। सम्म अर्थात् सर्वत्र तुल्य व्यवहार, दूध और शक्कर जैसा आत्मा के साथ एक रूप हो जाने का परिणाम। निरुक्त विधि में इसी साम, सम, सम्म का अर्थ इस प्रकार से

---

[७०] भगवतीसूत्र २५/७/२१-२३

किया गया है :

साम : 'स्व' आत्मा की तरह 'पर' को दुःख नहीं देना।

सम : राग-द्वेष जनक प्रसंगों में भी मध्यस्थ रहना अर्थात् सभी के साथ आत्मा के तुल्य व्यवहार करना।

सम्म : एकरूपता का व्यवहार।

ये तीनों आत्मा के अतीन्द्रिय परिणाम हैं, केवल अनुभवगम्य हैं। साम, सम और सम्म परिणामों को (सूत के धागे में मोती पिरोने की तरह) आत्मा में एकीभाव से पिरोकर उन भावों को प्रकट करना सामायिक है।

षडावश्यक और समत्वयोग की साधना

समत्वयोग की साधना को जैन धर्म में षडावश्यकों की साधना के रूप में माना जा सकता है। वेदों में संध्या, मुसलमानों के लिये नमाज और योगियों के अनुसार प्राणायाम की तरह ही जैनियों के लिये षडावश्यकों की साधना अपेक्षित है। यह इतनी व्यापक है कि इसमें यम-नियम अथवा ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे साधना के सभी आयाम समाविष्ट हो जाते हैं। विषमता में समता, अव्यवस्था में व्यवस्था और जीवन में मैत्री तथा करुणा की स्थापना करने के लिये षडावश्यकों की साधना आवश्यक है। षडावश्यकों की साधना वस्तुतः सामायिक या समत्वयोग की साधना ही है।[७१]

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है :[७२]

'सामाइयाइया वा वयजीवानि काय भावणा पढमं।
एसो धम्मो वाओ जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो।।'

अर्थात् जिनोपदीय धर्म में सामायिक का स्थान सर्वप्रथम है।

---

[७१] (क) सामायिकसूत्र ः ३३।
(ख) 'समता वंदन थुति करन, पडकौना सज्झा व।
काउस्सग मुद्रा धरन, षडावसिक ये भवा'।।' समयसार नाटक।

[७२] 'सामाइयाइया वा वयजीवाणिकाय भावना पढ़मं।
एसो धम्मोवाओ सव्वेहिं उवइट्ठो।।' आवश्यकनिर्युक्ति २७।

जैन धर्म की धार्मिक क्रियाओं में छः आवश्यक मुख्यतः आत्मा को विशुद्ध करने के लिये हैं। आत्मविशुद्धि राग-द्वेष और तद्जन्य कषायों को क्षीण या समाप्त करने पर ही होती हैं। सामायिक आदि षडावश्यकों की साधना राग-द्वेष और कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिये है। अतः समत्वयोग की साधना षडावश्यकों की साधना है।

आवश्यक शब्द के अनेक अर्थ हैं :

१. *'अवश्यं करणाद् आवश्यकम्।'* जो अवश्य किया जाय, वह आवश्यक है।

२. *'अपाश्रयो वा इदं गुणनाम् प्राकृतशैल्या आवस्सयं।'* प्राकृत भाषा में आधार वाचक *'आपाश्रय'* शब्द भी *'आस्सयं'* कहलाता है। जो गुणों की आधार भूमि हो, वह आवस्सयं = आपाश्रय है। संस्कृत में आपाश्रय का प्राकृत रूप भी आवस्सय होता है।

३. *'गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति।'* जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करता है, उसे भी आवश्यक कहते हैं। आ+वश्य = आवश्यक।

४. *'गुणशुन्यमात्मानं गुणैराव समतीति आवासकम्।'* जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित करे, वही आवासकं है। प्राकृत में आवासकं भी आवस्सयं बन जाता है।

५. *'गुणैर्वा आवासकं = अनुरञ्जकं वस्त्र धूपादिवत्।'* आवस्सय का एक संस्कृत रूप आवासक भी होता है। उसका अर्थ अनुरंजन करना है। जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे, वह आवासक है।

६. *'गुणैर्वा आत्मानं आवासयंति = आच्छादयति इति आवासकम्।'* 'वस्' धातु का अर्थ आच्छादन करना भी होता है। अतः जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित = आच्छादित करे, वह आवासक है। जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगी, तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ेगी। संस्कृत के आवासक का प्राकृत रूप आवस्सय बनता है।[७३]

अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार षडावश्यक गृहस्थ और श्रमण

---

७३ 'समणेण सावएण य अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा ।
अन्तो अहो-निसिस्स य तम्हा आवस्सयं नाम ।। ८७३ ।।' -विशेषावश्यकभाष्य ।

दोनों के लिये आवश्यक माने गये हैं।[७४] उसमें आवश्यक के पर्यायवाची नाम भी बताये गए हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. *'अवश्य क्रियते आवश्यकम्।'* - अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाते हैं।
२. *'अवश्यकरणीय।'* - मुमुक्षु साधकों के द्वारा नियमेन अनुष्ठेय होने के कारण अवश्य करणीय है।
३. *'ध्रुवनिग्रह'* - अनादि होने के कारण कर्मों को ध्रुव कहते हैं। कर्मों के फल जन्म-जरा-मरणादि भी अनादि हैं। अतः वे भी ध्रुव कहलाते हैं। जो अनादि कर्म और कर्म-फल स्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुवनिग्रह है।
४. *'विशोधि।'* - कर्म से मलिन आत्मा की विशुद्धि हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।
५. *'अध्ययन षट्कवर्ग।'* - आवश्यकसूत्र के समायिकादि छः अध्ययन हैं। अतः वह अध्ययन षट्कवर्ग है।
६. *'न्याय।'* - अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण ही वह न्याय कहलाता है।
७. *'आराधना।'* - आराध्य मोक्ष का हेतु होने से आराधना है।
८. *'मार्ग।'* - मोक्षपुर का प्रापक होने से मार्ग है। मार्ग का अर्थ उपाय भी है।[७५]

षडावश्यकों की महत्ता स्पष्ट करते हुए पण्डित सुखलालजी भी कहते हैं कि जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जाता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है, वे तत्त्व ये हैं :[७६]

१. समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्मिश्रण;
२. जीवन को विशुद्ध बनाने के लिये वीतराग परमात्मा का गुणगान;
३. गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना;
४. कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्य पालन में होने वाली गलतियों का

---

[७४] 'आवस्सयं अवस्स-करणिज्जंधुवनिग्गहो विसोही य ।
अज्झयण-छक्कवग्गो, नाओ आराहण मग्गो ।।१/२८।।'-अनुयोगद्वारसूत्र (उद्धृत् श्रमणसूत्र)।

[७५] 'जदवस्सं कायव्वं तेणावस्सयमिदं गुणाणं वा ।
आवासयमाहरो आ मज्जायाधिविहिवाई ।। १७२ ।।' विशेषावश्यकभाष्य ।

[७६] 'दर्शन और चिन्तन' खण्ड २, पृ. १८३-८४ ।

अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और पुनः वैसी गलतियां न हों, इसके लिये आत्मा को जाग्रत रखना;

५. ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिये विवेक शक्ति का विकास करना; और

६. त्यागवृत्ति द्वारा सन्तोष व सहनशीलता बढ़ाना। गुणों में वृद्धि तथा प्राप्त गुणों की शुद्धि तथा उनसे स्खलित न होने के लिये आवश्यक क्रिया का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।[७७]

यही वह प्रक्रिया है जिससे जीवन में समता की उपलब्धि होती है।

छः आवश्यकों का विस्तृत विवेचन डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन' (भाग २ पृ. ३९२-४०७) में विस्तृत रूप से किया है। हम उसी के आधार पर इस चर्चा को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं :

१. सामायिक :

षडावश्यकों में सामायिक को सर्वोपरी स्थान दिया गया है। सामायिक समत्ववृत्ति की साधना है। धर्म में समत्व की साधना को साधनात्मक जीवन का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। समत्व की साधना के दो पक्ष हैं - बाह्य रूप में वह सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग है;[७८] तो आन्तरिक रूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव[७९] (सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति) तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना है।[८०] लेकिन दोनों पक्षों से भी ऊपर वह विशुद्ध रूप में आत्मरमण या आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। सम् का अर्थ समताभाव और अय का अर्थ है गमन। जिसके द्वारा पर-परिणति से आत्म-परिणति की

---

[७७] 'ज्ञानसार' क्रियाष्टक ५-७।

[७८] 'विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।। १२५ ।।'
-नियमसार १२५ (उद्धृत श्रमण सूत्र पृ. ६३)।

[७९] आवश्यकनिर्युक्ति १०३२।

[८०] उत्तराध्ययनसूत्र १९/९०-९१।

ओर जाया जाता है, वही सामायिक है। सामायिक समभाव की साधना है। राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थ रहना ही सामायिक है।[८१] सामायिक कोई रूढ़ क्रिया नहीं, वह तो समत्व वृत्ति रूप पावन आत्म गंगा में अवगाहन है, जो समग्र राग-द्वेष जन्य कलुष को आत्मा से अलग कर मानव को विशुद्ध बनाती है। संक्षेप में सामायिक एक ओर चित्तवृत्ति का समत्व है, तो दूसरी ओर पाप विरति है।

यह सामायिक समस्त धर्म-क्रियाओं, साधनाओं, उपासनाओं एवं सदाचरणों के लिए भी उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव युक्त निम्न ६ भेदों से साम्य भावरूप सामायिक धारण की जाती है :[८२]

१. नाम सामायिक : सामायिकधारी आत्मा शुभाशुभ नामों के प्रयोग पर स्तुति, निन्दा आदि नहीं करता। वह यही विचारता है कि आत्मा तो शब्द की सीमा से अतीत है।

२. स्थापना सामायिक : असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र हो, उसे देखकर राग-द्वेष नहीं करना - वह स्थापना सामायिक है।

३. द्रव्य सामायिक : चाहे स्वर्ण हो या मिट्टी हो, इन सभी पदार्थों में समदर्शी भाव रखना द्रव्य सामायिक है। आत्मा की दृष्टि से तो स्वर्ण भी मिट्टी है और मिट्टी भी मिट्टी ही है। हीरा और कंकर दोनों ही जड़ पदार्थ की दृष्टि से समान ही हैं।

४. क्षेत्र सामायिक : चाहे कोई सुन्दर बगीचा हो या काँटों से भरी हुई बंजर भूमि - दोनों में समभाव रखना और यही विचार करना कि मेरा निवास स्थान मेरी आत्मा ही है। वह क्षेत्र सामायिक है।

५. काल सामायिक : चाहे वर्षा हो, शीत हो, गर्मी हो अथवा अनुकूल वायु से सुहावनी वसन्त ऋतु हो या भयंकर आंधी हो - ये सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन सब से स्पर्श नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ, अरूप हूँ। इस प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना - वह काल

---

[८१] गोम्मटसार जीवकाण्ड (टीका) ३६८।

[८२] श्रमणसूत्र पृ. ७०-७२। -अमरमुनि।

सामायिक है।

६. भाव सामायिक : समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी भी परिस्थिति में किसी प्रकार का वैर-विरोध नहीं रखना – भाव सामायिक है।[८३]

इसी प्रकार बुद्ध, शुद्ध और मुक्त स्वरूप में रही हुई आत्मा ही सामायिक है। सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्म-क्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, उन सबका मूल सामायिक ही है।

समत्व-वृत्ति की यह साधना सभी वर्ग, सभी जाति और सभी धर्म वाले कर सकते हैं। किसी वेशभूषा और धर्म-विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि कोई भी मनुष्य चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, जैन हो या अजैन, समत्व-वृत्ति की आराधना कर सकता है। वस्तुतः जो समत्व वृत्ति की साधना करता है वह जैन ही है, चाहे वह किसी जाति, वर्ग या धर्म का क्यों न हो।[८४] आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई, जो भी समत्ववृत्ति का आचरण करेगा, वह मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।[८५]

समत्वयोग की साधना के लिये सामायिक साधना की जीवन में नितान्त आवश्यकता है। इस पथ की ओर अपना निरन्तर लक्ष्य बनाये तभी समत्व की साधना सफल हो सकती है।

२. चतुर्विंशतिस्तव (भक्ति) :

यह दूसरा आवश्यक है। जैन आचार के अनुसार चौबीस तीर्थंकर, जो कि स्वगुण सम्पन्न हैं और राग द्वेष से विरक्त हैं; उनकी स्तुति करना। स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं देते हैं। वे तो मात्र संसार समुद्र से पार होने का उपाय बताते हैं। फिर भी

---

[८३] 'भाव सामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा।'

[८४] भगवतीसूत्र २५/७, २१-२३।

[८५] 'जिनवाणी' सामायिक अंक पृ. ५७।

स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। उस समय साधक यही चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा और तीर्थंकरों या वीतराग परमात्मा की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, वे समान ही हैं। यदि मैं पुरुषार्थ करूं, तो तीर्थंकर के समान बन सकता हूँ। मुझे भी ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्राप्ति तब तक नहीं होती, जब तक मनुष्य स्वयं उसके लिये प्रयास न करे।[८६]

जहाज का कार्य गति करना है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ाने का कार्य तीर्थंकरों का है। लेकिन केवल नाम स्मरण या भक्ति करने से साधक का निर्वाण नहीं हो सकता। उसके लिये सम्यक् प्रयत्न की आवश्यकता है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी विष्णुपुराण एवं बाइबिल के आधार पर इस कथन की पुष्टि की है।[८७] महावीर ने कहा है कि मेरा नाम स्मरण करने की अपेक्षा मेरी आज्ञा का पालन करके जो उसे आचरण में उतारता है, वही यथार्थतः मेरी उपासना करता है।[८८]

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि राग-द्वेष के सर्व विकल्पों का परिहार करके भक्ति के द्वारा आत्मतत्त्व को मोक्ष-पथ में योजित करना ही वास्तविक भक्तियोग है। ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परम पद को प्राप्त हुए हैं।[८९] इस प्रकार भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है। जैनदर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं :[९०]

'अज-कुल-गत-केशरी लहेरे निज पद सिंह निहार।
तिम प्रभु भक्ति भवि लहेरे आतम शक्ति संभार।।'

---

[८६] आवश्यकचूर्णि (उद्धृत श्रमणसूत्र पृ. ८०)।
[८७] विष्णुपुराण, बाइबिल जीन २/६-११ ('भगवद्गीता' -डॉ. राधाकृष्णन पृ. ७१ से उद्धृत)।
[८८] आवश्यकवृत्ति पृ. ६६१-६२। -उद्धृत 'अनुत्तरापातिक दशा' भूमिका पृ. २४।
[८९] नियमसार १३४-४०।
[९०] 'अजितजिन स्तवन'। -देवचन्द्रजी।

जैन विचार में स्तुति के दो रूप माने गये हैं - द्रव्य और भाव।

सात्त्विक वस्तुओं द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यस्तव है और भगवान के गुणों का स्मरण करना भावस्तव है। जैन धर्म के अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय द्रव्यस्तव के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं। वे केवल भावस्तव को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु द्रव्यस्तव के पीछे भी मूलतः यही भावना रही है कि उसके माध्यम से व्यक्ति अपने भावों की विशुद्धि करता है। अतः भावस्तव की मुख्यता तो दोनों को ही स्वीकार है। इसी भावविशुद्धि से समत्वयोग की साधना सफल होती है।

३. वन्दन :

तीसरा आवश्यक वन्दन है। साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरू को विनय करना वन्दन है। वन्दन किसे किया जाये? आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया है कि गुणहीन एवं दुराचारी अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करने से न तो कर्मों की निर्जरा होती है न कीर्ति ही, प्रत्युत् असंयम और दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध होता है। ऐसा वन्दन व्यर्थ का काय-क्लेश है।[६१] आचार्य ने यह भी निर्देश दिया है कि जो व्यक्ति अपने से श्रेष्ठजनों द्वारा वन्दन करवाता है, वह असंयम में वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।[६२] जैन विचारणा के अनुसार जो चारित्र एवं गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वन्दनीय हैं। द्रव्य (बाह्य) और भाव (आन्तर) दोनों दृष्टियों से शुद्ध संयमी पुरुष ही वन्दनीय हैं। आचार्य भद्रबाहु ने यह भी निर्देश दिया है कि जिस प्रकार वही सिक्का ग्राह्य होता है, जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो। उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति

---

[६१] 'पासत्थाई वंदमाणस्स, नेवकिति न निज्जरा होई ।
काय-किलेसं एमेव कुण ईतह कम्मबंधं च ।। ११०८ ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति ।

[६२] 'जे बंभचेर-भट्ठा पाए उड्डति बंभयारीणं ।
ते होंति कुंट मुंटा, बोही य सुदुल्लहातेसिं ।। ११०६ ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति ।

ही वन्दन का अधिकारी होता है।[६३]

वन्दन करनेवाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है।[६४] भगवतीसूत्र के अनुसार वन्दन के फलस्वरूप गुरूजनों के सत्संग का लाभ प्राप्त होता है। सत्संग से शास्त्र श्रवण, ज्ञान-ध्यान, प्रत्याख्यान, संयम, तप आदि की और अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है।[६५]

वन्दन का मूल उद्देश्य है, जीवन में विनय को स्थान देना। विनय को जिनशासन का मूल कहा गया है। जीवन में विनय गुण आये बिना समत्वयोग की साधना भी सफल नहीं होती है।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि विनीत ही सच्चा संयमी अर्थात् समत्वयोगी होता है। जो विनयशील नहीं है, उसका कैसा तप और कैसा धर्म है?[६६] दशवैकालिकसूत्र के अनुसार जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।[६७] श्रमण साधकों में दीक्षापर्याय के आधार पर वन्दन किया जाता है। सभी पूर्व-दीक्षित पर्यायसाधक वन्दनीय होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में श्रमण जीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता ही वन्दन का प्रमुख आधार है। यद्यपि जैन परम्परा में कनिष्ठ बालक आज दीक्षा अंगीकार करता है, तो भी वरिष्ठ साध्वी को उसे वन्दन करने का विधान है; क्योंकि पुरुष

---

६३ 'सुट्ठुतरं नासंती, अप्पाणं जे चरित्त-पब्भट्ठा ।
गुरूजण वंदाविंती, सुसमण अहुत्तकारिं ।। ११३८ ।।' -वही ।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र २६/१० ।

६५ 'सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणणहए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ।। २/५/११२ ।।' -भगवतीसूत्र ।

६६ 'विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मोकओ तवो ।। १२१६ ।।' -वही ।

६७ 'मुलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा ।
साहप्पसाहा विरूहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलंरसो य ।।१।।
एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्धं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ।। २ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ।

को श्रेष्ट माना है।

जैनाचार्यों ने वन्दन क्रिया के सम्बन्ध में काफी गहराई से विचार किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में वन्दन के ३२ दोष वर्णित हैं।[६८]

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वन्दन करते समय स्वार्थ, आकांक्षा, भय और अनादर का भाव नहीं होना चाहिये, जिससे वन्दन करने में दोष लगे। मन, वचन और काया से गुरूजनों एवं पूज्यजनों के प्रति बहुमान प्रकट करना वन्दन है। शास्त्रों में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्यायवाची शब्द मिलते हैं।

४. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है। प्रतिक्रमण में दो शब्द हैं। शब्द शास्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ होता है, वापस लौटना। मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है - 'प्रतीपं क्रमणं प्रतिकमणम् अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभष्वेष क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम्।', अर्थात् पीछे लौटना प्रतिक्रमण है। अशुभ योग से शुभ योग में वापस आना ही प्रतिक्रमण है। इसी अर्थ का समर्थन भगवतीआराधना की टीका में किया गया है :

'स्वकृताशुभयोगात्दप्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्'

अर्थात् अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से परावर्त होना - लौटना अर्थात् मेरा अपराध दुष्कृत मिथ्या हो, ऐसा कहकर पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है।

मन, वचन और काया से जो अशुभ आचरण किया जाता है अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, उन सबकी निवृत्ति के लिये कृतपापों की आलोचना कर पुनः शुभ या शुद्ध अवस्था में लौटना प्रतिक्रमण है। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र और

---

[६८] आवश्यकनिर्युक्ति १२०७-११। -प्रवचनसारोद्धार (वन्दनाद्वार)।

अपराजितसूरि ने शुभयोग से अशुभयोग की ओर गई हुई अपनी आत्मा को पुनः शुभ योग या शुद्ध भाव में लौटा लाने को प्रतिक्रमण माना है।[९९] आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया गया है :

१. प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान में जाकर पुनः स्वस्थान पर लौट आना - यह प्रतिक्रमण है अर्थात् बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है।
२. क्षयोपशमिक भाव से औदायिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदायिक भाव से क्षयोपशमिक भाव में लौट आता है - यह प्रतिक्रमण है।
३. अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण में निःशल्य भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[१००]

प्रतिक्रमण के पांच प्रकार बताये गए हैं :

१. मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण; २. अव्रत का प्रतिक्रमण;
३. प्रमाद का प्रतिक्रमण; ४. कषाय का प्रतिक्रमण; और
५. अशुभ योग का प्रतिक्रमण।

गोम्मटसार में प्रतिक्रमण का सुन्दर निर्वचन इन शब्दों में किया गया है :

'प्रतिक्रमण प्रमादकृत दैवसिकादिदोषो, निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम्'

अर्थात् प्रमादवश दैवसिक रात्रिक आदि में लगे हुए दोषों का जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिये हैं :[१०१]

---

[९९] योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति ३।

[१००] 'स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ।।
क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ।।
प्रति प्रति वर्तनं वा, शेभेषु योगेषु मोक्षफलेषु।
निःशल्यस्य यतेयर्थत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ।।' -आवश्यक टीका (उद्धृत श्रमणसूत्र पृ.८७)।

[१०१] 'पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्तीय।
निन्दागरिहा सोही, पडिक्कमणं अट्ठहा होई ।। १२३३ ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति।

१. प्रतिक्रमण : 'प्रति+उपसर्ग 'क्रमु' धातु है। 'प्रति' का अर्थ प्रतिकूल है और और 'क्रमु' का अर्थ है पद निक्षेप। दोनों को मिलाकर अर्थ पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना अथवा परस्थान में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान में लौट आना है। आचार्य जिनदास कहते हैं – 'पडिक्कमणं-पुनरावृत्ति';

२. प्रतिचरण : हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। आचार्य जिनदास कहते हैं – 'अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्य-परिहारः कार्यप्रवृत्तिष्च';

३. परिहरण : सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का परित्याग करना;

४. वारण : निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारणा कहा गया है – 'आत्म निवारणा वारणा';

५. निवृत्ति : अशुभ भावों से निवृत्त होना – 'असुभभाव-नियत्तणं नियत्ति';

६. निन्दा : गुरूजन, वरिष्ठ-जन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिये पश्चाताप करना;

७. गर्हा : अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना; और

८. शुद्धि : प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है। इसलिये उसे शुद्धि कहा गया है।

स्थानांगसूत्र में इन छः बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है :

१. उच्चार प्रतिक्रमण : मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्यापथिक (आने जाने में हुई जीव हिंसा का) प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है।

२. प्रश्रवण प्रतिक्रमण : पेशाब करने के बाद ईर्यापथिक क्रिया करना प्रश्रवण प्रतिक्रमण है।

३. इत्वर प्रतिक्रमण : स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है।

४. यावत्कथित प्रतिक्रमण : सम्पूर्ण जीवन के लिये पाप से निवृत्त

होना यावत्कथित प्रतिक्रमण है।

५. यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण : सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद तथा असावधानी से किसी भी प्रकार असंयम रूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चाताप करना यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण : विकार-वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चाताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।[१०२]

मिथ्यात्व : तत्त्व के विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे - शरीर, प्राण आदि को आत्मा मानना।

अव्रत : हिंसा आदि पांच पापों की प्रवृत्ति को अव्रत कहते हैं।

प्रमाद : विषय और कषाय में और आत्मा की परपरिणति को प्रमाद कहते हैं।

कषाय : आत्मा में राग-द्वेष आदि की जो प्रवृत्ति मोहभाव के कारण होती है, उसे कषाय कहते हैं। जिससे संसार की वृद्धि हो, वह कषाय हैं। कष् यानि संसार, आय यानि वृद्धि।

अशुभ योग : मन, वचन, काया की सावद्य प्रवृति को अशुभ योग कहते हैं।

प्रतिक्रमण का नाम आवश्यकसूत्र अर्थात् अवश्य करने योग्य कार्य। जैसे वस्त्र पर तुरन्त लगा दाग जल्दी निकल जाता है; प्रतिदिन पानी के सींचन से बाग हरा-भरा हो जाता है, वैसे ही आत्मा का दाग (प्रतिदिन) प्रतिक्रमण से शीघ्र दूर हो जाता है। प्रतिक्रमण से हमारी आत्मा पापों से पीछे हटती है जिससे आत्मा रूपी बाग (वैराग्य भाव से) हरा-भरा हो सकता है।

आवश्यकसूत्र (प्रतिक्रमण) करते समय निम्न प्रकार के आसन किये जाते हैं :

१. वाम - उल्टा घुटना, विनय का प्रतीक, नमोत्थुणं;

२. दायां - सीधा घुटना, वीरता का प्रतीक, श्रमणसूत्र (वंदित्तुसूत्र);

---

[१०२] स्थानांगसूत्र ६/५३८।

३. दोनों घुटने खड़े करना, कोमलता का प्रतीक, इच्छामि खमासमणो;
४. खड़े रहना, तत्परता तथा उद्यम का प्रतीक, बारह व्रतादि;
५. दोनों घुटने जमीन पर टिका देना, अर्पणता (शरणागति), पांच प्राणातिपात वन्दना;
६. पद्मासन से बैठना, स्थिरता-समाधि का प्रतीक, संलेखना;
७. खड़े रहना – जिनमुद्रा में रहना, तत्परता का प्रतीक, कार्योत्सर्ग मुद्रा।

प्रतिक्रमण करने से आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनती है। व्रतों के परिपालन में भी निर्मलता आती है तथा राग-द्वेष, विषय और कषाय मन्द होते हैं। आत्मबल व अतीन्द्रिय सुख में वृद्धि होती है; भव भ्रमण मिटता है तथा तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है।

प्रतिक्रमण के भेद : साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं : १. श्रमण प्रतिक्रमण और २. श्रावक प्रतिक्रमण।

कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के पांच भेद हैं :

१. राई प्रतिक्रमण : रात्रि सम्बन्धी पापों की आलोचना के लिये जो प्रतिक्रमण किया जाता है, वह (प्रातः) राई प्रतिक्रमण कहलाता है।
२. देवसी प्रतिक्रमण : दिन में हुए पापों की शुद्धि के लिये जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे (संध्या) देवसी प्रतिक्रमण कहते हैं।
३. पाक्षिक प्रतिक्रमण : एक पक्ष (पन्द्रह दिन) दरम्यान हुए पापों की आलोचना हेतु प्रत्येक चतुर्दशी के दिन जो संध्या को प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे पाक्षिक प्रतिक्रमण कहते हैं।
४. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण : चार मास में हुए पापों की शुद्धि के लिये आषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी के दिन संध्या को जो प्रतिक्रमण किया जाात है, उसे चातुर्मासिक प्रतिक्रमण कहते हैं।
५. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण : वर्ष सम्बन्धी पापों की शुद्धि के लिये भाद्रपद्र शुक्ल चतुर्थी के दिन संध्या को जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

इन पांचों प्रतिक्रमणों में कितने श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग होते हैं :

-राई प्रतिक्रमण में ५० श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग;
-देवसी प्रतिक्रमण में १०० श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग;
-पाक्षिक प्रतिक्रमण में ३०० श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग;
-चौमासी प्रतिक्रमण में ५०० श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग; और
-सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में १००८ श्वासोच्छ्वास का काउसग्ग।

५. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ शरीर का उत्सर्ग करना है। सीमित समय के लिये ममत्व का परित्याग कर शारीरिक क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्व बहुत अधिक है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग की परम्परा है। वस्तुतः देहाध्यास को समाप्त करने के लिए भी कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग शरीर के प्रति ममत्व भाव को कम करता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यकनिर्युक्ति में शुद्ध कायोत्सर्ग के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखते हैं कि चाहे कोई भक्तिभाव से चन्दन लगाए, चाहे उसी क्षण मृत्यु आ जाए; परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता, सब स्थितियों में समभाव रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।[१०३] देहव्युत्सर्ग के बिना देहाध्यास का टूटना सम्भव नही। जब तक देहाध्यास या देहभाव नहीं छूटता तब तक मुक्ति सम्भव नहीं। इस प्रकार देहाध्यास को छोड़ने के लिये कायोत्सर्ग भी आवश्यक है।

कायोत्सर्ग की मुद्रा :

१. जिनमुद्रा में खड़े होकर;
२. पद्मासन या सुखासन से बैठकर; और
३. लेटकर।

कायोत्सर्ग की अवस्था में शरीर शिथिल होना चाहिये।

कायोत्सर्ग के प्रकार - जैन परम्परा में कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं : १ द्रव्य; और २ भाव।

---

[१०३] 'वासी-चंदणकप्पो, जो मरणे जीविए च समसण्णो।
देहे य अवडिबद्धो, काउसग्गो हवई तस्स ।। १५४६ ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति।

द्रव्य कायोत्सर्ग शारीरिक चेष्टा का निरोध है और भाव कायोत्सर्ग ध्यान है। इस आधार पर जैनाचार्यों ने कायोत्सर्ग की एक चौभंगी दी है।

१. उत्थित : उत्थित काय चेष्टा के निरोध के साथ ध्यान में प्रशस्त विचार का होना।
२. उत्थित-निविष्काय : चेष्टा का निरोध तो हो, लेकिन विचार (ध्यान) अप्रशस्त हो।
३. उपविष्ट-उत्थित : शारीरिक चेष्टाओं का पूरी तरह निरोध न हो पाता हो, लेकिन विचार विशुद्धि हो।
४. उपविष्ट-निविष्ट : न तो विचार (ध्यान) विशुद्धि हो और न शारीरिक चेष्टाओं का निरोध ही हो।

इनमें पहला और तीसरा प्रकार ही आचरणीय है।

कायोत्सर्ग के दोष : प्रवचन सारोद्धार में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं :

१. घोटक दोष;	२. लता दोष;	३. स्तम्भकुड्य दोष;
४. माल दोष;	५. शबरी दोष;	६. वधू दोष;
७. निगड दोष;	८. लम्बोतर दोष;	९. स्तन दोष;
१०. उर्द्धिका दोष;	११. संयती दोष;	१२. खलीन दोष;
१३. वायस दोष;	१४. कपित्थ दोष;	१५. शीर्षोत्कम्पित दोष;
१६. मूक दोष;	१७. अंगुलिका भूदोष;	१८. वारूणी दोष; और
१९. प्रज्ञा दोष।		

इन दोषों का सम्बन्ध शारीरिक एवं आसन सम्बन्धी अवस्थाओं से है। इन दोषों के प्रति सावधानी रखते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिये।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिससे आत्मा निर्भय बनकर अपना कठिनतम उद्देश्य सिद्ध कर सकती है। इसी कारण कायोत्सर्ग क्रिया आध्यात्मिक है। कायोत्सर्ग तप में सबसे प्रमुख है। कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो जाता है, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में भी सिद्ध हो जाता है।[१०४]

---

[१०४] (क) 'तुम अनन्त शक्ति के स्त्रोत हो' पृ. २७-२८। -मुनि नथमलजी।
(ख) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४०७। -डॉ. सागरमल जैन।

६. प्रत्याख्यान

त्याग की प्रवृत्ति या भोगों से विमुखता प्रत्याख्यान है। इच्छाओं के निरोध के लिये प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्त्तव्य है। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित अथवा सीमित करना।[१०५] प्रत्याख्यान समत्व को पुष्ट बनाता है। प्रत्याख्यान जीवन पर ब्रेक का कार्य करता है। नित्य कर्मों में प्रत्याख्यान का समावेश इसलिये किया गया है कि साधक आत्मशुद्धि के लिये प्रतिदिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करता रहे। नियमित त्याग करने से अभ्यास होता है, जीवन में अनासक्ति का विकास और तृष्णा मन्द होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी बताया गया है कि प्रत्याख्यान से आस्रवद्वारों का निरोध होता है।[१०६] प्रवचनसारोद्धार में प्रत्याख्यान का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ इस प्रकार किया गया है - अविरतिस्वरूप जो प्रवृत्तियाँ अहिंसादि के प्रतिकूल हैं, उनका मर्यादापूर्वक कुछ आगार सहित त्याग करने का गुरू आदि के समक्ष संकल्पबद्ध होना प्रत्याख्यान है। इसके तीन शब्द हैं - प्रति + आ + आख्यान। प्रति = असंयम के प्रति, आ = मर्यादापूर्वक, आख्यान = प्रतिज्ञा या संकल्प करना।[१०७] दैनिक प्रत्याख्यान के साथ विशेष पर्व दिवसों में कुछ नहीं खाना या सम्पूर्ण दिवस के आहार का परित्याग करना अथवा नीरस या रूखा भोजन करना आदि-आदि।

प्रत्याख्यान के दो रूप हैं :

१. द्रव्य प्रत्याख्यान : आहार सामग्री, वस्त्र, परिग्रह आदि बाह्य पदार्थों में से कुछ को छोड़ देना द्रव्य प्रत्याख्यान है।

२. भाव प्रत्याख्यान : राग-द्वेष, कषाय आदि अशुभ मानसिक

---

१०५ योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति (उद्धृत श्रमणसूत्र पृ. १०४)।

१०६ (क) 'पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ,
इच्छानिरोह गए य जीवे सव्वदव्वेसु विणीय-तण्हे सीईभूए विहरई ।। १४ ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र अ. २६।

(ख) 'पच्चक्खणंमि कए आसवदाराइं हुति पिहियाइं।
आसव-वुच्छेएणं तण्हा-वुच्छेयणं होई ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति १५६४।

१०७ (क) 'प्रवचनसारोद्धार'। -हेमप्रभाश्रीजी से उद्धृत्।

(ख) स्थानांगवृत्ति स्था. २. की वृत्ति में प्रत्याख्यान के १० भेद और उनकी व्याख्या।

प्रवृत्तियों का परित्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रकारान्तर से भगवतीसूत्र में प्रत्याख्यान के दस भेद वर्णित हैं।[१०८]

१. अनागत : पर्व की तपसाधना को पूर्व में ही कर लेना;
२. अतिक्रान्त : पर्व तिथि के पश्चात् पर्व तिथि का तप करना;
३. कोटि सहित : पूर्व गृहीत नियम की अवधि समाप्त होते ही बिना व्यवधान के भविष्य के लिये प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेना;
४. नियन्त्रित : विघ्न बाधाओं के होने पर पूर्व संकल्पित व्रत आदि की प्रतिज्ञा कर लेना;
५. साकार (सापवाद);
६. निराकार (निरपवाद);
७. परिमाणकृत (मात्रा सम्बन्धी);
८. निरवशेष (पूर्ण);
९. सांकेतिक : संकेत चिन्ह से सम्बन्धित; और
१०. अद्धा प्रत्याख्यान : समय विशेष के लिये किया गया प्रत्याख्यान।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का महत्त्व बताते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान करने से संयम होता है। संयम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का क्षय होता है।[१०९] तृष्णा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात् माध्यस्थ्य परिणाम होता है और अनुपम उपशम भाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है।[११०]

उत्तराध्ययनसूत्र में ६ प्रकार के उत्कृष्ट प्रत्याख्यानों तथा उनसे होने वाले कषायमुक्ति और कर्ममुक्ति की उपलब्धि का स्पष्ट निरूपण किया गया है। वह इस प्रकार है :

१. संयोग; २. उपधि; ३. आहार; ४. कषाय;

---

[१०८] 'अणागय मइक्कंतं कोऽसहियं निंदियं चेव,
सागरमणागारं परिमाण कडं निरवसेस।
संकेयं चेव अद्धाण-पच्चक्खाणं भवे दसहा ।। -भगवतीसूत्र ७/२।

[१०९] 'पच्चक्खाणंमिकए आसवदाराई हुंति पिहियाइं।
आसव वुच्छेएण, तण्हा-वुच्छेयणं होइ ।। १५६४ ।।' -आवश्यकनिर्युक्ति।

[११०] 'तण्हा-वोच्छेदेण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चखाणं हवइ सुद्धं ।।१५६५ ।।' -वही।

५. योग; ६. शरीर; ७. सहाय; ८. भक्त; और
९. सद्भाव प्रत्याख्यान (प्रवृत्तिमात्र का प्रत्याख्यान)।[१११]

वस्तुतः प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है। जैन परम्परा के अनुसार आस्रव एवं बन्धन का एक कारण अविरति भी कहा गया है। प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है। प्रत्याख्यान त्याग के सम्बन्ध में ली गई प्रतिज्ञा या आत्म-निश्चय है। प्रत्याख्यान दुराचार से निवृत्त होने के लिए किया जाने वाला दृढ़ संकल्प है। उसके अभाव में नैतिक जीवन में प्रगति सम्भव नहीं है। स्थानांगसूत्र में प्रत्याख्यान-शुद्धि के लिए पांच विधान हैं :

१. श्रद्धान शुद्ध; २. विनय शुद्ध; ३. अनुभाषण शुद्ध;
४. अनुपालन शुद्ध; और ५. भाव शुद्ध।[११२]

इन पांचों के होते हुए गृहीत प्रतिज्ञा शुद्ध होती है और ये नैतिक प्रगति में सहायक होते हैं।

यदि व्यक्ति इन छः आवश्यकों को विधिपूर्वक एवं भावपूर्वक करता है, तो उसकी सभी क्रियाएँ स्थूल या सूक्ष्म रूप से समत्वयोग में समाविष्ट हो जाती हैं; क्योंकि ये सभी परस्पराश्रित हैं। सामायिक या समत्वयोग की प्रतिज्ञा विधि में भी इन समस्त आवश्यक क्रियाओं को क्रम से समाविष्ट किया गया है :

१. 'करेमि...समाइयं...' : सामायिक आवश्यक - समतापूर्वक सामायिक करने की अनुज्ञा ।

२. 'भन्ते...भदन्त...भगवान' : जिनेश्वर भगवान से प्रार्थना 'चतुर्विंशतिस्तव' है।

३. 'तस्स भन्ते...' : गुरूओं को वन्दन करते करते आत्मनिन्दा और गर्हा की जाती है, वह वन्दन है।

४. 'पडिकम्मामि...' : पापों की निन्दा करना या पापों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित करना प्रतिक्रमण की क्रिया है।

५. 'अप्पाणं...वोसरामि...' : अर्थात् मैं आत्मा को उस पापरूप

---

[१११] उत्तराध्ययनसूत्र २९/३३-४१ ।
[११२] स्थानांगसूत्र ५/३/४६६ ।

व्यापार से हटाता हूँ। यह व्युत्सर्ग है।

६. 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' : अर्थात् उन पाप वाली प्रवृत्तियों या व्यापार का प्रत्याख्यान करता हूँ; उनको प्रतिज्ञापूर्वक छोड़ता हूँ। यह कथन प्रत्याख्यान है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २६वें अध्ययन में भी बताया गया है - "सामाइएण सावज्जोग विरइ जनअइ"। अर्थात् सामायिक करने से जीव सावद्ययोग से विरति को प्राप्त करता है।

आत्म विशुद्धि के लिए जितनी देर तक अपनी चित्तवृत्तियों का समत्व करते हैं, उतने समय तक राग-द्वेष और तद्जन्य कषायों से निवृत्त हो जाते हैं।

सामायिक अर्थात् समत्वयोग के लक्षण

सामायिक का मुख्य लक्षण समता और समभाव है। समता का अर्थ है - मन की स्थिरता और राग-द्वेष का अभाव तथा समभाव अर्थात् सुख-दुःख में निश्चलता, एकाग्रता इत्यादि। हरिभद्रसूरि ने अष्टकप्रकरण में सामायिक के निम्न लक्षण बताये हैं :

'समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभ भावना।
आर्तरौद्र-परित्यागस्तद्धि, सामायिकं व्रतम्।।'[११३]

सभी जीवों पर समता समभाव रखना, पांचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, अन्तर्हृदय से शुभ भावना या शुभ संकल्प करना और आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म ध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है। रागादि विषम भावों से हटकर स्वस्वरूप में रमण करना ही सामायिक या समत्वयोग की साधना है।

हेमचन्द्राचार्य ने 'योगशास्त्र' में भी सामायिक के स्वरूप का वर्णन निम्नानुसार किया है :

'त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त सावद्य कर्मणः
मुहूर्तं समता या तां विदुः सामायिक व्रतम्।'[११४]

---

[११३] सामायिकसूत्र।

[११४] 'त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त - सावद्यकर्मणः।
मुहूर्तं समता या तां विदुः सामायिक व्रतम् ।।८२।।' योगशास्त्र ३।

आर्त्त और रौद्र ध्यान तथा सावद्य कर्मों का त्याग कर एक मुहूर्त तक समभाव में रहने को सामायिक व्रत कहा जाता है।

'सावद्यकर्ममुक्तस्य दुर्ध्यान रहितस्य च
समभावो मुहूर्त तद्-वर्तं सामायिकाहवम्'

सावद्य कर्म से दूर होकर एक मुहूर्त के लिये समभाव में स्थिर होना ही सामायिक है।

महर्षियों ने सामायिक के लक्षण इस प्रकार बताये हैं :

१. सभी जीवों के प्रति समभाव रखना;
२. आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करना;
३. शुद्ध भाव रखना;
४. सावद्य योगों (पापमय प्रवृत्तियों) से निवृत्त होना;
५. संयम धारण करना;
६. सामायिक की आराधना कम से कम एक मुहूर्त के लिये (दो घड़ी अथवा ४८ मिनिट) करना।

समता या समभाव सामायिक की साधना का सब से महत्त्वपूर्ण लक्षण है, जिसमें दूसरे सभी लक्षणों का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार पुष्प का सार गन्ध है, दुग्ध का सार घृत है, तिल का सार तेल है और इक्षु का सार मिठास है; उसी प्रकार सामायिक का सार समता है। समता के बिना सामायिक निष्प्राण है।

सन्त आनन्दघनजी ने बताया है कि समता आत्मा की स्वभाव दशा है और ममता विभावदशा। उन्होंने समता को आत्मा (चेतन) की सहधर्मिणी अर्थात् बड़ी पत्नी और ममता को आत्मा की विधर्मिणी अर्थात् छोटी पत्नी के रूप में कल्पित किया है। इसके साथ उन्होंने समता को आत्मा का निजघर और ममता को आत्मा का परघर कहा है।

समता का दर्शन समभाव को जाग्रत करता है और समानता के बोध को भी परिपुष्ट बनाता है। आत्मा जब समत्व के चश्में से देखती है, तो ममत्व का आवरण दूर हट जाता है; क्योंकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप समत्वमय है। जब समता का विकास होता है, तो ममता क्षीण हो जाती है।

सामायिक का स्वरूप

अनुयोगद्वारसूत्र तथा आचार्य भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यकनिर्युक्ति में समभाव रूप सामायिक का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है[१९५] :

'जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासियं।।'

जो साधक त्रस, स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी ही शुद्ध सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

'जस्स समणिओ अप्पा संयमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि-भासियं।।'

जिसकी आत्मा संयम तप नियम में संलग्न होती है उसकी, सामायिक ही शुद्ध सामायिक है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक में कहा है कि[१९६] :

'समभावो सामाइयं, तण-कंचन-सत्तु मित्त विसउत्ति।
णिरभिस्संग चित्त उचिय पवित्तिप्पहाणं च।।'

चाहे तिनका हो या सोना, शत्रु हो या मित्र – सभी में अनासक्त रहना या पाप रहित धार्मिक प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

तत्त्वार्थसूत्र की टीका में उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी के उपनिषद् के रूप में बताया है[१९७] :

'सकल द्वादशांगोपानिषद् भूत'

सामायिक सूत्रवत् पूर्वजन्म की आराधना के कारण सभी तीर्थंकर परमात्मा स्वयंबुद्ध ही होते है। वे भी सिद्ध भगवन्तों एवं अपनी आत्मा को साक्षी रखकर सावद्य योग के पच्चक्खाण लेकर यावज्जीवन सामायिक व्रत को ग्रहण करते हैं तथा गृहस्थ वेष का त्याग कर पंचमुष्टि लोच कर सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर स्वयं दीक्षित हो जाते हैं।

---

[१९५] आवश्यकनिर्युक्ति ७६६ ।
[१९६] पंचाशक १९/५ ।
[१९७] तत्त्वार्थ टीका १/१ ।

तीर्थंकर परमात्मा को जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि – ये तीनों ज्ञान होते हैं। दीक्षा को अंगीकार करते ही उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान प्रकट हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा दीक्षा ग्रहण करते समय सर्वप्रथम सामायिक की साधना की प्रतिज्ञा करते हैं :

'सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं त्ति कट्टु सामाइयं चरितं पडिवज्जइ।'

प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं और सबसे प्रथम सामायिक व्रत का ही उपदेश देते हैं।

हरिभद्रसूरि ने 'अष्टकप्रकरण' में सामायिक को 'मोक्षांग रूप' अर्थात् मोक्ष का अंग बताया है :

'सामायिकं च मोक्षांग परं सर्वज्ञ भाषितम्।
वासीचन्दन कल्पनामुक्तमेतन्मदात्मनाम् ।। २६/१।।'[११८]

वासी चन्दनकल्प में वासी शब्द का अर्थ होता है – वसूला। यह बढ़ई का एक साधन है। लकड़ी की छाल उखेड़ने में उसका उपयोग होता है। कोई व्यक्ति किसी के एक हाथ पर वसूला रखकर हाथ की त्वचा उखेड़ता हो और दूसरा व्यक्ति दूसरे हाथ पर चन्दन का लेप लगाता हो – इन दोनों के प्रति समभाव रख सके, ऐसे महात्माओं की समता को मोक्षांग रूप सामायिक या समत्वयोग बतलाया गया है। 'वासी चन्दन' का दूसरा अर्थ इस प्रकार से किया गया है कि चन्दन वृक्ष ज्यों-ज्यों काटा जाता है, त्यों-त्यों वह काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित कर देता है। इसी तरह साधक भी अपने समत्वयोग के द्वारा वैर-विरोध करने वाले लोगों के प्रति समभाव रूपी सुगन्ध अर्पित करता है। इसीलिये सर्वज्ञ भगवान ने समत्व या सामायिक को मोक्ष का अंग माना है।

समत्वयोग या सामायिक के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। समताभाव धारण कर आत्मरमणता का अनुभव करने के लिये सामायिक ही एक मात्र उपाय है। इसलिये हरिभद्रसूरि ने 'अष्टकप्रकरण' में सामायिक का फल केवलज्ञान बताते हुए

---

[११८] अष्टकप्रकरण २६/१। -हरिभद्रसूरिसूरि।

कहा है कि :

'सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा घाति कर्मणः
क्षयात्केवलमाप्नोती लोकालोक प्रकाशकम्।।'[११९]

सामायिक से विशुद्ध बनी हुई आत्मा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय कर लोकालोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करती है।

कहा भी गया है कि[१२०] :

'किं तिव्वेण तवेणं किं च जवेणं किं च चरितेणं।
समयाइ विण मुक्खो न हु हुओ कहवि न हु होइ।।'

कितना भी उत्कृष्ट तप करे, जप-जपे या चारित्र को ग्रहण करे, किन्तु समता (उत्कृष्ट सामायिक) के बिना न तो किसी का मोक्ष हुआ है, न होता है और न होने वाला है।

भगवतीसूत्र में कहा गया है कि :[१२१]

'अप्पा सामाइयं, अप्पा सामाइयस्स अत्थो।'

अर्थात् आत्मा सामायिक है। आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने १२५ गाथाओं के स्तवन में कहा है कि :

'भगवती अंगे भखीओ, सामायिक अर्थ, सामायिक
पण आत्मा धरो सूधो अर्थ, आत्मा तत्त्व विचारीए।'

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है, अतः आत्मतत्त्व का विचार करो।

कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में सामायिक का वर्णन किया है। त्रस और स्थावर, सभी जीवों के प्रति जो समता भाव रखता है, उसकी सामायिक स्थायी है। ऐसा केवली भगवन्तों ने कहा है।[१२२]

---

[११९] अष्टकप्रकरण ३०/१।
[१२०] उद्धृत - सामायिकसूत्र पृ. ७८ (अमरमुनि)।
[१२१] भगवतीसूत्र १/६ (पाठान्तर है)।
[१२२] 'जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलि सासणे।। १२६ ।।' -नियमसार।

'विशेषावश्यकभाष्य' में भी कहा गया है कि :[१२३]
'सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव'

सामायिक में उपयोगयुक्त आत्मा अपने आप स्वयं साामायिक है। सामायिक के आठ पर्यायवाची नाम शास्त्रों में मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं :

'सामाइयं समइयं सम्मंवाओ समास संखेवों।
अणवज्झं च परिण्णा पंच्चखाणेय ते अट्ठा।।'

१. सामायिक; २. समायिक; ३. समवाद; ४. समास;
५. संक्षेप; ६. अनवद्य; ७. परिज्ञा; और ८. प्रत्याख्यान।

इस तरह सामायिक के साधकों के आठ नाम हैं।

'दमदंत मेअज्जे कालय पुत्था चिलाइपुत्ते य।
धम्मतरूइ इला तेइली सामाइया अट्ठुदाहरणा।।'

आठ सामायिक साधकों के आठ दृष्टान्तों के नाम इस प्रकार हैं :

१. दमदन्त राजवी; २. मेतार्य मुनि;
३. कालकाचार्य; ४. चिलाती पुत्र;
५. लौकिकाचार पण्डित लोग; ६. धर्मरुचि साधु;
७. इलाचीपुत्र; और ८. तेतली पुत्रादि।

सामायिक के आठ नाम एवं उदाहरण इस प्रकार हैं :

१. सामायिक : सामायिक उसे कहा गया है, जिसमें समता, समत्व या समभाव हो। दमदन्त राजवी का समभाव सामायिक के दृष्टान्त रूप में उपलब्ध होता है।
२. समयिक : स-मयिक। मया का अर्थ है दया। सर्व जीवों के प्रति दया भाव रखना, यही है समयिक या सामायिक। इस समयिक पर मेतार्यमुनि का दृष्टान्त सुप्रसिद्ध है।
३. समवाद : सम का अर्थ है राग-द्वेष रहित। जिसमें राग-द्वेष से रहित वचन बोले जाते हैं, वही समवाद सामायिक है। उसके लिये कालकाचार्य का दृष्टान्त दिया जाता है।
४. समास : समास का अर्थ है संलग्न होना, एकत्रित करना, संक्षिप्त करना और कम शब्दों में शास्त्रों के मर्म को समझना।

---

[१२३] सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेण, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।। २६६० ।।'
-विशेषावश्यकभाष्य (उद्धृत् सामायिकसूत्र)।

इस समास सामायिक पर चिलाती पुत्र का दृष्टान्त मिलता है।

५. संक्षेप : द्वादशांगी का सार रूप तत्त्व जानना। इस संक्षेप सामायिक पर लौकिकाचार पण्डितों का दृष्टान्त मिलता है।

६. अनवद्य : अनवद्य का अर्थ है, निष्पाप। पाप रहित आचरण रूप सामायिक अनवद्य कहलाती है। उस पर धर्मरुचि अणगार का दृष्टान्त मिलता है।

७. परिज्ञा : परिज्ञा का अर्थ है, तत्त्व को अच्छे रूप से जानना। परिज्ञा सामायिक पर इलाचीकुमार का दृष्टान्त मिलता है।

८. प्रत्याख्यान : प्रत्याख्यान का अर्थ है, त्याग या दृढ़ प्रतिज्ञा। प्रत्याख्यान सामायिक पर तेतलीपुत्र का दृष्टान्त मिलता है।

जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर परमात्मा भी साधना में प्रविष्ट होते समय सामायिक चारित्र ग्रहण करते हैं। उसके द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर वे सभी प्राणियों के कल्याण के लिये सर्वप्रथम सामायिक अर्थात् समत्वयोग की साधना का उपदेश देते हैं। उनके इसी उपदेश के आधार पर गणधर अपने बुद्धिबल से द्वादशांगी की रचना करते हैं। इस प्रकार सामायिक को जिनागमों का सार तत्त्व कहा गया है। द्वादशांगी का आरम्भ सामायिकसूत्र से ही होता है। साधक अपने अध्ययन क्रम में सर्वप्रथम सामायिकसूत्र का ही अध्ययन करता है।

सामायिक ब्रह्मस्वरूप है। वह शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कराती है; क्योंकि यह क्लिष्ट चित्तवृत्तियों को शान्त स्वभाव में स्थिर करती है। सामायिक सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी को प्राप्त कराने वाली अमोघ औषधि है। सामायिक की क्रिया बहुत ही पवित्र एवं विशुद्ध क्रिया है। ४८ मिनिट (दो घड़ी) तक एकान्त स्थान में बैठकर सावद्य व्यापारों का त्याग कर, सांसारिक उलझनों से विरक्त होकर अपनी योग्यता के अनुसार अध्ययन, चिन्तन, ध्यान, जप आदि करना सामायिक है।

सामायिक में लगने वाले दोष

गृहस्थ विधिपूर्वक, चेतनापूर्वक और ध्यानपूर्वक सामायिक करने बैठता है, फिर भी कभी-कभी जाने-अनजाने में मन, वचन और काया सम्बन्धी दोष हो जाने की सम्भावना रहती है। इसलिये

सामायिक में दस मन के, दस वचन के और बारह काया के दोषों को जानना अति आवश्यक है, जिससे साधक इन दोषों से बच कर पवित्र सामायिक व्रत या समत्वयोग की साधना कर सकते हैं।

मन के दस दोष इस प्रकार हैं :

'अविवेक जसो कित्ती लाभत्थो गवव भय नियाणत्थो
संसय रोस अविणओ अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा।'[१२४]

१. अविवेक;	२. यशःकीर्ति;	३. लाभार्थ;
४. गर्व;	५. भय;	६. निदान;
७. संशय;	८. रोष;	९. अविनय; और

१०. अबहुमान।

१. अविवेक : सामायिक करते समय विवेक नहीं रखना अथवा सामायिक के प्रयोजन और स्वरूप के ज्ञान से वंचित रहकर सामायिक करना, यह अविवेक दोष है।

२. यशःकीर्ति : सामायिक करने से मुझे यश मिले, समाज में मेरा आदर-सत्कार हो, लोग मुझे धर्मात्मा कहें - इस प्रकार की कामना से सामायिक करे, तो यह यशःकीर्ति दोष है।

३. लाभार्थ : धन, अर्थ की इच्छा रखकर व्यापार में वृद्धि हो, रोग-शोक और विपदा नष्ट हो जाये इत्यादि विचार से सामायिक करे तो लाभार्थ दोष होता है।

४. गर्व : मेरे जितनी सामायिक कोई नहीं कर सकता, ऐसी अहं की भावना से जो सामायिक करे, वह गर्व दोष है।

५. भय : यदि मैं सामायिक नहीं करूंगा तो लोगों में मेरी आलोचना होगी। इस प्रकार की चिन्ता व भय से सामायिक करना भय दोष है।

६. निदान : निदान का अर्थ है प्राप्ति की इच्छा रखना। धन, स्त्री, पुरुष आदि का लाभ हो, ऐसे फल की इच्छा का संकल्प करके सामायिक करे तो निदान दोष है।

७. संशय : इतनी समायिक करने से मुझे अमुक फल की प्राप्ति होगी या नहीं, इस प्रकार की शंका करना यह संशय दोष है।

८. रोष : क्रोध, मान, माया और लोभपूर्वक एवं अन्य कषायसहित सामायिक करना रोष दोष है।

९. अविनय : सामायिक में देव, गुरू और धर्म की विनय नहीं

---

[१२४] उद्धृत सामायिकसूत्र पृ. ५९-६०।

करना, यह अविनय दोष है।

१०. अबहुमान : बहुमान एवं उत्साह रहित, किसी के दबाव से सामायिक करना अबहुमान सामायिक है।

वचन के दस दोष इस प्रकार हैं :

'कुवयण सहसाकारो, सछंद संखेय कलहं च।
विग्गहा विहांसोऽसुद्धं निखेक्खो मुणमुणा दस दोसा।।'[१२५]

१. कुवचन; २. सहसाकार; ३. स्वच्छन्द; ४. संक्षेप;
५. कलह; ६. विकथा; ७. हास्य; ८. अशुद्ध;
९. निरपेक्ष; और १०. मुण मुण;

१. कुवचन : सामायिक में असभ्य, तुच्छ, अपमानजनक वचन बोलना कुवचन दोष है।

२. सहसाकार : असावधानी से बिना सोचे समझे सहसा असत्य बोलना सहसाकर दोष है।

३. स्वच्छन्द : शास्त्र-सिद्धान्त के विरूद्ध अनादर युक्त बोलना स्वच्छन्द दोष है।

४. संक्षेप : सामायिक सूत्र को सम्पूर्णतः न बोलकर उसका संक्षेप में उच्चारण करना संक्षेप दोष है।

५. कलह : दूसरे के मन को दुःख पहुँचे, पारस्परिक क्लेश पैदा हो, जानबूझकर ऐसे शब्द बोलना कलह दोष है।

६. विकथा : बिना किसी उद्देश्य के, मनोरंजन की दृष्टि से स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा करना विकथादोष है।

७. हास्य : सामायिक में हंसी, मसखरी करना, कटाक्ष एवं व्यंगपूर्ण शब्द बोलना हास्य दोष हैं।

८. अशुद्ध : सामायिक पाठ के शब्दों को असावधानी से जल्दी-जल्दी बोलना, स्वर व्यंजन का ध्यान नहीं रखना, यह अशुद्ध दोष है।

९. निरपेक्ष : सामायिक में सूत्र सिद्धान्त और शास्त्र की उपेक्षा करके असत्य बोलना निरपेक्ष दोष है।

१०. मुणमुण : मुणमुण का अर्थ है गुनगुनाना। सूत्र आदि का पाठ करते समय शब्दों का उच्चारण स्पष्ट नहीं करना, जैसे-तैसे गुनगुनाते हुए बोलना, यह मुणमुण दोष है।

---

[१२५] वही पृ. ६१।

काया के बारह दोष इस प्रकार हैं :

'कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी,
सावज्जकिरिया लंबण कुंचण पसारण।
आलस मोडन मल विमासणं,
निद्रा वेयावच्चति बारस काय दोसा।।'[१२६]

१. कुआसन;	२. चलासन;	३. चलदृष्टि;
४. सावद्यक्रिया;	५. आलम्बन;	६. आकुंचन-प्रसारण;
७. आलस्य;	८. मोड़न;	९. मल;
१०. विमासण;	११. निद्रा; और	१२. वैयावृत्य।

१. कुआसन : सामायिक में पैर पर पैर चढ़ाकर अयोग्य रूप से अभिमान एवं अविनयपूर्वक गुरू के समक्ष बैठना कुआसन दोष है।

२. चलासन (अस्थिरासन) : सामायिक में अस्थिर और झूलते आसन पर बैठना अथवा बैठने की जगह बार-बार बदलना चलासन दोष है।

३. चलदृष्टि : दृष्टि स्थिर न रखकर चंचल रखना, बार-बार इधर-उधर दृष्टि करना चल दृष्टि दोष है।

४. सावद्यक्रिया : सामायिक में बैठकर पापयुक्त क्रिया स्वयं करना अथवा संकेतपूर्वक दूसरों से कराना सावद्य क्रिया दोष है।

५. आलम्बन : बिना किसी रोगादि के कारण दीवार या अन्य चीजों का सहारा लेना प्रमाद, आलस्य और अविनय का सूचन है। यह आलम्बन दोष है।

६. आकुंचनप्रसारण : निष्प्रयोजन हाथ-पैरों को सिकोड़ना, लम्बे करना आकुंचन प्रसारण दोष है।

७. आलस्य : सामायिक में आलस्य करना या गहराई से अंगड़ाई लेना आलस्य दोष है।

८. मोड़न : सामायिक में बैठकर हाथ-पैर व अन्य अवयव को दबाकर आवाज करना मोड़न दोष है।

९. मल : शरीर का मैल निकालना मल दोष है।

१०. विमासण : गाल पर हाथ रखकर शोकग्रस्त बैठना, इधर-उधर जाना आना, चिन्ता करना विमासण दोष है।

---

[१२६] उद्धृत सामायिकसूत्र पृ. ६३।

११. निद्रा : सामायिक में नींद के झटके खाना या सो जाना निद्रा दोष है।

१२. वैयावृत्य : सामायिक में शरीर की सेवा सुश्रुषा करवाना, यह वैयावृत्य दोष है। कहीं वैयावच्च के विकल्प में वस्त्र संकोचन दोष भी मानते हैं अर्थात् सर्दी और गर्मी के कारण या निष्प्रयोजन वस्त्रों को समेटना या प्रसारित करना। कुछ आचार्यों ने इसे कम्पन दोष भी माना है। शीत आदि के कारण शरीर आदि का काँपना कम्पन दोष है।

मन, वचन और काया – इन तीनों को स्थिर करने का साधन, साधक के लिये सामायिक है। इसकी साधना करने वालों को इन ३२ दोषों के प्रति पूर्णतया सावधानी बरतनी चाहिये।

३.६ सामायिक की साधना के विविध प्रकार

जैनदर्शन के अनुसार समत्वयोग की साधना को यदि अति संक्षेप में कहना हो, तो वह सामायिक की साधना है। जैनदर्शन में त्रिविधि साधनामार्ग के रूप में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की चर्चा हुई है, वह सामायिक की साधना से भिन्न नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ योगशास्त्र तथा उनसे पूर्व जिनभद्रगणि के विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक के तीन प्रकार बताये गए हैं।[१२७] उसमें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का समावेश सामायिक में ही किया गया है। इस प्रकार चाहे हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को साधनामार्ग मानें या सामायिक को ही साधनामार्ग माने, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के आगे लगा हुआ सम्यक् शब्द ही उनके समभाव या सामायिक से युक्त होने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। जैनदर्शन में चारित्र के पांच प्रकारों का उल्लेख करते हुए भी उनमें सर्वप्रथम स्थान सामायिक चारित्र को दिया गया है। इस प्रकार जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना ही वस्तुतः सामायिक की साधना है। क्योंकि समत्व के अभाव में ज्ञान,

---

[१२७] 'सामाइयं च तिविहं, सम्मत्त सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं, आगारमणगारियं चेव ।। ७९८ ।। आवश्यकनिर्युक्ति।

दर्शन और चारित्र भी सम्यक् नहीं बनते। इसी प्रकार सामायिक चारित्र, छेदोस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र में भी सामायिक चारित्र इसलिये प्रधान हैं कि इन सभी चारित्रों के परिपालन में सामायिक चारित्र का परिपालन तो निहित ही रहता है।

सामायिक चारित्र का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे अथवा जप करे अथवा आचार नियमों का पालन करे; परन्तु सामायिक अर्थात् समभाव की साधना के बिना न तो किसी का मोक्ष हुआ है, और न होगा। पुनः यह भी कहा गया है कि तीव्रतम तप के करने से करोड़ो पूर्व जन्मों के संचित जो कर्म नष्ट नहीं हो पाते हैं, वे समभाव या समत्व की साधना के द्वारा आधे क्षण में ही नष्ट हो जाते हैं। सामायिक को जैन धर्म में मोक्ष का निकटतम या साधकतम कारण माना गया है। कहा गया है कि जो कोई भी मोक्ष गये हैं, जो मोक्ष में जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त करेंगे वे सभी सामायिक या समत्वयोग की साधना से ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। समत्वयोग की साधना के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। आचार्य हरिभद्रसूरि तो अपने व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत को मानने वाला हो, सामायिक या समभाव की साधना करने पर निश्चित ही मुक्ति को प्राप्त करता है – इसमें कोई सन्देह नहीं है।[१२८] ये सभी कथन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि जैन साधना का आधार स्तम्भ समत्वयोग या सामायिक की साधना है। समत्वयोग या सामायिक की साधना के अभाव में साधना के अन्य सभी रूप केवल कर्मकाण्ड ही बन कर रह जाते हैं। सामायिक या समत्वयोग की साधना जैन साधना का प्राण है।

सामायिक की साधना क्या है और कैसे होती है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए जैनाचार्य लिखते हैं कि सामायिक सावद्य योग

---

[१२८] 'सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा ।
समभाव भावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ।' -हरिभद्रसूरि ।

का परित्याग और निरवद्य योग का प्रतिसेवन है।[१२९] सावद्य या सावज्ज शब्द का अर्थ है - हिंसा या पाप से युक्त क्रिया। इस प्रकार सामायिक या समत्वयोग की साधना अहिंसा या पाप प्रवृत्तियों से निवृत्ति की साधना है।[१३०] एक अन्य जैनाचार्य ने सामायिक के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखना, इन्द्रियों और मन को नियन्त्रण में रखना, आर्त और रौद्र भावों का परित्याग करना और सभी जीवों के मंगल की शुभ भावना रखना - यही सामायिक की साधना है।[१३१] सामायिक की साधना में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति आर्त और रौद्र विचारों का परित्याग करे। आर्त शब्द 'अर्ति' से निष्पन्न हुआ है - जिसका अर्थ है पीड़ा, क्लेश या दुःख। जैनागमों में व्यक्ति के दुःखी होने के चार कारण माने गये हैं - दुःख का प्रथम कारण अनिष्ट का संयोग है। जिन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं या घटनाओं को हम नहीं चाहते हैं, उनके उपस्थित होने पर व्यक्ति का चित्त उद्वेगों या तनावों से ग्रस्त बनता है और वह उनके वियोग की आकाँक्षा करता है। इसी प्रकार दुःख का दूसरा कारण इष्ट का वियोग है - जो वस्तुएँ हमें प्रिय हैं, जिन्हें हम साथ रखना चाहते हैं, उन व्यक्तियों या वस्तुओं का वियोग होने पर भी व्यक्ति का चित्त विकल बन जाता हैं। वह उनके वियोग के दुःख अथवा उनके अनुपलब्ध होने पर उनकी पुनः प्राप्ति की आकाँक्षा से तनावग्रस्त बना रहता है। इस प्रकार इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग व्यक्ति की समता को भंग करता है। समत्वयोग के साधक को सबसे पहले इन अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने चित्त की समता को नहीं खोने की साधना करनी होती है। अनुकूल के लिये हमारे चित्त में रागभाव उत्पन्न होता है और प्रतिकूल के प्रति द्वेषभाव रहता है। जब तक राग-द्वेष के तत्त्व रहते हैं, तब तक चित्तवृति का समत्व सम्भव नहीं है। इसलिये समत्वयोग की साधना में साधक को इनसे बचने का प्रयत्न करना

---

[१२९] विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ।। १२५ ।।' -नियमसार ।

[१३०] प्रश्नव्याकरणसूत्र २/४ ।

[१३१] उद्धृत सामायिक सूत्र पृ. ३७ ।

होता है। व्यक्ति को यह विचार करना चाहिये कि अनुकूल का संयोग और प्रतिकूल का वियोग यह मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं है। बाह्य परिस्थितियाँ कब और किस प्रकार घटित हों, इस पर हम अपना नियन्त्रण नहीं रख सकते हैं। इसलिए यह श्रेष्ठ है कि चाहे अनुकूल परिस्थितियाँ हों चाहे प्रतिकूल, दोनों के सम्बन्ध में हमें यह जान लेना है कि इनमें से कोई भी स्थायी नहीं है। यदि दुःखद परिस्थिति उत्पन्न हुई है, तो यह भी समाप्त होने को है। यदि अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई है, तो इसका भी वियोग निश्चित है। जब व्यक्ति का चिन्तन इस प्रकार का बनता है, तो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में उसका चित्त उद्वेलित नहीं होता है। मन तनावों से ग्रस्त नहीं बनता है। यही सामायिक या समत्वयोग की साधना है।

प्रतिकूल परिस्थिति जन्य जो घटनाएँ घटित होती हैं, उन्हें होने पर व्यक्ति अशान्त बन जाता है। किन्तु उन परिस्थितियों में यह विचार ही उसे तनावों से मुक्त रख सकता है कि जो भी परिस्थितियाँ बनी हैं उन्हें समाप्त होना ही है - वे स्थायी नहीं हैं। इससे व्यक्ति के चित्त को एक सांत्वना मिलती है। उससे तनाव दूर होते हैं।

हमारा चित्त उद्वेलित या अशान्त होने का एक कारण हमारी इच्छाएँ और आकाँक्षाएँ होती हैं। व्यक्ति इच्छाओं और आकाँक्षाओं के वशीभूत होकर अपनी चित्तवृत्ति के समत्व को खो बैठता है। क्योंकि जब तक जीवन में चाह है, तब तक चिन्ता है और जब तक चाह और चिन्ता बनी हुई है, तब तक व्यक्ति दुःखी रहता है। उसका चित्त उद्वेलित रहता है। अतः समत्वयोग की साधना में व्यक्ति को इच्छा और आकाँक्षा से ऊपर उठना आवश्यक है। इच्छा और आकाँक्षाओं से ऊपर उठकर वीतरागता की साधना ही सामायिक या समभाव की साधना है।

जैनदर्शन में सामायिक की साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ और मुनि के जो षट् आवश्यक कर्त्तव्य बताये गए हैं, उनमें सामायिक का स्थान प्रथम है। सामायिक की साधना साधु जीवन का प्रथम चरण और गृहस्थ जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। जैनदर्शन में सामायिक को शिक्षाव्रत भी कहा गया है - शिक्षा

अर्थात् अभ्यास। सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। हिंसा का परित्याग तथा आत्म सजगता एवं समत्व का दर्शन, यही सामायिक की साधना है। दूसरे शब्दों में आसक्ति रहित होकर मात्र साक्षीरूप चेतना में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की सच्ची प्रतीति करना ही सामायिक है।

समत्व की साधना अप्रमत्त चेतना में ही सम्भव है। लेकिन जब तक उसके प्रति हमारा सतत अभ्यास नहीं होगा, तब तक अप्रमत्त अवस्था में स्थिर रहना कठिन होगा। क्योंकि सावद्य प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ, आकाँक्षाएँ और कामनाएँ निरन्तर हम पर हावी रहती हैं। वे हमारी चेतना को अप्रमत्त या निर्विकार नहीं होने देती हैं। जैसे मद्यपान के द्वारा चित्त विकृत और प्रमत्त हो जाता है; वैसे ही सावद्य प्रवृत्तियों में रस लेने से चेतना विकारी और प्रमत्त बन जाती है। अतः यदि अप्रमत्त निर्विकार चेतनदशा को उपलब्ध करना है, तो इन सावद्य प्रवृत्तियों से बचना आवश्यक है। जब हम इन सावद्य प्रवृत्तियों से बचेंगे, तब ही समत्व या अप्रमत्त अवस्था प्राप्त होगी।

प्राणीमात्र के प्रति आत्मवत् दृष्टि, शुभ मनोभाव, सर्व परिस्थितियों में समता, स्वजीवन पर नियन्त्रण और निरन्तर आत्म सजगतापूर्वक अभ्यास करना ही सामायिक व्रत है। समत्व और मनोभाव - ये दो सामायिक व्रत के भावनात्मक पक्ष हैं और अशुभ मनोवृत्तियों का निराकरण उसका निषेधात्मक पक्ष है। इस प्रकार सामायिक के दो पक्ष हैं - द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक। द्रव्य सामायिक सामायिक का बाह्य स्वरूप है और भाव सामायिक अर्थात् समत्वभाव और आत्मा में अवस्थिति है। डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' के दूसरे भाग में सामायिक की साधना के लिये चार विशुद्धियों का उल्लेख किया है :

१. कालविशुद्धि; २. क्षेत्रविशुद्धि;
३. द्रव्यविशुद्धि; और ४. भावविशुद्धि।[१३२]

---

[१३२] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २६३।
-डॉ. सागरमल जैन ।

१. कालविशुद्धि : वैसे तो श्रमण साधक सदैव ही सामायिक की साधना में लीन रहता है; फिर भी दिगम्बर परम्परा में प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या को सामायिक की विशिष्ट साधना की जाती है। श्वेताम्बर मुनि भी षडावश्यक के एक अंग के रूप में प्रातः और संध्या काल में सामायिक की विशिष्ट साधना करते हैं। गृहस्थ साधक के लिये इसकी एक काल-मर्यादा निश्चित की गई है। सामायिक की साधना के समुचित काल का निर्णय कालविशुद्धि के लिये आवश्यक है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि समय पर की गई साधना सफलीभूत होती है।[१३३] सामायिक की साधना के लिये अनुकूल समय का निर्णय आवश्यक है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इसका समर्थन किया है।[१३४]

सामायिक की साधना के लिये गृहस्थ के हेतु सभी काल समीचीन नहीं कहे जाते। सर्वप्रथम शारीरिक दृष्टि से मलमूत्र आदि के आवेगों के होते हुए सामायिक करना उचित नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसमें चित्त की एकाग्रता नहीं बनती। इसी प्रकार भूख, प्यास आदि से अति व्याकुल स्थिति में भी सामायिक की साधना सम्भव नहीं होती; क्योंकि सामायिक की साधना का अर्थ चित्तवृत्ति का समत्व या चेतना का तनावों से रहित होना है। जब तक शरीर है, जैविक स्थितियाँ भी तनाव का कारण है, तब तक सामायिक की साधना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिये वह काल जब उसे अपने व्यावसायिक दायित्वों को पूर्ण करना होता है, सामायिक के लिये उचित काल सम्भव नहीं हो सकता। यह बात अलग है कि निवृत्ति को प्राप्त श्रावक किसी भी समय सामायिक कर सकता है। किन्तु जो अपने व्यवसाय आदि से जुड़ा हुआ है अथवा शासकीय, अशासकीय या किसी प्रकार की नौकरी आदि में लगा हुआ है, वह व्यक्ति भी हर किसी समय सामायिक की साधना नहीं कर सकता। गृहस्थ के लिये अपने पारिवारिक और व्यवसायिक दायित्व का निर्वाह करना आवश्यक होता है। अतः वह सर्वकाल में सामायिक के लिये योग्य नहीं माना गया है। सामायिक के लिये वही काल समुचित हो सकता है, जब व्यक्ति

---

[१३३] उत्तराध्ययनसूत्र १/३१ ।

[१३४] पुरूषार्थसिद्ध्युपाय १४६ ।

शारीरिक और मानसिक आवेगों तथा पारिवारिक और व्यवसायिक दायित्वों से मुक्त होकर सामायिक की साधना कर सकता है। व्यक्ति को उचित और अनुचित समय का विचार करना भी आवश्यक है। अयोग्य समय में यदि वह सामायिक करता है, तो मन शान्त या एकाग्र नहीं हो सकता है। संकल्प-विकल्प का प्रवाह मस्तिष्क में चलता रहता है, तो ऐसी सामायिक से कोई लाभ नहीं होता। अतः योग्य समय का विचार करके जो सामायिक की जाती है, वह सामायिक निर्विघ्न तथा शुद्ध होती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी बताया गया है कि जहाँ चित्त में कोई क्षोभ के कारण उत्पन्न नहीं होते हों, वहाँ सामायिक करना उचित है।[१३५] यदि परिवार में कोई सदस्य बीमार हो और उसकी सेवा का समय हो, उस समय यदि सेवा को छोड़कर सामायिक करने बैठते हैं, तो यह भी उचित नहीं कहा जा सकता। इससे दूसरों पर बुरी छाप पड़ती है।

दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है – 'काले कालं समायरे' अर्थात् जिस कार्य को जिस समय करना हो, उसी समय वह कार्य करना उचित होता है। भगवान महावीर ने भी कहा है कि यदि बीमार साधु की सेवा शुश्रूषा को छोड़कर दूसरे साधु अन्य कार्य में रत बने रहे, तो प्रायश्चित आता है। बीमारी में पूर्ण रूप से सार सम्भाल करना आवश्यक है। इस प्रकार सामायिक के लिये योग्यकाल का निर्णय करना ही कालविशुद्धि है।

२. क्षेत्रविशुद्धि – क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहाँ साधक सामायिक करने के लिए बैठता है। वह स्थान योग्य हो – पूर्णतः शुद्ध पवित्र हो। जिस स्थान पर बैठने से चित्त में विकृत भाव उठते हों, चित्त चंचल बनता हो और जिस स्थान पर स्त्री-पुरुष या पशु आदि का आवागमन अधिक होता हो, विषय विकार उत्पन्न करनेवाले शब्द कान में पड़ते हों; इधर-उधर दृष्टि करने से मन विचलित होता हो अथवा क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो – ऐसे स्थानों पर बैठकर सामायिक करना उचित नहीं है। आत्मा को उच्च दशा में पहुँचाने के लिये और अन्तर्हृदय

---

[१३५] 'जत्थण कलयलसद्दो, बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि ।
जत्थ ण दंसादीया, एस पसत्थो हवे दोसो ।। ३५३ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

में समभाव की पुष्टि करने के लिये क्षेत्र-शुद्धि सामायिक का एक अत्यावश्यक अंग है। अतः सामायिक करने के लिये वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जो कोलाहल से शून्य हो। उपासकदशांगसूत्र में इसका समर्थन किया गया है कि धर्माराधना के लिये एकान्त कमरा, सार्वजनिक पौषधशाला, उपासना गृह, जिनालय, उपाश्रय आदि जहाँ चित्त स्थिर रह सके और आत्मचिन्तन किया जा सके; उचित स्थान हैं।

घर की अपेक्षा उपाश्रय में सामायिक करना ज्यादा उचित रहता है। उपाश्रय का वातावरण गृहस्थी से भिन्न होता है। उपाश्रय ज्ञान के आदान-प्रदान का सुन्दर साधन है। उपाश्रय शब्द की व्युत्पत्ति है - उप = उत्कृष्ट + आश्रय = स्थान; अर्थात् व्यक्ति के लिये घर केवल आश्रय है, जबकि उपाश्रय इहलोक और परलोक दोनों प्रकार के जीवन को उन्नत बनाने वाला एवं धर्म साधना के लिये उपयुक्त स्थान उपाश्रय उत्कृष्ट आश्रय है। दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - उप = उचित + आश्रय = स्थान; अर्थात् निश्चयदृष्टि से आत्मा के लिये उचित आश्रय स्थल वह स्वयं ही है। अतः धर्मस्थान उपाश्रय कहलाता है। तीसरी व्युत्पत्ति है - उप = समीप + आश्रय = स्थान अर्थात् जहाँ आत्मा अपने विशुद्ध भावों के पास पहुँच सके, उसका आश्रय ले सके - ऐसा एक मात्र धार्मिक वातावरण हो; एकान्त, निरामय, निरुपद्रव एवं कायिक, वाचिक और मानसिक क्षोभ से रहित हो, शान्त-प्रशान्त हो और शुद्ध परमाणु हो। यदि घर में भी ऐसा कोई एकान्त स्थान हो, तो वहाँ पर सामायिक करना क्षेत्रविशुद्धि है।

३. द्रव्यविशुद्धि - द्रव्य का तात्पर्य बाह्य विधि विधानों या साधनों से है। द्रव्य-सामायिक में निम्न उपकरणों की आवश्यकता होती है - चरवला, मुख-वस्त्रिका (मुहपत्ति); स्थापनाचार्य (ठवणी, पुस्तक, माला) की स्थापना करना एवं सामायिक में श्वेत-शुद्ध वस्त्र आदि साधन ग्रहण करना आवश्यक है। जो उपकरण सामायिक या संयम की अभिवृद्धि में सहायक हों, ऐसे अल्पारम्भ, अहिंसक एवं उपयोगी उपकरण हों, जिसके द्वारा जीवों की भली भाँति यतना हो सके - ऐसे उपकरणों का सामायिक में उपयोग करना चाहिये।

चरवला - यह जयणा या यतना जीवरक्षा के लिये आवश्यक

है। सामायिक आदि क्रिया में पूंजने-प्रमार्जन या जीव रक्षा के लिये श्रावक-श्राविकाएँ ऊन का जो गुच्छा रखती हैं, उसको चरवला कहते हैं। साधु-साध्वी भी जीव रक्षा या पूंजने-प्रमार्जन के लिये ऊन का उससे थोड़ा मोटा गुच्छा रखते हैं, उसे ओघा या रजोहरण कहते हैं।

चरवले शब्द का अर्थ है चर+वलो = चरवलो। चर अर्थात् चलना, फिरना, उठना अथवा बैठना; वलो अर्थात् पूंजना-प्रमार्जना। सामायिक में पूंजना-प्रमार्जना करके चलना, फिरना, उठना और बैठना चाहिये। इसलिये सामायिक में चरवला अत्यन्त उपयोगी उपकरण है। इससे स्पष्ट होता है कि इसकी आवश्यकता जीव रक्षा के लिये है। आत्मार्थी प्राणी को सर्वजीवों को अपनी आत्मा के समान मानकर उनकी रक्षा करनी चाहिये। इस चरवले का माप ३२ अंगुल का होता है, जिसमें डण्डी २४ अंगुल की और ऊन की फलियां ८ अंगुल की होती हैं।

आसन (कटासन) - आसन को कटासन भी कहते हैं। कुछ लोग इसको पादप्रोञ्छन/पोंचणु भी कहते हैं। आसन लगभग एक हाथ लम्बा, चार हाथ अंगुल चौड़ा होता है। सामायिक करते समय ऐसा आसन उपयोगी होता है। कोमल, गुदगुदे अथवा दिखने में सुन्दर रंग-बिरंगे फूलदार आसन बिछाना सामायिक में उचित नहीं होता है। अतः आसन सादा एवं ऊनी हो, जिससे जीवों की यतना सम्यक् प्रकार से हो सके।

मुंहपत्ति (मुखवस्त्रिका) - मुख के आगे रखने का वस्त्र। सामायिक में बोलते समय मुख से चार अंगुल दूर मुंहपत्ति रखकर बोलना चाहिये। यह एक बेंत ४ अंगुल लम्बी और एक बेंत ४ अंगुल चौड़ी होती है। मुंहपत्ति हमें ऐसा पारमार्थिक बोध देती है कि सावद्य (हिंसा एवं पापजनक) वचन नहीं बोलने चाहिये। सामायिक में बोलते समय भाषा समिति का पूर्णतः ध्यान रखना चाहिये। उत्सूत्र, असत्य अथवा अप्रिय वचन नहीं बोलना चाहिये। खुले मुंह बोलने से समीपस्थ वस्तु, पुस्तक, माला तथा स्थापनाचार्य पर थूक गिरने की सम्भावना रहती है, जिससे आशातना के कारण बनते हैं। उस आशातना से बचने के लिये मुंहपत्ति एक साधन है। मुंहपत्ति का उपयोग विवेकपूर्वक करने से संपातिक त्रस (मक्खी,

मच्छर आदि) जीवों की रक्षा होती है। मुंहपत्ति की प्रतिलेखना करते समय ५० बोल बोले जाते हैं।

स्थापनाचार्य – सामायिक करते समय स्थापनाचार्य की स्थापना की जाती है। स्थापनाचार्य की साक्षी से धर्मक्रिया विशेष दृढ़ होती है। माला भी कीमती न होकर सूत की होनी चाहिये। बहुमूल्य माला ममता या अहंकार पुष्ट करने वाली होती है। सूत की माला ही सबसे शुद्ध मानी गई है। इसे नवकारवाली भी कहा जाता है। नवकारमंत्र का जिससे जाप किया जाय, वह नवकारवाली, जिसमें १०८ मणके होते हैं। ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि माला में १०८ मणके ही क्यों होते हैं; तो उसके उत्तर में यही कहा गया है कि अरिहन्त परमात्मा के १२ गुण; सिद्ध के ८; आचार्य के ३६; उपाध्याय के २५ और साधु के २७ – इस प्रकार पंच परमेष्ठी के गुणों को मिलाने से १०८ गुण होते हैं। इसीलिये माला के भी १०८ मणके होते हैं।

सामायिक में जिस पुस्तक से स्वाध्याय अर्थात् स्व+अध्ययन हो सके अर्थात् अपनी आत्मा का अध्ययन हो सके या जिस पुस्तक के वाचन से आत्मस्वरूप के साथ-साथ अध्यात्मवृत्ति जाग्रत हो सके; जिससे उत्तरोत्तर भावविशुद्धि हो, ऐसी पुस्तक का सामायिक में वाचन करना चाहिये।

सामायिक में आभूषण आदि धारण करके बैठना भी उचित नहीं माना गया है, क्योंकि सामायिक त्याग का क्षेत्र है। अतः उसमें त्याग का भाव होना अत्यावश्यक है।

सामायिक के वस्त्र कटे-फटे, मैले एवं अशुद्ध न हो। वस्त्र श्वेत, स्वच्छ, धोये हुए या नवीन होने चाहिये। क्योंकि वस्त्रों की बाह्य उज्वलता से भावों की उज्वलता पर प्रभाव पड़ता है। पुरुषों के लिये धोती-दुपट्टा तथा स्त्रियों के लिये पेटीकोट, ब्लाउज और साड़ी ही होनी चाहिये। सर्दी आदि के मौसम में शक्ति अनुसार गर्म शाल का उपयोग कर सकते हैं, ऐसा उल्लेख आचार्य हरिभद्रसूरि तथा अभयदेव आदि के ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य हरिभद्रसूरि आवश्यकवृहदवृत्ति में लिखते हैं कि 'सामाइयं कुणंतो मउडं अवणेति, कुंडलाणि, णाममुछं पुप्फ तंबोल पावारगमादी वोसिरति'।

आचार्य अभयदेवसूरि पंचाशकवृत्ति में कहते हैं कि 'स च किल सामायिकं कुर्वन् कुण्डले, नाममुद्रा चापनयति पुष्प ताम्बूल प्रावरायिकं च व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्य'।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि हरिभद्रसूरि ने भी पूर्व प्रचलित प्राचीन परम्परा का ही उल्लेख किया है, नवीन का नहीं। अतः गृहस्थवेषोचित वस्त्र उतारना ही उचित है। प्राचीन काल मे केवल धोती और दुपट्टा ही धारण किया जाता था। अर्वाचीन काल में पगड़ी, कोट, कुरता, पाजामा आदि पहने जाते हैं, अतः वे उतारकर रखे जाते हैं। स्त्रियों के लिये मर्यादित वस्त्र जितनी आवश्यकता हो उतने ही वस्त्र धारण करें, अन्य वस्त्रों को परिग्रह समझ कर त्याग करना उचित है।

प्रत्येक विधि-विधान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि को लक्ष्य में रखकर करने चाहिये। द्रव्यशुद्धि की इसलिये आवश्यकता है कि द्रव्यशुद्धि से भाव शुद्ध होते हैं। अच्छे-बुरे पुद्गलों का मन पर असर होता है। बाह्य वातावरण अन्तर के वातावरण को प्रभावित करता है। अतः मन में अच्छे विचार एवं सात्विक भाव स्फुरित करने के लिये द्रव्यशुद्धि साधारण साधक के लिये भी आवश्यक है। व्यवहारदृष्टि से बाह्य वातावरण मन को प्रभावित करता है। अतः द्रव्यशुद्धि से साधक सामायिक या समभाव में स्थिर बना रहता है।

४. **भावविशुद्धि** – द्रव्यविशुद्धि, क्षेत्रविशुद्धि और कालविशुद्धि साधना के बहिरंग तत्त्व है और भावविशुद्धि आत्मा का अन्तरंग तत्त्व है। भावविशुद्धि अर्थात् मन की शुद्धि। मन की शुद्धि ही सामायिक या समत्व की साधना का सर्वस्व सार है। जीवन को उन्नत बनाने के लिये मन, वचन और काय से होने वाली दुष्प्रवृत्तियों को रोकना होगा। अन्तरात्मा में मलिनता पैदा करने वाले दोषों का त्याग करना होगा। आर्त और रौद्र ध्यान से बचना होगा। तब ही व्यक्ति का चित्त सामायिक या समत्वयोग में एकाग्र बन सकता है। भाव शुद्धि के लिये मन, वचन और काया की शुद्धि किस प्रकार से की जाती है, वह इस प्रकार है :

मनःशुद्धि – जैसे कहा गया है- 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण

है। मन के कारण ही संकल्प-विकल्प उठते हैं; मन के कारण विचार अशुभ होते हैं; विचार के कारण आचरण अशुभ होता है और अशुभ आचरण के कारण व्यक्ति का समत्व भंग होता है, जिससे भाव शुद्धि सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकती है।

अन्य वेगों की अपेक्षा मन की गति का वेग अति तीव्र है। आजकल के वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध किया है कि प्रकाश का वेग एक सेकण्ड में १,८०,००० मील है, विद्युत का वेग २,८८,००० मील है, जबकि मन का वेग २२,६५,१२० मील है। इससे विचार किया जा सकता है कि मन का प्रवाह कितना तीव्रतम है। मन ही इन्द्रियों का राजा है, इस मन के अनुसार इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं। मन जब चंचल हो जाता है, तो कर्मों का प्रवाह चारों ओर से उमड़ पड़ता है। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को अन्तर्मुहूर्त जितने अल्पसमय में सातवीं नरक के द्वार पर पहुँचा दिया जाता है और फिर उतने ही अल्पकाल में वे केवलज्ञान, केवलदर्शन के द्वार पर पहुँच जाते हैं। तभी तो कहा है कि 'मन विजेता जगतो विजेता' - इस मन को जीतने वाला जगत् को जीतने वाला होता है। चंचल मन पर जय पाना ही तत्त्वज्ञान की कुंजी है। इसीलिये कहा गया है कि 'मन साध्यु तेणे सधलुं साध्युं एह बात नहीं खोटी' अर्थात् एक मन को जीतने वाला सब कुछ जीत लेता है। परन्तु मन का नियंत्रित करना कठिन है। आध्यात्मिक योगी श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि :

मनडु किम हि न बाझे, कुन्थु जिन मनडु किम हि न बाझे।
जेम-जेम जतन करि ने राखु, तेम-तेम अलगु भागे हो।।'

ऐसा मुश्किल कार्य दुःसाध्य है, किन्तु असाध्य नहीं है। जैसे-जैसे इसको साध्य करते जायेंगे, वैसे-वैसे गुणस्थानक की श्रेणी में चढ़ते जायेंगे। मोक्ष सिद्धि के लिये मनःशुद्धि परम आवश्यक है। मन पानी से भी पतला, धुएँ से भी बारीक और पवन से भी तेज गतिशील एवं विद्युत के वेग से भी तीव्र है। इसको काबू में किये बिना समत्व की साधना सम्भव नहीं हो सकती। इसकी उद्वेलित प्रवृत्ति से भाव शुद्धि या समत्व की साधना में विकृति आती है। मन या भावों की शुद्धि ही समत्व की साधना है।

वचनशुद्धि - मन की शक्ति परोक्ष एवं गुप्त है। अतः वहाँ कुछ

प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु वचनशुद्धि तो प्रत्यक्ष है। उस पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण या अंकुश लगाया जा सकता है। मनशुद्धि के साथ-साथ वचन शुद्धि भी आवश्यक है। सामायिक करते समय वचन समिति का पालन आवश्यक है। कर्कश या कठोर वचन का उपयोग न करके निरवद्य (पाप रहित) वचन बोलना चाहिये। वचन अन्तरंग दुनिया का प्रतिबिम्ब है। कहा भी है :

'वचन-वचन के आतरे, वचन के हाथ न पांव।
एक वचन है औषधि, एक वचन है घाव।।'

वचन को बोलने से पहले तोलना अत्यन्त आवश्यक है। व्यक्ति का बोला हुआ एक वचन औषधि रूप बन जाता है और एक वचन घाव रूप बन जाता है। वचन सदैव हित, मित तथा परमित होना चाहिये। बोलते समय भाषा को लक्ष्य में रखकर बोलना चाहिये। कम बोलना अर्थात् वचनसमिति का पालन करना। वचनशुद्धि से भी भावशुद्धि हो सकती है।

कायशुद्धि - कायशुद्धि का यह अर्थ शरीर को सजाना नहीं है। कायशुद्धि से अभिप्राय है कि कायिक संयम रखना। आन्तरिक आचार का कार्य मन करता है और बाह्य आचार का कार्य शरीर करता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है :

'जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बन्धइ।।८।।'[१३६]

व्यक्ति को यतनापूर्वक उठना, बैठना, खाना-पीना, हिलना-डुलना आदि सर्वकार्य विवेकपूर्वक करना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि अपने निमित्त से प्राणीमात्र को पीड़ा नहीं पहुँचे। ऐसा व्यक्ति ही कायशुद्धि का सच्चा साधक होता है। जब तक हमारा बाह्य कायिक आचरण शुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होता, तब तक आन्तरिक शुद्धि सम्भव नहीं है। आन्तरिक शुद्धि के पहले बाह्य शुद्धि आवश्यक है।

उपर्युक्त चारों शुद्धि की हमने चर्चा की। ये चारों शुद्धि सामायिक करने से पूर्व आवश्यक हैं। तब ही हमारा चित्त एकाग्र बन सकता है। सामायिक साधना का प्रमुख लक्ष्य ही यही होना

---

[१३६] दशवैकालिकसूत्र ४ ।

चाहिये कि स्वानुभूतियों की गहराईयों में उतरकर आत्मानन्द का रसास्वादन करना। उससे एक अभूतपूर्व आत्मानुभूति होती है। सामायिक सद्गृहस्थ का आत्म कवच है। इससे निर्ग्रन्थता की दिशा में कदम बढ़ते हैं। सामायिक हमारे जीवन में शान्ति की सन्देश वाहिका है। इसमें प्रवेश करने से समभाव में दृढ़ता आती है।

३.७ समत्वयोग की साधना विधि

जैसा कि हमने पूर्व में बताया समत्वयोग का साध्य समत्व या समभाव की उपलब्धि है। यही वीतरागदशा है और यही मोक्ष है। समत्वयोग की साधक आत्मा भी अपने स्वस्वरूप या स्वभाव लक्षण की अपेक्षा से तो समत्व से युक्त है। किन्तु वर्तमान में राग-द्वेष एवं इच्छा-आकाँक्षाजन्य विषमताओं या तनावों से ग्रस्त है। फिर भी जो समत्व या वीतरागता को प्राप्त करने का इच्छुक है, वही समत्वयोग का साधक है। जहाँ तक समत्वयोग के साधनामार्ग का प्रश्न है, वह भी समत्व, समता या वीतरागदशा की प्राप्ति का प्रयत्न ही है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति द्वारा स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष मार्ग है।[१३७] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एवं नियमसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह आत्मा ही है। इस प्रकार वे साधनामार्ग और साधक में तादात्म्य स्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सत्ता या अस्तित्त्व आत्मा से पृथक् नहीं है। फिर भी व्यवहार के स्तर पर इन्हें आत्मा से पृथक् माना है। अन्यथा साध्य, साधक और साधनामार्ग में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से आत्मा अभिन्न होकर भी वे उसकी पर्यायदशा के सूचक हैं। पर्याय द्रव्य से कथंचित भिन्न और कथंचित अभिन्न होती है। ये सम्यग्दर्शन आदि रूप पर्यायें सभी आत्मा में नहीं होती हैं। अतः वे कथंचित भिन्न और कथंचित अभिन्न होती हैं। इस सम्बन्ध में डॉ.

---

[१३७] तत्त्वार्थसूत्र १/१ ।

सागरमल जैन लिखते हैं[१३८] कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं - ज्ञान, भाव और संकल्प। जीवन का साध्य चेतना के इन तीनों पक्षों का विकास माना गया हैं। अतः यह आवश्यक ही था कि इन तीनों पक्षों के विकास के लिये त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया जाय। चेतना के भावात्मक पक्षों को सम्यक् (सम्यक्त्वपूर्ण) बनाने और उसके विकास के लिये सम्यग्दर्शन या श्रद्धा की साधना का विधान किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिये ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिये चारित्र का विधान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधनामार्ग के विकास के पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है।

वस्तुतः यहाँ हम देखते हैं, कि हमारी भावनाओं के असन्तुलन को समाप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन का, हमारे ज्ञान को सन्तुलित करने के लिये या ज्ञानजन्य विवादों के समाधान के लिये सम्यग्ज्ञान का और कषाय और वासनाजन्य तथा इच्छा और आकाँक्षा जन्य तनावों को समाप्त करने के लिये सम्यक्चारित्र का उपदेश दिया गया है।

यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें, तो हमारे वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में तनाव व संघर्षों का कारण दृष्टिराग या आग्रहबुद्धि ही होता है। हम इतने आग्रहशील बन जाते हैं कि दूसरों की अनुभूतियों और विचारों को मिथ्या मानने लग जाते हैं। इस आग्रह बुद्धि और अपने सीमित ज्ञान की सीमा को न समझने कारण ही विवादों का जन्म होता है और उससे चेतना तनावयुक्त बनती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की साधना का मुख्य लक्ष्य विवादों के घेरे से ऊपर उठकर चैतसिक समत्व को बनाये रखना है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन के लिये आग्रह और एकान्त से ऊपर उठना आवश्यक माना गया है। उसमें सम्यग्दर्शन के निम्न पांच अंग माने गये हैं :

---

[१३८] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४५५।
-डॉ. सागरमल जैन।

१. सम; २. संवेग; ३. निर्वेद;
४. अनुकम्पा; और ५. आस्तिक्य।[१३६]

इन पांच अंगों में भी सम् को प्रधानता दी गई है। समभाव के बिना न तो संवेग सम्भव है और न निर्वेद या वैराग्य ही। जैनदर्शन में जो सम्यग्दर्शन की साधना बताई गई है, वह मूलतः समत्वयोग की साधना ही है। क्योंकि समत्व की साधना के बिना दर्शन या वृत्ति सम्यक् नहीं बनती। इसी प्रकार जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान में मुख्य रूप से दो पक्षों पर विस्तार से चर्चा की गई है :

१. भेद विज्ञान अर्थात् आत्म अनात्म का विवेक; तथा
२. अनेकान्त।

सम्यग्ज्ञान को भेद विज्ञान कहा गया है। वह आत्म-अनात्म या स्व-पर का विवेक है। साधक जब तक स्व-पर के भेद को नहीं समझता है अथवा उसमें आत्म-अनात्म के विवेक का विकास नहीं होता है, तब तक पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति समाप्त नहीं होती है। जब तक व्यक्ति में राग बना हुआ है, तब तक द्वेष की भी सत्ता रहती है। राग-द्वेष के कारण आत्मा का समत्व भंग होता है। भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म विवेक का कार्य हमारी आसक्ति या राग भाव को समाप्त करता है। राग के समाप्त होने पर ही चेतना में समत्व का विकास होता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की साधना मूलतः समत्वयोग की साधना है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में हम पूर्व अध्याय में चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य मात्र यह बताना है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की साधना वस्तुतः समत्वयोग की ही साधना है।[१४०]

सम्यक्चारित्र की साधना भी समत्वयोग की ही साधना है। क्योंकि सम्यक्चारित्र की साधना का मुख्य लक्ष्य भी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारों कषायों तथा पांचों इन्द्रियों एवं मन पर संयम स्थापित करना है। इन्द्रियों के माध्यम से व्यक्ति की चेतना

---

[१३६] 'शम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः ।
लक्षणैः पंचभिः सम्यक् सम्यकत्वमुपलक्ष्यते ।। १५ ।।' योगशास्त्र २ ।

[१४०] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४५५ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

पदार्थों के प्रति आसक्त बनती है। इन्द्रियों के द्वारा हमें जो सम्वेदन प्राप्त होते हैं, वे या तो अनुकूल होते हैं या प्रतिकूल होते हैं। अनुकूल के प्रति राग उत्पन्न होता है और प्रतिकूल के प्रति द्वेष। राग-द्वेष के कारण चेतना का समत्व भंग होता है। राग के कारण आकाँक्षा और इच्छा का जन्म होता है। जो पदार्थजन्य सम्वेदन अनुकूल लगते हैं, उन्हें हम बार-बार पाना चाहते हैं अर्थात् उनको बार-बार पाने की इच्छा होती है। इच्छाओं के कारण ही चेतना का समत्व भंग होता है। सम्यक्चारित्र का काम मुख्य रूप से इच्छा और आकाँक्षा से ऊपर उठने का ही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि एक मन या आत्मा पर विजय प्राप्त करने से पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है तथा पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से व्यक्ति चारों कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इन पर विजय प्राप्त कर लेने से उसकी चेतना समत्व से युक्त हो जाती है। सम्यक्चारित्र का लक्ष्य इसी समत्वपूर्ण अवस्था या सम्वेदन को प्राप्त करना है। यह वीतरागदशा की उपलब्धि है और यही समत्वयोग की पूर्णता है। इस प्रकार जैनदर्शन में जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना बताई गई है, वह समत्व की साधना ही है। हमारे भाव या अनुभूति, हमारा ज्ञान और हमारा आचरण तनावों और विक्षोभों से रहित बने, यही समत्वयोग की साधना का लक्ष्य है और इसे ही जैनदर्शन में त्रिविध साधनामार्ग के रूप में प्रस्थापित किया गया है।

।। तृतीय अध्याय समाप्त ।।

अध्याय ४

समत्वयोग की वैयक्तिक एवं सामाजिक साधना

४.१ समत्व की वैयक्तिक साधना

समत्व की साधना दो स्तरों पर सम्भव है - (१) वैयक्तिक; और (२) सामाजिक। समत्व की वैयक्तिक साधना का तात्पर्य चित्तवृत्ति का समत्व है, मन का राग-द्वेष और वासनाजन्य आवेगों से रहित होना समत्वयोग की वैयक्तिक साधना है। इसका मुख्य लक्ष्य चित्तवृत्ति का समत्व है। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी आत्मशान्ति को प्राप्त करता है और तनावों से मुक्त बनता है। उसका जीवन अनासक्त होता है। वह समाज में रहकर अकेला और देह में देहातीत होकर रहता है। पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों में अनासक्त होता है। समत्वयोग की वैयक्तिक साधना का तात्पर्य है - व्यक्ति अपने राग-द्वेष और कषायों के आवेगों को कम करे या समाप्त करे; उनसे ऊपर आने का प्रयत्न करे। वह समत्वयोग की वैयक्तिक साधना समाज निरपेक्ष होकर भी कर सकता है या भीड़ में रहकर भी अकेला जीने का अभ्यास कर सकता है। किन्तु व्यक्ति अपने आप में व्यक्ति होने के साथ-साथ सामाजिक भी है।

वैयक्तिक साधना और सामाजिक साधना दोनों अलग-अलग हैं। क्योंकि वैयक्तिक साधना का लक्ष्य चित्तवृत्ति का समत्व है; जबकि समत्वयोग की सामाजिक साधना का लक्ष्य सामाजिक शान्ति व सुव्यवस्था है। व्यक्ति का जीवन एकांकी नहीं होता। वह समाज में रहकर ही जीता है। मात्र यही नहीं, सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक अशान्ति और अव्यवस्था उसके चैतसिक समत्व को भी भंग करते हैं। हम सामाजिक जीवन और बाह्य परिवेश से पूर्णतः अलग-थलग नहीं रह सकते। समत्वयोग की वैयक्तिक साधना

समत्वयोग की सामाजिक साधना के बिना अधूरी होती है; क्योंकि व्यक्ति अपने आप में व्यक्ति भी है और समाज भी है। जैन धर्म निवृत्तिमार्गी धर्म है और इस आधार पर प्रायः यह समझा जाता है कि यह वैयक्तिक साधना का ही पक्षधर है। किन्तु यह सोचना सम्यक् नहीं। जैन धर्म निवृत्तिमार्ग धर्म होते हुए भी संघीय धर्म है। उसमें संघ की महत्ता बताई गई है। संघ की महत्ता को बताते हुए नन्दीसूत्र में विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। यद्यपि तीर्थंकर संघ के संस्थापक होते हैं, फिर भी वे प्रवचन सभा में बैठकर 'नमो तित्थस्स' कहकर संघ को नमस्कार करते हैं। व्यक्ति चाहे कितना ही समाज में असन्तृप्त होकर जीना चाहे, किन्तु वह समाज से पूर्णतः कटकर नहीं जी सकता है। जो साधु-साध्वी समत्वयोग की वैयक्तिक साधना करते हैं, वे भी समाज निरपेक्ष होकर नहीं जी सकते हैं। समत्वयोग की वैयक्तिक साधना का सम्बन्ध हमारे चैतसिक समत्व से होता है। वह चित्तवृत्ति की समता है। जबकि समत्वयोग की सामाजिक साधना का तात्पर्य व्यक्ति का व्यवहार होता है।[1]

समत्वयोग की वैयक्तिक साधना आन्तरिक साधना है। जबकि समत्वयोग की सामाजिक साधना बाह्य साधना है - व्यवहारगत साधना है। समत्वयोग की साधना में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही साधनाएँ आवश्यक हैं। वैसे समत्वयोग की वैयक्तिक साधना अर्थात् चित्तवृत्ति के समत्व के बिना समत्वयोग की सामाजिक या व्यवहारिक साधना सम्भव नही है। क्योंकि व्यवहार हमारे अन्तर की वृत्तियों की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। अतः यह तो आवश्यक है कि समत्वयोग की साधना के क्षेत्र में सर्वप्रथम समत्वयोग की वैयक्तिक साधना ही करनी होगी। उसके अभाव में सामाजिक साधना सम्भव नहीं होगी। केवल वैयक्तिक साधना भी तब तक अधूरी कही जायेगी, जब तक व्यक्ति के बाह्य व्यवहार अर्थात् दूसरे प्राणियों के साथ उसके सम्बन्ध में परिवर्तन नहीं आता - उसकी चित्तवृत्ति का समत्व यदि उसके बाह्य व्यवहार में अभिव्यक्त नहीं होता है, तो उसकी वह समत्वयोग की साधना अधूरी ही है। उसके

---

[1] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १६५। -डॉ. सागरमल जैन।

व्यवहार में कहीं न कहीं अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का प्रकटन होना चाहिये। तभी उसकी वैयक्तिक साधना की सार्थकता है। यह सत्य है कि समत्वयोग की वैयक्तिक साधना और सामाजिक साधना के क्षेत्र अलग-अलग हैं। किन्तु ये एक दूसरे से असन्तृप्त नहीं हैं। क्योंकि हमारा व्यक्तित्व ही ऐसा है, जिसमें समाज निरपेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति निरपेक्ष समाज की कल्पना नहीं कर सकते। व्यक्ति को वैयक्तिक स्तर और सामाजिक स्तर दोनों पर जीना होता है। अतः उसके लिये यह आवश्यक है कि वह समत्वयोग की वैयक्तिक साधना के साथ-साथ उसकी सामाजिक साधना भी करे अर्थात् उसकी वृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आना चाहिये।

जिस प्रकार समत्व की वैयक्तिक साधना राग या आसक्ति से ऊपर उठकर की जा सकती है, उसी प्रकार समत्व की सामाजिक साधना भी राग या आसक्ति से ऊपर उठकर ही सम्भव है। रागात्मक वृत्ति के कारण व्यक्ति समत्व के पथ से विचलित हो पतनोन्मुखी हो जाता है। जब तक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि होंगे, तब तक समत्व की सामाजिक साधना सफल नहीं हो सकती है। समत्व की वैयक्तिक साधना में रागात्मक या ममत्व बुद्धि का पूर्णतः विसर्जन हो सकता है। लेकिन क्या समत्व का सामाजिक साधना में भी परित्याग किया जा सकता है? स्वहित की वृत्ति चाहे व्यक्ति के प्रति सधन हो, चाहे परिवार के प्रति सघन हो, तो वह सामाजिक साधना के लिये विरोधी ही होगी। उससे सामाजिक साधना फलित नहीं हो सकती है और चेतना का विकास भी नहीं हो सकता। सभी के प्रति समभाव से ही समत्व की वैयक्तिक साधना एवं सामाजिक साधना सफल हो सकती है।[२] सामाजिक साधना त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ी होती है और सम्पूर्ण मानव जाति के सुमधुर सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। अतः वीतरागता या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक साधना के लिये वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है। जब सामाजिक जीवन में विषमता एवं टकराहट के कारण उपस्थित होते

---

[२] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १५३। -डॉ. सागरमल जैन।

हैं, तो वे चित्त के समत्व को भंग करते हैं। आसक्ति, ममत्वभाव या राग के कारण व्यक्ति में संग्रह, आवेश और कपटाचार का जन्म होता है। ये सभी समत्व की वैयक्तिक साधना और सामाजिक साधना में बाधक होते हैं। रागात्मकता या आसक्ति विषमता को उत्पन्न करती है। उस विषमता के चार मूलभूत प्रारूप हैं :

१. संग्रह (लोभ); २. आवेश (क्रोध);
३. गर्व (अहंकार); और ४. माया (छिपाना)।

इनको जैन धर्म में चार कषाय कहा गया है। ये चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं।

संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं।

क्रोध की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होती है।

गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा और क्रूर व्यवहार होता है।

माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[३]

इस प्रकार जैनदर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सामाजिक समत्व भंग होता है। यदि समत्व की सामाजिक साधना करना है, तो इनका निरोध आवश्यक है। जैन धर्म का साधक कषाय-जय के द्वारा विषमताओं को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। जैन धर्म में पांच महाव्रत का जो विधान है वह पूर्णतः समत्व की सामाजिक साधना के सन्दर्भ में ही है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, मैथुन-सेवन (व्यभिचार) एवं संग्रहवृत्ति - ये सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। इनसे बचने के लिये पांच महाव्रतों का उपदेश दिया गया है। समत्व की सामाजिक स्तर पर साधना करने वाला व्यक्ति इनका परित्याग करता है। तब ही वह समाज कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित होता है। क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है। भगवान बुद्ध का यह कथन - 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय

---

३ देखें - 'नैतिकता का गुरूत्वाकर्षण' पृ. २। -आचार्य महाप्रज्ञ।

अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं' लोक मंगल के लिये ही है। सच्चा सन्यासी वह व्यक्ति है, जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है।[४] समत्वयोगी में अपने पराये की भेद रेखा नहीं होती। वह इनसे ऊपर उठ जाता है। वह तो अपनी कर्त्तव्यपूर्ण भूमिका या धर्म को निभाता है। जैसे कहा है :

'सम दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सूं न्यारा रहे, जूं धाय खिलावे बाल।।

वस्तुतः निर्ममत्व एवं निःस्वार्थ भाव तथा वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होकर लोकहित में अपने कर्त्तव्य का पालन ही समत्वयोगी की सच्ची भूमिका है। समत्वयोग का साधक वह व्यक्ति है, जो लोक कल्याण के लिये तन, मन या सम्पूर्ण जीवन को समर्पित कर दे। उसका त्याग समाज के लिये आदर्श रूप होता है। अतः सामाजिक जीवन में समत्वयोग की साधना के लिये भी राग-द्वेष एवं कषायों से ऊपर उठना आवश्यक है।

४.२ सामाजिक विषमता के कारण

सामाजिक सम्बन्धों में विषमता के उत्पन्न होने का मूल कारण ही राग-द्वेष है। यही राग-द्वेष के तत्त्व जब किसी व्यक्ति या वर्ग पर केन्द्रित होते हैं, तो अपने और पराये के भेद उत्पन्न करके सामाजिक सम्बन्धों को अशुद्ध बना देते हैं और वर्ग-संघर्ष को जन्म देते हैं।[५]

सामुदायिक जीवन के ये सम्बन्ध पांच प्रकार के है :

१. व्यक्ति और परिवार; २. व्यक्ति और जाति;
३. व्यक्ति और समाज; ४. व्यक्ति और राष्ट्र; और
५. व्यक्ति और विश्व।

जब ये सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं, तब इन सम्बन्धों के मूल में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। राग के कारण 'मेरा' या 'ममत्व' का भाव उत्पन्न होता है। मेरे

---

४ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २, पृ. १५६-५७। -डॉ. सागरमल जैन।

५ वही पृ. ४६८।

सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म और मेरा राष्ट्र - ये विचार गतिशील होते जाते हैं। किन्तु, जहाँ स्वार्थ की भावना पनप जाती है, वहाँ सम्बन्धों में टकराहट प्रारम्भ हो जाती है; जो विषमता का कारण बन जाती है। इस प्रकार सामाजिक विषमता के उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैं :

१. संग्रह; २. आवेश;
३. गर्व (बड़ा मानना); और ४. माया (छिपाना)।

इन्हें जैन परम्परा में चार कषाय कहते हैं। यही चार कारण अलग अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं।

१. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर व्यवहार, भ्रष्टाचार, लूटपाट, विश्वासघात आदि बढ़ते हैं।
२. आवेश के परिणामस्वरूप नगण्य, महत्त्वहीन पर-पदार्थों में 'स्व' का आरोपण होकर संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होती हैं।
३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, हीनत्व की भावना और क्रूर व्यवहार होता है।
४. माया के परिणामस्वरूप अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[६]

जैनदर्शन इन्हीं चार कषायों के निरोध को समत्वयोग की साधना का आधार बनाता है और समत्वयोग की साधना द्वारा सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।

सामाजिक क्षेत्र में ऊँच-नीच, छुआछूत, जातिगत भेदभाव, रंगभेद, राष्ट्रभेद, प्रान्तभेद, वर्गभेद आदि को लेकर राग-द्वेष का जाल बिछा हुआ है। राग-द्वेष की उपस्थिति से विश्व मैत्री तो दूर रही, परिवार मैत्री के दर्शन भी नहीं हो पाते। जहाँ मन में भेदभाव की रेखा खिंच जाती है, राग-द्वेष, मोह-घृणा आदि विषमताओं का राज्य हो जाता है और जहाँ घृणा और विद्वेष की वृत्ति होती है, वहाँ सामाजिक समता, मैत्री एवं शान्ति कहाँ रह सकती है।

---

६ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. १५५।
-डॉ. सागरमल जैन।

सामाजिक समता की स्थापना में जो बाधक तत्त्व है, वह परायेपन का भाव अथवा घृणा और विद्वेष की वृत्ति है। जब राग-द्वेष के कारण व्यक्ति कुछ को अपना, कुछ को पराया मान लेता है, तो सामाजिक जीवन में पारस्परिक घृणा और विद्वेष की वृत्ति विकसित होती है। जिस व्यक्ति और समाज में घृणा और विद्वेष की वृत्ति रहेगी वहाँ सामाजिक समता सम्भव नहीं है। सामाजिक समता की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि परस्पर घृणा और विद्वेष का अभाव हो। समत्वयोग की साधना में राग-द्वेष का त्याग आवश्यक माना गया है। राग-द्वेष के त्याग के परिणामस्वरूप अपने और परायेपन का भाव नहीं रहता है। अपने और परायेपन का भाव समाप्त होने पर आत्मवत् दृष्टि का विकास होता है। फलतः घृणा और विद्वेष स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाते हैं। घृणा और विद्वेष के समाप्त होने पर सामाजिक समता की स्थापना होती है। इसी क्रम में समणसुत्तं में कहा गया है कि तू जो अपने लिये नहीं चाहता, वह दूसरों के प्रति मत कर और जो अपने लिये चाहता है, वह दूसरों के लिये कर।[७] जब इस प्रकार की दृष्टि का विकास होता है, तो व्यवहार समत्वपूर्ण बनता है और उससे सामाजिक जीवन में समरसता आती है।

गीता में भी कहा गया है कि जो सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, वही सम्यग्दृष्टा है।[८] जैनदर्शन में प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है। वह सबको आत्मवत् मानकर आचरण करने का निर्देश देता है। सामाजिक विषमता के निराकरण के दो ही आधार हो सकते हैं।

१. सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि(आत्मवत् सर्व भूतेषु.); और
२. पारस्परिक एकत्व की अनुभूति।

ईशावास्योपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, उसे इस एकत्व की अनुभूति के कारण किसी के प्रति भी घृणा नहीं रहती है। इस प्रकार एकत्व की अनुभूति से भी अपने व परायेपन का

---

७ 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।' -श्रमणसूत्र पृ. ५५ ।

८ 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।' -गीता ६ ।

भाव समाप्त हो जाता है और तद्जन्य घृणा और विद्वेष भी नहीं रहता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक जीवन से घृणा और विद्वेष समाप्त हो जाते हैं, तो सामाजिक विषमता के लिये कोई आधार नहीं बचता है।[६]

सामाजिक विषमता का दूसरा कारण अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन समझने की भावना है। अहंकार की वृत्ति या मान कषाय के कारण व्यक्ति अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने लगता है। यह ऊँच-नीच की भावना सामाजिक विद्वेष और घृणा का कारण बनती है और परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है।

समत्वयोग की साधना में व्यक्ति को अहंकार या मान कषाय से ऊपर उठने की प्रेरणा दी गई है। अहंकार के कारण व्यक्ति अपने को दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है तो स्वयं अपने और समाज के जीवन में तनाव उत्पन्न करता है और उसके कारण सामाजिक समता भंग हो जाती है। अतः सामाजिक समता की स्थापना के लिये अहंकार की भावना या ऊँच-नीच की वृत्ति को समाप्त करना आवश्यक है। समत्वयोग की साधना का मुख्य उद्देश्य यही है कि व्यक्ति वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी अहंकार से मुक्त रहे। तनावों से मुक्त रहने के लिये उसे अहंकार छोड़ना पड़ेगा। जब अहंकार नहीं रहेगा, तो समाज में भी ऊँच-नीच के भाव नहीं रहेंगे और ऊँच-नीच के भाव का अभाव होने पर सामाजिक जीवन में स्वतः ही समता की स्थापना हो जायेगी।

४.३ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के संघर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन में स्वार्थ की वृत्ति ही संघर्ष और विषमता का मूल कारण बनती है। इसके परिणामस्वरूप वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख-शान्ति लुप्त हो जाती है। स्वार्थ के कारण ही विषमता का जन्म होता है और विषमता

---

६ 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। ६ ।।' -ईशावाष्योपनिषद् ।

संघर्ष को जन्म देती है। यह संघर्ष शान्ति को भंग करता है। इस प्रकार जहाँ स्वार्थ की वृत्ति जीवित रहेगी, वहाँ परमार्थ या लोकमंगल की भावना सम्भव नहीं होगी। स्वार्थ के कारण व्यक्ति अन्यायी, अत्याचारी एवं निर्दयी बन जाता है। वह केवल स्वयं के हित का ही चिन्तन करता है। उसकी इच्छा यही रहती है कि विश्व की समग्र सम्पदा मेरे अधीन हो, सर्वत्र मेरा यशोगान हो। परमार्थ या लोकमंगल की भावना तभी सम्भव हो सकती है, जब व्यक्ति का स्वार्थवृत्ति पर नियन्त्रण हो। समत्वयोग की साधना का लक्ष्य स्वार्थ पर नियन्त्रण करना ही है।

स्वार्थ एक बाँध की तरह होता है। वह सभी कुछ अपने में समेटना चाहता है। किन्तु बाँध के नियन्त्रण में यदि थोड़ी सी असावधानी होती है, तो वह मर्यादा को तोड़कर सर्वत्र हाहाकार मचा देता है। इस प्रकार स्वार्थ-वृत्ति के अनियन्त्रित होने से सामाजिक समता नष्ट होती है। व्यक्ति तथा समाज में संघर्षों का जन्म होता है। मानवीय जीवन में ये संघर्ष प्रायः चार रूपों में देखने को मिलते हैं :

१. मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष;
२. व्यक्ति की आन्तरिक अभिरुचियों और बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष;
३. वैयक्तिक हित और सामाजिक हित का संघर्ष; और
४. समाजों के पारस्परिक संघर्ष।

आगे हम इनकी क्रमशः चर्चा करेंगे।

१. मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष

स्वार्थी व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहता है। किन्तु उसकी इच्छाएँ और आकांक्षाएँ अनेक होती हैं। सर्वप्रथम तो इन इच्छाओं और आकांक्षाओं की उपस्थिति के कारण उसका आन्तरिक समत्व भंग होता है। इच्छा की उपस्थिति ही तनाव की सूचक है। अतः उनके कारण व्यक्ति का आन्तरिक समत्व या मानसिक शान्ति भंग हो जाती है। मात्र एक इच्छा ही नहीं, अपितु उसके सामने अनेक इच्छाएँ अपनी सन्तुष्टि के लिये उपस्थित होती हैं। किन्तु उसे उन सभी इच्छाओं में से किसी एक को प्राथमिकता देना होता है। किस इच्छा को प्राथमिकता दी जाये – इसको लेकर इच्छाओं के मध्य एक आन्तरिक संघर्ष प्रारम्भ हो

जाता है। उदाहरण के लिये व्यक्ति एक ओर अथाह सम्पत्ति का स्वामी होना चाहता है, तो दूसरी ओर इन्द्रियाँ विषय भोगों के माध्यम से अपनी सन्तुष्टि चाहती हैं। एक ओर सम्पत्ति के संचय की आकांक्षा होती है, तो दूसरी ओर उसके व्यय की इच्छा होती है। इन्हीं इच्छाओं के संघर्ष के कारण ही व्यक्ति का चित्त अशान्त रहता है और उसका चैतसिक समत्व भंग हो जाता है। समत्वयोग की साधना इच्छाओं और आकांक्षाओं के नियन्त्रण के माध्यम से मनोवृत्तियों के आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करती है। समत्वयोग का जीवन दर्शन यह है कि जहाँ इच्छाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं, वहाँ चैतसिक समत्व या आन्तरिक शान्ति का अभाव होता है। चैतसिक समत्व या आन्तरिक शान्ति के लिये व्यक्ति को इच्छाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठना आवश्यक है। इच्छाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठने का यह प्रयत्न ही समत्वयोग की साधना है।

२. *व्यक्ति की आन्तरिक अभिरूचियों और बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष*

भोगवादी जीवन दृष्टि के कारण व्यक्ति में अनेक इच्छाओं और आकांक्षाओं का जन्म होता है। किन्तु इन इच्छाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति बाह्य जगत् में ही सम्भव होती है। व्यक्ति की इच्छाएँ या आकांक्षाएँ अनन्त हैं और बाह्य जगत् में उनकी पूर्ति के साधन उनकी अपेक्षा सीमित ही होते हैं। अतः उनकी पूर्ति के प्रयत्नों में भी अन्तर में एक असन्तोष तो बना ही रहता है। यह असन्तोष हमारे चैतसिक समत्व को भंग कर देता है। दूसरी ओर व्यक्ति की इन इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के साधन उसके अधिकार में भी नहीं होते। वे उसे अन्य व्यक्तियों के अधिकार से प्राप्त करने होते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति का समाज के दूसरे सदस्यों के साथ संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। पुनः व्यक्ति की इन इच्छाओं या आकांक्षाओं की पूर्ति बाह्य जगत् में ही सम्भव होती है और बाह्य परिस्थितियाँ सदैव ही उन इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के अनुकूल ही सिद्ध हों, यह सम्भव नहीं होता। व्यक्ति क्या चाहता है और परिस्थितियाँ किस ओर ले जाती हैं, यह सुनिश्चित नहीं है।

अनेक बार परिस्थितियाँ हमारी इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रतिकूल सिद्ध होती हैं। इन प्रतिकूल स्थितियों में व्यक्ति को अपने ही बाह्य परिवेश के साथ संघर्ष करना होता है। इस संघर्ष में भी एक ओर उसके वैयक्तिक जीवन की शान्ति भंग होती है; तो दूसरी ओर सामाजिक जीवन भी उससे प्रभावित होता है।

३. वैयक्तिक हित और सामाजिक हित (व्यक्ति और समाज के मत) संघर्ष

व्यक्ति समाज में ही जन्म लेता है और विकसित होता है। व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि एक सभ्य और सुसंस्कृत समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिये समाज का सहयोग आवश्यक होता है। फिर भी, जब व्यक्ति में स्वार्थवादी प्रवृत्ति विकसित होती है, तो वह स्वहित या अपने स्वार्थों की पूर्ति तक ही केन्द्रित हो जाता है। फलतः व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में व्यक्ति की भोगाकांक्षाओं का कहीं न कहीं नियन्त्रण आवश्यक होता है। व्यक्ति को परिवार और समाज के हित के लिये अपने वैयक्तिक हितों का त्याग करना पड़ता है। जब व्यक्ति अपने वैयक्तिक हितों या स्वार्थों की पूर्ति को ही महत्त्वपूर्ण मान लेता है, तब व्यक्ति और परिवार अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्ष प्रारम्भ होता है। सामाजिक सम्बन्धों में विषमता के मूल में सामान्यतः स्वार्थ बुद्धि या राग-द्वेष की वृत्ति ही मुख्य होती है। जब सम्बन्ध राग भावना या स्वार्थों के आधार पर खड़े होते हैं, तो सम्बन्धों में कहीं न कहीं संघर्ष और टकराहट आरम्भ हो जाती है। राग भाव के कारण 'मैं' और 'मेरा' का घेरा बनता है। परिणामस्वरूप मेरे परिवारजन, मेरी जाति, मेरा धर्म और मेरा राष्ट्र - ये विचार विकसित होते हैं, जो भाई भतीजावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद को जन्म देते हैं। चाहे ये अवधारणाएँ कितनी ही व्यापक क्यों न हों, इनके मूल में कहीं न कहीं स्वार्थबुद्धि कार्य तो करती है। फलतः इनके कारण वैयक्तिक जीवन में तनाव और सामाजिक जीवन में संघर्षों का जन्म होता है।

जब तक व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठता, तब तक व्यक्ति और समाज के मध्य सुमधुर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते हैं। व्यक्ति और समाज के मध्य जो भी संघर्ष उत्पन्न होते हैं, उनका मूल कारण व्यक्ति की स्वार्थ वृत्ति ही होती है। व्यक्ति का 'स्व' जितना संकुचित होता है, सामाजिक संघर्ष उतने ही अधिक होते हैं। व्यक्ति का 'स्व' - चाहे वह अपने वैयक्तिक जीवन तक, चाहे वह पारिवारिक जीवन तक अथवा अपने धर्म और सम्प्रदाय तक सीमित हो, वह उसे स्वार्थ भावना से ऊपर नहीं उठने देता है। उसकी स्वार्थ की यही वृत्ति व्यक्ति और परिवार के मध्य अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्षों को जन्म देती है। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं कि "परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बढ़ती जाने वाली अनैतिकता का नियामक नहीं होता, वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व राष्ट्रों के प्रति बढ़ती जाने वाली अनैतिकता का नियामक नहीं होता।"

राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होता है। जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष भी होता है और जब तक जीवन में राग-द्वेष के तत्त्व कायम रहते हैं, तब तक सामाजिक जीवन में संघर्ष समाप्त नहीं होते हैं। संघर्ष चाहे व्यक्ति या परिवार के मध्य हो, व्यक्ति या समाज के मध्य हो या दो समाजों अथवा धर्म सम्पद्रायों के मध्य हो, क्षुद्र वृत्ति के समाप्त होने पर ही समाप्त होंगे। जैन धर्म वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में निहित संघर्षों को समाप्त करने के लिये राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना आवश्यक समझता है। समत्वयोग की साधना इस बात पर सर्वाधिक बल देती है कि व्यक्ति रागभाव एवं स्वार्थपरक वृत्ति से ऊपर उठे। समत्वयोग की साधना वस्तुतः राग-द्वेष, मेरे-पराये आदि के भावों से ऊपर उठने की ही साधना है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि जीवन में रागभाव या ममत्व की वृत्ति नहीं रहेगी; तो फिर परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र आदि की अवधारणाएँ ही समाप्त हो जायेंगी। किन्तु यहाँ जैनदर्शन की मान्यता यह है कि परिवार, समाज या राष्ट्र आदि के मध्य सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर नहीं, अपितु कर्त्तव्य बुद्धि के आधार पर खड़े होने चाहिये। यदि व्यक्ति और परिवार अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य सम्बन्ध राग-द्वेष के

आधार पर स्थित होंगे, तो वे संघर्ष को जन्म देंगे। किन्तु यदि वे कर्त्तव्य के आधार पर स्थित होंगे, तो सामाजिक जीवन में सामन्जस्य होगा। समत्वयोग का सिद्धान्त यह बताता है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध स्वार्थों के आधार पर नहीं; अपितु कर्त्तव्य के आधार पर स्थित होना चाहिये। कर्त्तव्य बोध ही व्यक्ति और परिवार तथा व्यक्ति और समाज के मध्य होने वाले संघर्ष अथवा एक समाज से दूसरे समाज के मध्य होने वाले संघर्षों का निराकरण कर सकता है। समत्वयोग की साधना का मुख्य उद्देश्य यही है कि व्यक्ति मेरे और पराये के भावों से ऊपर उठे और उसमें आत्मवत् दृष्टि का विकास हो। हमारे पारस्परिक सम्बन्ध स्वार्थों के आधार पर नहीं; अपितु कर्त्तव्य भाव के आधार पर स्थित हों।

४.४ समाजों के पारस्परिक संघर्ष

संघर्ष न केवल व्यक्ति और समाज के बीच है, किन्तु विभिन्न समाजों, विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के मध्य भी संघर्ष देखे जाते हैं। संघर्ष चाहे व्यक्ति या व्यक्ति के मध्य में हो, व्यक्ति या समाज के मध्य हो अथवा दो भिन्न समाजों अथवा राष्ट्रों के मध्य हो, उनका मूल कारण तो कहीं न कहीं स्वार्थ या संग्रह की वृत्ति या अधिकार की भावना ही होती है। स्वार्थ न केवल वैयक्तिक होते हैं, अपितु वे सामाजिक भी होते हैं। जब एक समाज का स्वार्थ दूसरे समाज अथवा एक राष्ट्र का स्वार्थ दूसरे राष्ट्र अथवा एक धर्म परम्परा का स्वार्थ दूसरी धर्म परम्परा से टकराता है; तो समाजों, राष्ट्रों तथा सम्प्रदायों के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। समाजों, राष्ट्रों अथवा धर्म सम्प्रदायों के मध्य होने वाले संघर्षों के मूल में या तो वर्गहित का प्रश्न होता है या फिर अधिकारों की भावना का।

जिस प्रकार वैयक्तिक जीवन का स्वार्थ या अधिकार की भावना संघर्षों को जन्म देती है, उसी प्रकार अपने वर्गीय हितों और अधिकार की भावना के कारण सामाजिक संघर्षों का जन्म होता है। वर्तमान में विभिन्न समाजों, धर्म संघों और राष्ट्रों में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की जो प्रवृत्ति है, वही समाजों, धर्मों या राष्ट्रों के मध्य

संघर्ष का मूल कारण हैं। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है और उसके परिणामस्वरूप घृणा और विद्वेष की भावनाएँ बलवती होती हैं, जो सामाजिक संघर्षों का कारण बनती हैं। व्यक्ति अपने अहंकार की पुष्टि समाज में करता है। उस अहंकार को पोषण देने के लिये अनेक मिथ्या विश्वासों का समाज में सृजन होता है। यहीं वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक मतान्धता और विभिन्नवाद उसी के परिणाम हैं। जिस प्रकार वैयक्तिक स्वार्थ व्यक्तियों के मध्य संघर्षों का कारण बनता है, उसी प्रकार से जातीय स्वार्थ, साम्प्रदायिक स्वार्थ और राष्ट्रीय स्वार्थ, समाजों, राष्ट्रों और धर्म सम्प्रदायों के मध्य संघर्षों को जन्म देते हैं। जब समृद्ध राष्ट्रों और धर्म सम्प्रदायों में अपने प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ाने की प्रवृत्ति विकसित होती है, तो वे दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहार करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः जब आधिपत्य की दृष्टि या शासित करने की वृत्ति विकसित होती है, तो दूसरों के अधिकारों का हनन प्रारम्भ हो जाता है।

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना का जो निर्देश दिया गया है, वह केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है। उसका सम्बन्ध समाजों, राष्ट्रों और धर्म सम्प्रदायों से भी है। समत्वयोग की साधना न केवल वैयक्तिक साधना है, अपितु वह सामुदायिक साधना भी है। विभिन्न समाजों, धर्म सम्प्रदायों और राष्ट्रों के लिये आवश्यक है कि वे सामुदायिक रूप से समत्वयोग की साधना में प्रवृत्त हों।

सामाजिक संघर्षों या सामाजिक विषमताओं का एक कारण वर्ण व्यवस्था भी है। अतः सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से वर्ण व्यवस्था पर विचार करना आवश्यक हैं। क्योंकि इस वर्ण व्यवस्था के कारण सामाजिक जीवन में विवाद उत्पन्न होते हैं। वर्ण व्यवस्था से ऊँच-नीच की भावना पनपती है। यदि वर्ण व्यवस्था का आधार वैयक्तिक योग्यताओं के आधार पर कार्यों या श्रम का विभाजन हो, तो वह इतनी बुरी नहीं है। क्योंकि जब तक वैयक्तिक योग्यताओं में वैभिन्य है, सामाजिक व्यवस्था में कार्य-विभाजन या श्रम-विभाजन तो करना ही होगा। किन्तु, जब वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर स्वीकार कर ली जाती है, तब वह वर्ग संघर्ष को

जन्म देती है। तब उसका आधार योग्यता नहीं, जातिगत निहित स्वार्थ होते हैं। अतः जब सामाजिक जीवन में वर्णवाद या जातिवाद समाप्त होगा, तब ही समत्वयोग या समभाव की साधना सार्थक होगी।

समत्वयोग की साधना का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिये बिना किसी भेदभाव के समान भाव से खुला है। उसमें धनी अथवा निर्धन अथवा ऊँच या नीच का किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। आचारांगसूत्र में कहा है कि समत्व की साधना का उपदेश सभी के लिये समान है।[१०] जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिये है, वही उपदेश गरीब या निम्नकुल व्यक्ति के लिये दिया गया है। किन्तु सामाजिक जीवन में जहाँ अहं की भावना पुष्ट होती है, तो वहीं ऊँच-नीच की भेदरेखा खिंच जाती है। किन्तु, जीवन में जब तक भेदभाव एवं विषमता की वृत्ति रहेगी, समता या समत्वयोग की साधना सम्भव नहीं होगी। जैन धर्म में हरिकेशीबल जैसे चाण्डाल कुलोत्पन्न व्यक्ति, अर्जुनमाली जैसे घोर हिंसक और पुनिया जैसे अत्यन्त निर्धन व्यक्ति का स्थान वही रहा है, जो स्थान इन्द्रभूति जैसे ब्राह्मण विद्वान तथा धन्नाशालिभद्र जैसे श्रेष्ठिरत्नों का है।[११]

जैन धर्म में जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र आदि रूप वर्ण व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया गया है। मनुष्य जाति की दृष्टि से वे सभी समान हैं। व्यक्ति जन्म से ऊँच-नीच, धनवान-गरीब नहीं होता, किन्तु कर्म से होता है। जन्म के आधार पर जाति का निश्चय नहीं किया जा सकता। कर्म या आचरण के आधार पर चातुर्वण्य व्यवस्था का निर्णय करना होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय और कर्म से ही वैश्य या शुद्र होता है। जाति की अपने आप में कोई विशेषता नहीं।[१२] महत्त्व सदाचरण का है। सामाजिक या व्यवसायिक व्यवस्था के क्षेत्र

---

[१०] आचारांगसूत्र ६/२/६/१०२।

[११] उत्तराध्ययनसूत्र १२/३६।

[१२] वही २५/३३।

में किये जानेवाले विभिन्न कर्मों के वर्गीकरण के आधार पर किसी वर्ग को श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जा सकता है। श्रेष्ठता या हीनता का आधार व्यक्ति के सद्गुण या सदाचार ही है।

जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था :

१. जन्म के आधार पर स्वीकार नहीं की गई, उसका आधार कर्म हैं।
२. अतः कर्म के आधार पर वर्ण परिवर्तनीय है।
३. पुनः श्रेष्ठत्व का आधार वर्ण या व्यवसाय नहीं, सदाचरण है।

हिन्दू स्मृतियों में भी कहा गया है : "जन्मना जायते शुद्रः कर्मणा जायते विपुः"। बौद्ध धर्म में तो वैदिक वर्ण व्यवस्था का क्रम भी बदल दिया गया है - क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, और शुद्र। बौद्ध धर्म के अनुसार भी वर्ण व्यवस्था जन्मना नहीं, कर्मणा है। कर्मों से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या क्षुद्र बनता है; न कि उन कुलों में जन्म लेने मात्र से। बौद्धागमों में जातिवाद के खण्डन के अनेक प्रसंग मिलते हैं। लेकिन उस सबका मूलाशय यही है कि जाति या वर्ण आचरण के आधार पर बनता है, न कि जन्म के आधार पर। गीता में वर्ण व्यवस्था जन्म से नहीं, वरन् कर्म पर ही आधारित है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि चातुर्वण्य व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है। युधिष्ठिर कहते हैं कि 'तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण ही जाति का निर्धारक तत्त्व है।'

इस प्रकार डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १७७-१७८ में समान रूप से वर्ण व्यवस्था को कर्म के आधार पर स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में आधार भूत मान्यताएँ निम्न हैं :

१. वर्ण का आधार जन्म से नहीं, वरन् गुण और कर्म है।
२. वर्ण परिवर्तनीय है। व्यक्ति अपने स्वभाव, आचरण और कर्म में परिवर्तन कर वर्ण परिवर्तित कर सकता है।
३. वर्ण का सम्बन्ध सामाजिक कर्त्तव्यों से है। कोई भी सामाजिक कर्त्तव्य या व्यवसाय अपने आप में श्रेष्ठ या हीन नहीं है, वरन् उसकी कर्त्तव्य निष्ठा या सदाचरण पर निर्भर है।

आध्यात्मिक विकास का अधिकार सभी वर्ण के लोगों को समान रूप से प्राप्त है।

४.५ सामाजिक वैषम्य के निराकरण का आधार अहिंसा

समत्वयोग की साधना का प्रथम सोपान अहिंसा है। अहिंसा की साधना के बिना समत्वयोग की साधना पूर्ण नहीं होती है। समत्वयोग की साधना वस्तुतः अहिंसा की साधना है। अहिंसा जैन साधना का प्राण है। अहिंसा को जैनागमों में भगवती कहा गया है।[१३] वह वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व का आधार है। हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् परमात्मा यही उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्व को किसी प्रकार से परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिये, न किसी का हनन या घात करना चाहिये। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा और दुःख को जान कर अर्हन्तों ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।[१४] प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत हैं, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[१५] सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है। इसे सदैव स्मरण रखना ही ज्ञानी होने का सार है।[१६] दशवैकालिकसूत्र में सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। भगवान महावीर ने भी साधना के क्षेत्र में इसको प्रथम स्थान दिया है।[१७] अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।[१८] जैनदर्शन में समत्वयोग

---

१३ प्रश्नव्याकरणसूत्र १/२१।
१४ आचारांगसूत्र १/४ एवं १/१२७।
१५ प्रश्नव्याकरण सूत्र १/२१।
१६ सूत्रकृतांगसूत्र १/४/१०।
१७ दशवैकालिकसूत्र ६/६।
१८ भक्तपरिज्ञा ६१।

और अहिंसा को सभी प्राणियों का कल्याण मार्ग निरूपित किया गया है। सर्वत्र आत्मभाव, करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। अहिंसा क्रिया नहीं सत्ता है। वह आत्मा की एक अवस्था है। जैनदर्शन में अहिंसा को एक व्यापक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। अहिंसा सद्गुणों के समूह की सूचक है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि जैन साधना विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसामय है। सभी नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत् हैं। असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि आचार तथा नियम अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[१९] भगवतीआराधना में कहा गया है कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है तथा सब शास्त्रों का उत्पत्ति स्थान है।[२०]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम वर्णित किये गये हैं[२१] :

१. निर्वाण; २. निवृत्ति; ३. समाधि; ४. शान्ति;
५. कीर्ति; ६. कान्ति; ७. शुचि; ८. पवित्र;
९. विमल; और १०. निर्मलतर आदि।

इस प्रकार साठ नाम हैं। इससे मालूम होता है कि अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है।

आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में लिखते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा अहिंसा भी है। प्रमत्त आत्मा हिंसक और अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है।[२२] आत्मा की प्रमत्त दशा हिंसा की अवस्था है और अप्रमत्त दशा अहिंसा की अवस्था है। जहाँ अहिंसा है, वहीं समत्व या समता है।

४.६ वैचारिक वैषम्य के निराकरण का सूत्र अनेकान्त

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना की दृष्टि से मुख्यतः तीन

---

१९ पुरूषार्थसिद्ध्युपाय ४/२ ।
२० भगवतीआराधना ६/९० ।
२१ प्रश्नव्याकरणसूत्र १/२१ ।
२२ ओघनिर्युक्ति ७५४ ।

सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। इन तीनों ही सिद्धान्तों का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के मध्य अथवा समाजों के मध्य होने वाले संघर्षों के उपशमन से है। अहिंसा की अवधारणा व्यक्ति और समाज अथवा विभिन्न समाजों और राष्ट्रों के मध्य होने वाले भौतिक स्वार्थ पर आधारित संघर्षों को उपशान्त करती है। किन्तु संघर्ष केवल भौतिक या आर्थिक ही नहीं होते, वैचारिक भी होते हैं। कभी-कभी तो वैचारिक वैषम्य के कारण ही बाह्य जगत् में संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। समत्वयोग की साधना का लक्ष्य केवल सामाजिक और आर्थिक संघर्षों का ही निराकरण करना नहीं है। वर्तमान युग में समाजों, राष्ट्रों और धर्म सम्प्रदायों के मध्य जो संघर्ष होते हैं, उनके मूल में आर्थिक स्वार्थ या राजनैतिक स्वार्थ उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितना वैचारिक सम्प्रदायवाद या वैचारिक साम्राज्यवाद। आज न तो अधिकार लिप्सा से उत्पन्न साम्राज्यवाद का और न आर्थिक साम्राज्य स्थापना का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण रह गया है, जितना वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना का। विभिन्न धर्म सम्प्रदाय और विभिन्न राष्ट्र आज वैचारिक साम्राज्यवाद हेतु अधिक प्रयत्नशील देखे जाते हैं। प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय और प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि दूसरे धर्म सम्प्रदाय और राष्ट्र उसकी वैचारिक मान्यताओं को स्वीकार करे। एक धार्मिक सम्प्रदाय दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय के साथ जिन संघर्षों में उलझा हुआ है, उसका मुख्य आधार अपनी विचारधारा का फैलाव ही है। उन संघर्षों के माध्यम से वह अपने स्वार्थों की सिद्धि नहीं चाहता है, अपितु अपनी विचारधारा को स्वीकार कराना ही चाहता है। आज जो प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय अपने अनुयायियों कि संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से धर्मान्तरण आदि कराता है, उसका मुख्य लक्ष्य कोई स्वार्थों की पूर्ति नहीं है। केवल अपनी विचारधारा के फैलाव का ही दृष्टिकोण है। दूसरा व्यक्ति हमारी विचारधारा या मान्यता को स्वीकार करे, यह वर्तमान युग का प्रमुख मुद्दा है – चाहे वह प्रश्न धार्मिक विचारधाराओं का हो, चाहे वह राजनैतिक विचारधाराओं का हो। यह तो स्पष्ट है कि जहाँ भी वैचारिक संघर्ष होंगे, वहाँ समता या सहिष्णुता का अभाव होगा। आज विश्व में जो धार्मिक और राजनैतिक असहिष्णुता बढ़ रही है, उसके कारण सामाजिक शान्ति भी भंग हो रही है। वैचारिक जगत् में सारा

संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। भोगासक्ति स्वार्थों की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है, तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आन्तरिक संघर्ष का कारण होती है। समत्वयोग राग-द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। वह आन्तरिक सन्तुलन है। समत्वयोग का मूल केन्द्र आन्तरिक सन्तुलन या समत्व है। समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य न केवल मानसिक समता की स्थापना है, अपितु वैचारिक दृष्टि से पारस्परिक सहिष्णुता और समता की स्थापना भी है।

समाज में और व्यक्तियों में पारस्परिक सहिष्णुता और वैचारिक उदारता का विकास हो, इसके लिये जैनदर्शन अनेकान्तवाद को प्रस्तुत करता है। अनेकान्तवाद के माध्यम से धार्मिक सम्प्रदायों और राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक सुसामंजस्य की स्थापना की जा सकती है। जैनदर्शन का अनेकान्तवाद का सिद्धान्त वैचारिक मतभेदों और साम्प्रदायिक दुराग्रहों के मध्य समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। विचार के स्तर समत्वयोग की साधना अथवा सामाजिक जीवन में वैचारिक सहिष्णुता की स्थापना के लिये अनाग्रह या अनेकान्त की अवधारणा का विकास आवश्यक माना गया है। वस्तुतः जैनदर्शन का अनेकान्तवाद का सिद्धान्त वैचारिक विषमता और वैचारिक संघर्षों को समाप्त करने का एक सुन्दर उपाय है।

विचार के क्षेत्र में समत्व की स्थापना या वैचारिक संघर्षों का निराकरण उसी के माध्यम से सम्भव है। अगले पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अनेकान्तवाद की अवधारणा किस प्रकार सामाजिक जीवन में उत्पन्न वैचारिक संघर्षों को समाप्त कर सकती है।

सामाजिक जीवन में वैचारिक मतभेद तीन रूपों में पाये जाते हैं। परिवार की एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी के साथ जीवन मूल्यों को लेकर मतभेद होता है। परिवार और समाज दोनों में ही जीवन के दृष्टिकोण को लेकर संघर्ष होता है। इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में विभिन्न विचारधाराओं के मध्य मतभेद होता है। इस प्रकार वैचारिक मतभेद के तीन क्षेत्र होते हैं। सामाजिक एवं पारिवारिक

क्षेत्र में संघर्ष का आधार जीवन मूल्य या जीवन दृष्टियाँ होती हैं। धार्मिक क्षेत्र में संघर्ष का कारण मुख्यतः धार्मिक आचार और विचार का दुराग्रह होता है तथा राजनैतिक क्षेत्र में संघर्ष का कारण विभिन्न विचारधाराएँ बनती हैं। यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समत्वयोग की साधना अनेकान्त के माध्यम से किस प्रकार इन वैचारिक मतभेदों का निराकरण करती है।

अनेकान्त भारतीय दर्शनों के मध्य एक योजक कड़ी है और जैनदर्शन का हृदयस्थल है। इस अनेकान्तवाद का दूसरा नाम स्याद्वाद भी है। नित्य, अनित्य आदि परस्पर विरोधी एवं अनेक धर्मों से युक्त वस्तु के अभ्युपगम को स्याद्वाद कहते हैं।[२३] सामान्यतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों पर्यायवाची माने जाते हैं। अनेकान्त शब्द का अर्थ इस प्रकार है - अनेक+अन्त = अनेकान्त अर्थात् जिसके अनेक निष्कर्ष हों, वह अनेकान्त है। अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति 'रत्नाकरवतारिका' में इस प्रकार की गई है :

> 'नरकः इति अनेकः अनेके अन्तः (वादः)
> अनेकान्तः अनेकान्तश्च मसौः वादश्च इति अनेकान्तवादृ।
> अभ्यते गम्यते-निश्चियते इति अन्तः धर्मः।
> न एकःअनेकः अनेकश्चासौ अन्तश्च इति।।'[२४]

अर्थात् वस्तु में अनेक धर्मों के समूह को मानना अनेकान्त है। अनेकान्त को स्याद्वाद भी कहा जाता है। स्यात् अनेकान्तवाद का द्योतक अव्यय है।[२५]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'स्यात्' शब्द को अनेकान्त का द्योतक माना है।[२६] यद्यपि सामान्यतः दोनों में विशेष अन्तर नहीं है, फिर

---

२३ स्याद्वाद मंजरी पृ. २३६।

२४ रत्नाकरवतारिका पृ. ८६।

२५ (क) अष्टसहस्त्री पृ. २८६।
(ख) आत्ममीमांसा श्लोक १०३;
(ग) पंचास्तिकाय गाथा १५;
(घ) अमृतचंद्रसूरि की टीका पृ. ३०; और
(च) स्यादवादमंजरी ५।

२६ अन्ययोगव्यच्छेदिका कारिका २८।

भी सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। आचार्य अकलंक के अनुसार अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा के माध्यम से प्रतिपादित करने वाली पद्धति ही स्याद्वाद है।[२७] वस्तुतत्त्व न केवल अनेक धर्मों से युक्त है, अपितु उसमें अनेक विरोधी धर्म रहे हुए हैं। जहाँ वस्तु का तत् रूप है, वहीं अतत् रूप भी है; जो एक है, वही अनेक भी है; जो सत् है वही असत् भी है; और जो नित्य है, वही अनित्य भी है। इस प्रकार वस्तु में रहे हुए परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन ही अनेकान्त है। इस प्रकार वस्तु में नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी गुण धर्मों को स्वीकार कर सर्वथा एकान्त का निराकरण करना ही अनेकान्त है। अनेकान्त की यह विशेषता है कि वह वस्तु में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की सत्ता को युगपद् रूप से स्वीकार करता है।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु तत्त्व में रहे हुए विरोधी धर्म युगलों को सापेक्षिक रूप से अभिव्यक्त करने वाले सात विकल्प हो सकते हैं। इसे सप्तभंगी भी कह सकते हैं।

१. स्यात् अस्ति;
२. स्यात् नास्ति;
३. स्यात् अवक्तव्य;
४. स्यात् अस्ति च नास्ति च;
५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च;
६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्य च; और
७ स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च।[२८]

अनेकान्तवाद के माध्यम से व्यक्ति में समन्वयवादी दृष्टिकोण का आविर्भाव होता है।

जैनदर्शन के ग्रन्थों में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगी और नयवाद की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। उनमें अनेकान्तवाद और नयवाद के माध्यम से ही तत्त्वज्ञान के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है।

यद्यपि जैनागमों में अनेकान्त दृष्टि बीज रूप में निहित है,

---

२७ 'अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्यादवादः' लघीयस्त्रय टीका ६२। -अकलंक।
२८ 'जैन विद्या के विविध आयाम' पृ. १५८-५६। -डॉ. सागरमल जैन।

किन्तु उसका पुष्पित एवं पल्लवित रूप पश्चात्वर्ती जैनाचार्यों के साहित्य में देखने को मिलता है। वस्तुतः अनेकान्त दृष्टि को दार्शनिक धरातल पर स्थापित करने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन तथा मल्लवादी को है, जिन्होंने सन्मतितर्कप्रकरण, नयचक्र आदि ग्रन्थों में इस पर विशद् विचारणा की है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र, अकलंक, आचार्य हरिभद्र, विद्यानन्द आदि जैन दार्शनिकों ने भी इसका विकास किया है।[२९] सन्त आनन्दघनजी समत्वयोगी थे। उनकी विवेचनाओं का आधार भी अनेकान्त दृष्टि रही है। उनका 'अवधूनटनागर की बाजी' नामक पद अनेकान्त दृष्टि का सुन्दर उदाहरण है।

उनकी अनेकान्त दृष्टि का प्रमाण निम्न पद भी है :

'षड्दररसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड्दर्शन आराधे रे।।[३०]

इस पद में उन्होंने अनेकान्तवाद के आधार पर षड्दर्शनों का समन्वय किया है और षड्दर्शनों को जिन के विभिन्न अंगों के रूप में प्रतिपादित किया है।

वास्तव में अनेकान्तदृष्टि एक ऐसी व्यापक पद्धति है, जिसमें समस्त दर्शन समाहित हो जाते हैं। जैसे हाथी के पैर में अन्य सभी प्राणियों के पैर और सागर में सभी सरिताएँ समा जाती हैं, वैसे ही अनेकान्त दृष्टि में सभी दर्शन समा जाते हैं। इस सम्बन्ध में आनन्दघनजी का सुप्रसिद्ध पद है :

'जिनवर मा सघला दरसण छे, दरसण जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटनी सही, तटनी सागर भजना रे।।'[३१]

उपाध्याय यशोविजयजी लिखते हैं :

---

२९ आनन्दघन ग्रन्थावली - 'नमिजिनस्तवन'।

३० (क) 'आनन्दघन का रहस्यवाद' पृ. १२८ से उद्धृत। -डॉ. सुदर्शनाश्री।
(ख) 'सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।' स्याद्वादमंजरी कारिका २३ की टीका।
(ग) प्रश्नवशादेकस्मिन्: वस्तुनि अविरेधेन विधिप्रतिवेधविकल्पना सप्तभंगी।'-राजवार्तिक १/६/५/
(घ) पंचास्तिकायसंग्रह १४।

३१ आनन्दघन ग्रन्थावली - 'नमिजिनस्तवन'।

'यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यऽनेकान्तवादस्य न्यूनाधिकशेमुषी
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शन तुल्यताम्
मोक्षोद्देशण विशेषण यः पश्यति स शास्त्रवित्
स एवं धर्मवादः स्यादन्यद् बालिशवल्गनम्।।
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा
शास्त्र कोटि वृथैश्चैव तथा चोक्तं महात्मना।।'[३२]

अनेकान्तवादी का दृष्टिकोण सभी दर्शनों के प्रति समभावपूर्ण होता है। वह किसी भी दर्शन से राग या द्वेष नहीं करता।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं :

'पक्षपातो न में वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमत वचनं यस्यतस्य कार्य परिग्रह।।'[३३]

अर्थात् मुझे न तो महावीर के प्रति राग है और न कपिल आदि अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष है। जिसके वचन युक्ति संगत हों, उन्हें स्वीकार करना चाहिये। इसी तरह 'उपदेश तरंगिनी' में भी उन्होंने कहा है कि मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में और न ही किसी पक्ष का समर्थन करने में है। वस्तुतः कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।[३४]

अनेकान्तवादी सभी दर्शनों को वात्सल्य दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि उदार, विशाल और समन्वयात्मक होती है। समत्वयोग की साधना ही उसके जीवन का अंग बन जाती है। समत्वयोग की साधना से उसका जीवन ओत-प्रोत होता है। यही कारण है कि अनेकान्तवादी सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी भी है, क्योंकि वह स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों के प्रति समान भाव रखता है। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। यही

---

३२ 'अनेकान्त व्यवस्था' भाग १। -उपाध्याय यशोविजयजी।

३३ 'लोकतत्त्व निर्णय' -हरिभद्रसूरि।

३४ 'नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्क वादे न च तत्त्ववादे।
न पक्ष सेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव ।। ८ ।।'
-उपदेशतरंगिनी प्रथम तरंग (तप उपदेश)।

धर्मवाद है। माध्यस्थ या समभाव दृष्टि में ही समस्त शास्त्रों का ज्ञान समाहित हो जाता हैं।

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी कहा है :

'भिन्न-भिन्न मत देखीए, भेद दृष्टिनो एह।
एक तत्त्वना मूलमां व्याप्या मानो तेह।। ३८।।'[३५]

अनेकान्तवादी का चिन्तन व्यापक होता है। वह उसे सर्वांगीण दृष्टि प्रदान करता है। श्रीमद्राजचन्द्रजी का कहना यह है कि एकान्त और अनेकान्त में मौलिक भेद यही है कि एकान्त कथन में 'ही' का आग्रह रहता है और अनेकान्त दृष्टि में 'भी' के सदाग्रह की प्रधानता रहती है। जैनदर्शन में एकान्त को मिथ्यात्व स्वीकार किया गया है।[३६] सन्त आनन्दघनजी ने भी एकान्त या निरपेक्ष वचन को मिथ्या बताकर सापेक्ष (अनेकान्त) वचन की यथार्थता पर बल दिया है।

वे कहते हैं :

'वचन निरपेख व्यवहार झुठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार सांचो। वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो।।'[३७]

निरपेक्ष वचन - अपेक्षा रहित या एकान्त वचन मिथ्या है और सापेक्षवचन या अनेकान्त वचन सत्य है।

समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में सामंजस्य और समता की स्थापना है। क्योंकि जब तक समाज और परिवार में सौहार्द नहीं होगा, वैयक्तिक जीवन में भी शान्ति का लाभ एवं समत्व की अनुभूति सम्भव नहीं होगी। अतः समत्वयोग का मुख्य प्रतिपाद्य न केवल वैयक्तिक जीवन में समत्व की साधना है, अपितु

---

३५ श्रीमद्राजचन्द्र (हिन्दी अनुवाद) प्रथम खण्ड पृ. २२५।
-(उद्धृत आनन्दघन का रहस्यवाद पृ. १२६)।

३६ 'एगंत होई मिच्छतं।' -श्रीमद्राजचन्द्र (हिन्दी अनुवाद) प्रथम खण्ड पृ. २२५
(उद्धृत आनन्दघन का रहस्यवाद पृ. १२६)।

३७ 'अनन्त जिन स्तवन' - आनन्दघन ग्रन्थावली।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी समत्व की साधना है। उसके माध्यम से परिवार और समाज के मध्य भी शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण किया जा सकता है। सामाजिक और पारिवारिक जीवन में समत्व तथा शान्ति की स्थापना के लिये जैनदर्शन में मुख्यतः अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की अवधारणाएँ प्रस्तुत की गईं। वस्तुतः ये तीनों सिद्धान्त बाह्य जीवन में समत्व की संस्थापना में सहायक होते हैं।

पारिवारिक जीवन में विवाद क्यों उत्पन्न होते हैं? उनके मुख्यतः तीन कारण हैं :

१. परिवार के सदस्यों में पारस्परिक असहिष्णुता;
२. परिवार के सदस्यों में वैचारिक मतभेद या जीवन मूल्यों के सन्दर्भ में मतभेद; और
३. परिवार के सदस्यों में स्वार्थबुद्धि या अपने हितों को प्रमुखता देना।

इन तीनों कारणों का निराकरण क्रमशः अहिंसक वृत्ति, अनेकान्तिक चिन्तन और त्याग की भावना से ही सम्भव होता है। परिवार में सहिष्णुता और सौहार्द का जन्म तभी सम्भव है, जब परिवार के सभी सदस्य दूसरों की भावनाओं और विचारों का आदर करना सीखें। जब तक व्यक्ति दूसरे की भावना और विचारों का आदर नहीं करता है, तब तक पारस्परिक असहिष्णुता बनी रहती है। अतः वैचारिक उदारता और समन्वयशीलता आवश्यक होती है। परिवार के इन मतभेदों को अनेकान्त की दृष्टि से सुलझाया जा सकता है। डॉ. सागरमल जैन 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २४८ पर लिखते हैं कि "पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं - पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों के मूल में दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ है, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिन मान्यताओं को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है। जबकि पुत्र की दृष्टि तर्क प्रधान होती है। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित है, तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है।

सास यह अपेक्षा रखती है कि बहू ऐसा जीवन जिये, जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था। जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृपक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना स्वतन्त्र जीवन जिये, जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सब विवादों के मूल में कहीं वैचारिक मतभेदों की प्रधानता रही हुई है। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त हमें यही बताता है कि हमें दूसरों के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने से पूर्व स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा करके सोचना चाहिये।" यदि व्यक्ति दूसरे की स्थिति को समझे बिना अपने विचारों और भावनाओं को दूसरे पर आरोपित करता है, तो उससे संघर्ष का जन्म होता है और वह संघर्ष हमारी मानसिक शान्ति या समत्व को भंग करता है। अतः समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य दूसरों की भावना और विचारों को आदर देकर उनके प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाना है। इसके लिये वैचारिक आग्रहों का परित्याग आवश्यक होता है। अनेकान्तवाद का जीवन दर्शन हमें यही शिक्षा देता है कि हम आग्रहों से ऊपर उठें; दूसरे की परिस्थितियों को समझें और उनको आदर दें। तभी पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों का उपशमन सम्भव हो सकता है। यद्यपि इस वैचारिक अनाग्रह के साथ-साथ पारिवारिक और सामाजिक जीवन में संघर्षों को समाप्त करने के लिये व्यक्ति को त्यागमूलक जीवनदृष्टि अपनानी होगी। जब तक जीवनदृष्टि भोगमूलक और स्वार्थपरक होती है, तब तक परिवार और समाज में संघर्ष बढ़ते हैं। परिवार और समाज का प्रत्येक सदस्य दूसरों के विचारों और भावनाओं को आदर दे; उनके हितों का ध्यान रखे तथा आवश्यक होने पर अपने हितों का त्याग करके उनके हितों का रक्षण करे। जब इस प्रकार की जीवनदृष्टि का विकास होगा, तो पारिवारिक, सामाजिक जीवन से संघर्ष समाप्त होंगे और समत्व की स्थापना होगी। समत्वयोग की साधना का मूलभूत प्रयोजन यही है कि पारिवारिक और सामाजिक जीवन से संघर्ष समाप्त हो और सभी मिलजुल कर पारिवारिक एवं सामाजिक कल्याण के लिये तत्पर बनें। इस प्रकार

अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति के माध्यम से पारिवारिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

४.७ आर्थिक वैषम्य के कारण और अपरिग्रह द्वारा उनका निराकरण

मनुष्य का जीवन बहुआयामी है। उसमें आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि विविध पक्ष हैं। भारतीय दर्शनों में इन विविध पक्षों से सम्बन्धित चार पुरुषार्थ माने गये हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द के निम्न दो अर्थ प्राप्त होते हैं[३८] :

१. पुरुष का प्रयोजन; और २. पुरुष के लिये करणीय कार्य।

१. धर्म : जिससे समत्व या समता की साधना हो, उस समत्व की साधना से 'स्व' और 'पर' कल्याण होता हो तथा व्यक्ति समतामय आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता हो, वह धर्म पुरुषार्थ है।

२. अर्थ : मानव को जीवन यात्रा के निर्वाह हेतु खाने के लिये भोजन, पहनने को वस्त्र एवं रहने के लिये आवास आदि की आवश्यकता होती है। अतः जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु साधन जुटाना अर्थ पुरुषार्थ है, किन्तु जरूरत से ज्यादा इकट्ठा करना संग्रहवृत्ति है।

३. काम : जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जुटाये गये साधनों का उपभोग करना काम पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में ऐन्द्रिक विषयों की पूर्ति हेतु किया जाने वाला पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ है। जहाँ अर्थ पुरुषार्थ में दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की उपलब्धि प्रमुख रहती है, वहीं काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत् मन एवं इन्द्रियों की मांग की पूर्ति के प्रयास की प्रमुखता रहती है।

४. मोक्ष : दुःखों के कारणों को जानकर उनके निराकरण हेतु किया गया पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ है। क्रोध, मान, माया,

---

[३८] योगशास्त्र १/१५।

लोभ, इच्छा, आकांक्षा, राग-द्वेष आदि से विरक्त होकर ऊपर उठने की भावना मोक्ष है।

जैनदर्शन के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य जीवन में प्रयोजनभूत पुरुषार्थ तो दो ही हैं - धर्म एवं मोक्ष। इनमें मोक्ष साध्य है और धर्म साधन है। व्यवहारिक या लौकिक दृष्टि से मनुष्य जीवन के दो पुरुषार्थ हैं - अर्थ और काम। इनमें भी अर्थ तो साधन पुरुषार्थ है और काम ऐन्द्रिय जीवन के विषयों की सन्तुष्टिरूप साध्य पुरुषार्थ है। जब अर्थ पुरुषार्थ के साथ संग्रहवृत्ति का विकास होता है, तो आर्थिक वैषम्य का जन्म होता है। इस आर्थिक वैषम्य का निराकरण अपरिग्रह की साधना से ही सम्भव है। परिग्रह का विसर्जन ही जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। जैन धर्म में अर्थ को न तो अति महत्त्व दिया गया है और न उसकी पूर्णतः उपेक्षा की गई है। एक ओर उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि धन से मोक्ष नहीं मिलता है।[३९] परन्तु दूसरी ओर जैन धर्म में श्रमण धर्म के साथ-साथ जो श्रावक धर्म की भी व्यवस्था है, उसके लिये तो अर्थ पुरुषार्थ आवश्यक है। जैन विचारकों का मानना है कि आर्थिक वैषम्य का कारण धन का अर्जन नहीं है, अपितु धन का संग्रह है। विषमताएँ सर्जन से नहीं संग्रह से उत्पन्न होती हैं।

पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना के लिए समत्वयोग की आवश्यकता है। आर्थिक समानता के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

जैन धर्म में अपरिग्रहवाद के साथ-साथ परिग्रह परिमाण का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया गया है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि सामाजिक जीवन में धन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। जैन धर्म में आध्यात्मिक चर्चा के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में अर्थ के विषय में भी कुछ उल्लेख उपलब्ध होते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग से ज्ञात होता है कि श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अर्थशास्त्र का ज्ञाता था।[४०] प्रश्नव्याकरणसूत्र में 'अत्थसत्थ'

---

[३९] उत्तराध्ययनसूत्र ४/५ ।

[४०] ज्ञाताधर्मकथा १/१६ । -अंगसुत्ताणि (लाडनूं) खण्ड ३ पृ. ४ ।

(अर्थशास्त्र) का उल्लेख है। उस समय अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखे जाते थे।[४१] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से यह सूचित होता है कि भरत का सेनापति सुषेण अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में चतुर था।[४२]

आदिपुराण में कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत-चक्रवर्ती के लिये अर्थशास्त्र का निर्माण किया था।[४३] नन्दीसूत्र में भी कहा गया है कि विनय से प्राप्त बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य अर्थशास्त्र तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में दक्ष हो जाते हैं।[४४]

अर्थ के उपार्जन के मुख्य दो कारण होते हैं - इच्छा और आवश्यकता। जैनदर्शन में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उपार्जित किये जाने वाले अर्थ का निषेध नहीं किया गया है। किन्तु संग्रहबुद्धि से धन के उपार्जन को अनुचित माना गया है। क्योंकि संग्रहबुद्धि से धन का उपार्जन आर्थिक विषमताओं को जन्म देता है।

आर्थिक वैषम्य का तात्पर्य व्यक्ति के द्वारा भौतिक पदार्थों की उपलब्धि से उत्पन्न विषमता है। इसका मूल कारण व्यक्ति की संग्रहवृत्ति है। चेतना जब भौतिक जगत् से सम्बन्धित होती है, तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने जीवन के लिये आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है, तो संग्रह की लालसा बढ़ जाती है। इसी से सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता का उद्भव होता है। एक ओर संग्रह बढ़ता है, तो दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है। परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। आर्थिक विषमता आज के युग की ज्वलन्त समस्या है। इस समस्या का मूल कारण मानव की संग्रह या संचय की प्रवृत्ति है। अतः आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है। जैनदर्शन अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य का निराकरण करने का प्रयास करता है। उपाध्याय अमरमुनि ने कहा है कि "गरीबी स्वयं कोई समस्या नहीं, किन्तु अमीरी ने उसे समस्या बना दिया है। गड्ढा स्वयं में कोई चीज नहीं, किन्तु पहाड़ों

---

४१ प्रश्नव्याकरणसूत्र १/५ । -अंगसुत्ताणि (लाडनूं) खण्ड २ पृ. ३८०) ।
४२ जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति ३/७७ । -उवंगसुत्ताणि (लाडनूं) खण्ड ४२६ ।
४३ आदिपुराण १६/११६ । -उद्धृत् 'प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन' पृ. ६ ।
४४ नन्दीसूत्र ३८/६ । -नवसुत्ताणि (लाडनू) पृ. २५६ ।

की असीम ऊचाईयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे। सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हो जायेगी।"[४५] परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त हो सकता है। जब तक संग्रहवृत्ति समाप्त नहीं होती है, तब तक आर्थिक समानता नहीं आ सकती। साथ ही संग्रहवृत्ति के कारण व्यक्ति समत्व की साधना में भी जुड़ नहीं पाता है, क्योंकि आज के मानव को पेट से अधिक पेटी की चिन्ता है। संग्रहवृत्ति के कारण मनुष्य में असन्तोष बना रहता है और असन्तोष की उपस्थिति में समत्व की साधना सम्भव नहीं है। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। आर्थिक विषमता का निराकरण करने में अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना पर्याप्त रूप से सहायक हो सकती है। हमें एक ओर व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करनी होगी, तो दूसरी ओर अपनी तृष्णा अथवा संग्रहवृत्ति का त्याग करना होगा। तृष्णा या संग्रहवृत्ति को नियन्त्रित करना ही समत्वयोग की साधना है।

आधुनिक भौतिकवादी संस्कृति यह मानती है कि अर्थ ही हमारी सुख शान्ति का आधार है। वही दुःख विमुक्ति का अमोघ उपाय है। किन्तु धन के संग्रह से दुःख समाप्त नहीं होते हैं, अपितु वृद्धिगत ही होते हैं। तृष्णा या संग्रहवृत्ति जितनी अधिक होगी, उतनी ही अशान्ति बढ़ेगी, तनाव बढ़ेंगे। अतः जैनदर्शन में गृहस्थ जीवन के लिये परिग्रह के सीमांकन का जो विधान किया गया है, वह आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन है। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सर्जन कर सकता है। साम्यवाद सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं कर सकता। मनुष्य में स्वतः ही त्यागवृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से सम्पत्ति-विसर्जन की दिशा में आगे बढ़े, तब ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में सच्चे समत्व का सृजन हो सकता है। भारतीय परम्परा और विशेषकर जैन परम्परा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है, वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है।

---

[४५] 'जैन प्रकाश' ८ अप्रेल, १९६९ पृ. ११।

जो कुछ हमारे पास है, उसका समविभाजन आवश्यक है। जैनदर्शन में आर्थिक विषमता के निराकरण के लिये समवितरण को भी प्रतिपादित किया है। वर्तमान युग में समाज के आर्थिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की जो बुराईयाँ पनप रही हैं उनके मूल में या तो व्यक्ति की संग्रह इच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है, जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु हैं। यह बीमारी आवश्यकताओं के कारण नहीं, वरन् तृष्णा से उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं की पूर्ति पदार्थों को उपलब्ध करके ही की जा सकती है। उनकी एक सीमा होती है। लेकिन तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा सम्भव नही है; क्योंकि उसकी कोई सीमा नहीं है। तृष्णाजनित विकृतियाँ केवल अनासक्ति से ही दूर हो सकती हैं। वर्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह नहीं है कि हमारे पास साधनों का अभाव है। कठिनाई यही है कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन जी नहीं सकता है।

समत्वयोग की साधना के साथ वैयक्तिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में सुख और शान्ति की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि जब तक परिवार एवं समाज अर्थात् व्यक्ति के बाह्य परिवेश में शान्ति नहीं होगी, तब तक व्यक्ति को चैतसिक शान्ति भी उपलब्ध नहीं होगी; क्योंकि परिवेश की घटनाएँ उसके चित्त को उद्वेलित करती रहेंगी। अतः समत्वयोग की साधना के लिये परिवेश, परिवार या समाज में शान्ति की स्थापना आवश्यक है। किन्तु आज व्यक्ति के जीवन में इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और तृष्णाएँ इतनी बढ़ गई हैं कि उसके कारण व्यक्ति के जीवन की शान्ति तो भंग हो रही है, साथ ही परिवार एवं समाज में भी तनाव उत्पन्न हो रहे हैं। इसका मूल कारण तृष्णा है। वस्तुतः तृष्णा का ही दूसरा नाम लोभ है और लोभ से संग्रहवृत्ति का उदय होता है। दशवैकालिकसूत्र में लोभ समस्त सद्गुणों का विनाशक माना गया है।[४६] जैन विचारधारा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी दुष्पूर खाई है, जिसका कभी अन्त नहीं आता; क्योंकि धन चाहे कितना भी हो

---

४६ 'कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो ।
माया मित्ताणि णासेइ, लोभो सव्वविणासणो ।। ३८ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ८ ।

वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम) है। अतः सीमित साधनों से असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।[४७] ज्ञानार्णव में भी बताया है कि जैसे जैसे इच्छानुसार संकल्पित भोगों की प्राप्ति होती है, वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समस्त लोकपर्यन्त विस्तृत हो जाती है।[४८]

'न जातुकाय-कामना युपभोगेन शाप्यति।
हविष्य कृष्णावर्त्मेय भूय एव अभिवर्धते।। -मनुस्मृति।

वस्तुतः तृष्णा के कारण संग्रहवृत्ति का उदय होता है। यह संग्रहवृत्ति ममत्व बुद्धि के रूप में बदल जाती है और यह ममत्व बुद्धि या मेरेपन का भाव परिग्रह का मूल है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार ममत्व बुद्धि, आसक्ति या मूर्च्छा ही वास्तविक परिग्रह है।[४९]

परिग्रह का तात्पर्य संग्रह की प्रवृत्ति है। व्यक्ति धन सम्पदा या उपभोग के अधिकाधिक साधनों को अपने अधिकार में रखना चाहता है। अतः संग्रहवृत्ति के परिणामस्वरूप एक ओर धन और सम्पत्ति का विपुल अम्बार खड़ा होता है और दूसरी ओर उसका अभाव होता है। एक ओर सम्पत्ति के पहाड़ और दूसरी ओर अभाव के गड्ढे एक असन्तुलन को जन्म देते हैं। समाज में धनी और निर्धन का भेद खड़ा हो जाता है और इस वर्ग भेद के परिणामस्वरूप समाज में संघर्ष का जन्म होता है। समाज में आज जो वर्ग-संघर्ष देखा जाता है, उसके मूल में कहीं न कहीं कुछ मनुष्यों की संग्रहवृत्ति ही प्रमुख है। एक व्यक्ति के पास सुख सुविधा के अनेक साधन और दूसरी ओर एक व्यक्ति को अपनी जैविक आवश्यकता की पूर्ति के अभाव में मृत्यु के अभिमुख होने की स्थिति सामाजिक सन्तुलन को भंग कर देती है।[५०] उसके

---

४७ 'सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।।४८।।'-उत्तराध्ययनसूत्र ६।

४८ 'अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां, तृष्णा विश्वं विसर्पति ।। ३० ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २०।

४९ 'ण सो परिग्रहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इह वुत्तं महेसिणा ।। २१ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ६।

५० 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. २३५-३६। -डॉ. सागरमल जैन।

परिणामस्वरूप एक ओर निर्धनों में धनिकों के प्रति द्वेष या घृणा के भाव का जन्म होता है, तो दूसरी ओर सम्पत्तिशालियों में स्पर्धा की भावना जन्म लेती है। कालान्तर में यही स्पर्धा ईर्ष्या में बदल जाती है। फलतः सामाजिक जीवन में ईर्ष्या और विद्वेष के तत्त्व हावी हो जाते हैं। उनके परिणामस्वरूप समाज में जहाँ एक ओर छीना-झपटी या शोषण की प्रवृत्ति का विकास होता है, वहीं दूसरी ओर एक दूसरे के विकास में अवरोध डालने के प्रयत्न भी होते हैं।

इसी प्रकार सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों में भी संघर्ष प्रारम्भ हो जाते हैं। सम्पत्तिशाली समाज कमजोर वर्ग पर तथा सम्पत्तिशाली राष्ट्र निर्धन राष्ट्र पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार संग्रहवृत्ति के परिणामस्वरूप वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होती है। इस स्थिति में सामाजिक समत्व की स्थापना सम्भव नहीं होती। अतः समत्वयोग की साधना के लिये व्यक्ति को कहीं न कहीं अपनी संग्रहवृत्ति पर अंकुश लगाना होगा। समत्वयोग की साधना वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपनी संग्रहवृत्ति या लोभ की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाता। यही कारण है कि जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के लिये परिग्रह परिमाण या अपरिग्रह महाव्रत की साधना को आवश्यक माना गया है। जैनदर्शन का कहना है कि हमें सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं को मर्यादित करना और परिग्रह का परिसीमन करना होगा।

आज व्यक्ति आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को नहीं समझ पा रहा है। आज विश्व में आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों का अभाव नहीं है। अभी विश्व में इतने संसाधन हैं कि वे मानव समाज की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। कहा गया है कि जिसकी तृष्णा समाप्त नहीं होती, उसका मोह भी समाप्त नहीं होता एवं उसके दुःख भी समाप्त नहीं होते।[५१] आसक्ति का दूसरा भाग लोभ है और लोभ समग्र सद्गुणों का विनाशक है।[५२] जैन विचारणा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी खाई है,

---

[५१] 'दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ।। ८ ।।'-उत्तराध्ययनसूत्र ३२ ।

[५२] दशवैकालिकसूत्र ८/३८ ।

जिसका कभी अन्त नहीं आता। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि सोने और चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जायें, तो भी इस दुष्पूर्य तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा अनन्त है। अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।[५३] किन्तु जब तक तृष्णा शान्त नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति भी नहीं होती। सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रखता है, तब तक दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।[५४] जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तृष्णा या आसक्ति दुःख का पर्यायवाची ही बन गई है। यह तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह (संग्रहवृत्ति) का मूल कारण है। आसक्ति ही परिग्रह है।[५५] जैन आचार्यों ने जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसके मूल में यही अनासक्तिप्रधान दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है – मन की ही वृत्ति है, किन्तु उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है और वह बाह्य में ही प्रकट होती है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिये व्यवहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है। गृहस्थ जीवन में परिग्रह मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश है। दिगम्बर जैन मुनि का आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन अनासक्त दृष्टि का सजीव प्रमाण है। हम देखते हैं कि राष्ट्रों एवं वर्गों की संग्रह एवं शोषण वृत्ति ने मानव जाति को कितने दुःखों एवं कष्टों में डाला है। जैन आचारदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैन विचारधारा में यह स्पष्ट कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता, उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी ही है।[५६] समविभाग और समवितरण सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य अंग है। इसके बिना आध्यात्मिक

---

५३ उत्तराध्ययनसूत्र ६/४८।
५४ सूत्रकृतांग १/१/२।
५५ दशवैकालिकसूत्र ६/२१।
५६ प्रश्नव्याकरणसूत्र २/३।

उपलब्धि सम्भव नहीं है। अतः जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से अनासक्ति को अनिवार्य माना है।

४.८ मानसिक वैषम्य के निराकरण का उपाय : अनासक्ति

समत्वयोग की साधना में सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष चैतसिक समत्व का है। आज हम यह देखते हैं कि विश्व में चैतसिक असन्तुलन भी सबसे अधिक पाया जाता है। अमेरिका जैसे सर्वसुविधा सम्पन्न राष्ट्र की मनोवैज्ञानिक सूचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि वह राष्ट्र मानसिक असन्तुलन से सर्वाधिक ग्रस्त है। वस्तुतः चैतसिक असन्तुलन का कारण कहीं न कहीं मनुष्य की आकांक्षाओं और इच्छाओं में असन्तुलन ही है। जैन परम्परा में कहा गया है कि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं। इच्छाओं की अनन्तता और उनकी पूर्ति के साधनों के सीमित होने के परिणामस्वरूप मानसिक असन्तुलन का जन्म होता है।

विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत् को देखता है।[५७] उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थों से अपना सम्पर्क करता है। इन्द्रियों के बहिर्मुख होने से व्यक्ति की रूचि बाह्य विषयों में होती है। इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों में पुनः पुनः प्रवृत्ति होती है। व्यक्ति में उनको बार-बार पाने की कामना जगती है। यह कामना ही चैतसिक असन्तुलन का प्रमुख कारण है। अनुकूल की प्राप्ति की आकांक्षा और प्रतिकूल से बचने के प्रयास के कारण राग-द्वेष का जन्म होता है। राग और द्वेष की उपस्थिति में हमारी चेतना का समत्व भंग हो जाता है।

चित्त की इस असन्तुलन की अवस्था को मानसिक विषमता कहा जाता है। यद्यपि अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति और प्रतिकूल

---

[५७] (क) 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४६५। -डॉ. सागरमल जैन।

(ख) देखें 'गणधरवाद' - वायुभूति से चर्चा।

विषयों से निवृत्ति एक नैसर्गिक तथ्य है। किन्तु इसके साथ इच्छा और आकांक्षा को जोड़ना मानसिक असन्तुलन का कारण बनता है। वस्तुतः जब इन्द्रियों के साथ मन का योग है, तो सुखद अनुभूतियों की पुनः-पुनः प्राप्ति और दुःखद अनुभूतियों से बचने का संकल्प जन्म लेता है। भगवान महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि अनुकूल विषय राग के कारण होते हैं और प्रतिकूल विषय द्वेष के कारण होते हैं।[५८] इन्हीं राग-द्वेष के परिणामस्वरूप क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों का जन्म होता है। जब अनुकूल की प्राप्ति में कोई बाधा उपस्थित होती है, तो उस बाधक तत्त्व या व्यक्ति के प्रति क्रोध का भाव जन्म लेता है।[५९] वांछित विषयों की प्रचुरता व्यक्ति में अहंकार को जन्म देती है और वह अपने को दूसरों से श्रेष्ठ समझने लगता है।

इस प्रकार जब उसमें अहंकार का भाव जागृत हो जाता है, तब वह उस अहंकार की रक्षा के लिये दोहरी जीवन शैली को अपनाता है। उसकी करणी और कथनी में एक अन्तर आ जाता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जिसमें पूजा व प्रतिष्ठा की कामना होती है, वह माया या कपट वृत्ति का सहारा लेता है। दूसरी ओर इन्द्रियों को जो विषय अनुकूल लगते हैं, उनके संग्रह की भावना के रूप में लोभ का जन्म होता है।[६०] इस प्रकार राग-द्वेष और तद्जन्य क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियाँ व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन को भंग कर देती है। साथ ही व्यक्ति की इच्छाएँ अपनी तृप्ति चाहती हैं। इच्छाओं की यह तृप्ति बाह्य साधनों पर निर्भर होती है। बाह्य साधन और बाह्य परिस्थिति सदैव ही इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनुकूल ही हो, यह सम्भव नहीं होता है। बाह्य परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर अतृप्त इच्छा व्यक्ति के मन में एक क्षोभ या तनाव उत्पन्न करती है और इस प्रकार चैतसिक समत्व या आध्यात्मिक शान्ति भंग हो जाती है। मात्र यही नहीं, कभी-कभी व्यक्ति अपनी इच्छाओं और आकाँक्षाओं को

---

५८ उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२३ ।

५९ वही ३२/१०२-१०५ ।

६० 'पूयणट्ठी जसोकामी, माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ।। ३५ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ५/२ ।

समाज के भय से अतृप्त छोड़ देता है। एक ओर सामाजिक आदर्श होते हैं और दूसरी ओर व्यक्ति की अतृप्त आकांक्षाएँ और इच्छाएँ होती हैं। इनके कारण ही व्यक्ति का चैतसिक समत्व भंग हो जाता है। इस प्रकार ऐसे अनेक कारण रहे हुए हैं, जो व्यक्ति में मानसिक विषमताओं और तनावों को जन्म देते हैं। एक ओर वासनाएँ अपनी पूर्ति चाहती हैं और दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जीवन मूल्य उन्हें अनैतिक या अनुचित कहकर नकारते हैं। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर ही वासना और विवेक बल में एक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, जो मानसिक विषमताओं का कारण बनता है। इस प्रकार मानसिक विषमताओं के अनेक कारण रहे हुए हैं। जब तक इन कारणों का निराकरण नहीं किया जाता; तब तक चैतसिक समत्व सम्भव नहीं होता है। समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य यही है कि इस मानसिक विषमता को समाप्त कर एक समतापूर्ण जीवनशैली का विकास किया जाय।

जैनदर्शन का कहना है कि व्यक्तियों की जैविक आवश्यकताओं को लेकर कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। अन्तर है तो उनकी इच्छाओं और आकांक्षाओं को लेकर है। जब तक व्यक्ति की इच्छा और आकाँक्षा पर अंकुश नहीं लगता है; तब तक न तो राष्ट्रीय स्तर पर, न अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति सम्भव होगी। जैन धर्म में श्रावक के जिन व्रतों की विधान है उनमें निम्न तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं :

१. व्यक्ति अपनी इच्छाओं का परिसीमन करे। उनकी मर्यादा निश्चित करे; क्योंकि अनन्त इच्छाओं की पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। यदि इच्छाएँ परिमित होंगी, तो हम उनकी पूर्ति कर पायेंगे और उससे एक सन्तोष और सुख की अनभूति होगी। इसके विपरीत हमारी इच्छाएँ असीम बनी रहीं तो उसके परिणामस्वरूप हमारा चित्त अशान्त रहेगा और उनकी पूर्ति के उपायों के माध्यम से संघर्ष होगा। अतः इच्छाओं के परिसीमन को समत्वयोग की साधना का मुख्य आधार माना गया है।

२. दूसरे व्यक्ति को अपने उपयोग-परिभोग के साधनों को भी सीमित करना होगा। यदि हम उपभोग-परिभोग के साधनों की परिसीमा निर्धारित नहीं करेंगे, तो संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होगी और संग्रह की वृत्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक

असन्तुलन और अशान्ति उत्पन्न होगी। व्यक्ति को अपनी जैविक आवश्यकताओं को समझकर उनकी पूर्ति के लिये उपभोग-परिभोग के साधनों की एक सीमा निर्धारित करनी होगी। जैनदर्शन में गृहस्थ उपासकों के लिये यह स्पष्ट निर्देश है कि वह अपने भोग-उपभोग के साधनों को सीमित करे।

३. समत्वयोग की साधना के लिये हमें संचय वृत्ति से बचना होगा और इस हेतु हमारे उद्योग और व्यवसायों के लिये भी एक सीमा निर्धारित करनी होगी। उन उद्योग और व्यवसायों का परित्याग करना होगा, जिनके परिणामस्वरूप जीवों का विनाश या समाज में असन्तुलन का जन्म होता है। इसके लिये जैनाचार्यों ने एक ओर उन निषिद्ध व्यवसायों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है, जो समत्वयोग के साधक के लिये वर्जित हैं। दूसरी ओर उन्होंने यह भी बताया है कि हमें अपनी व्यवसायिक प्रवृत्तियों के सीमा क्षेत्र का परिसीमन करना होगा। आज जो विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है, वह भी किसी दिन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये खतरा बन सकता है। क्योंकि एक ओर उससे सामान्यजन की बेरोजगारी बढ़ती है, तो दूसरी ओर सम्पत्ति का संग्रह बढ़ता है। इसलिये जैन आचार्यों ने कहा है कि व्यक्ति अपने व्यवसायों की सीमा को भी निर्धारित करे जिससे समाज और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शान्ति बनी रहे।

४.६ समत्वयोग : वीतरागता की साधना

पूर्व में हमने इस तथ्य को विस्तार से स्पष्ट किया है कि समत्व और वीतरागता एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जो समत्व है, वही वीतरागता है और जो वीतरागता है वही समत्व है। अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष न करना यही समत्व की साधना है।[६१] यह साधना वीतरागता के बिना सम्भव नहीं होती। क्योंकि यदि जीवन में राग-द्वेष के तत्त्व उपस्थित हैं, तो अनुकूल संयोगों में राग और प्रतिकूल संयोगों में द्वेष होना सम्भावित है और जब

---

[६१] 'रागद्वेष प्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत् ।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशंकितः ।। १५ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २३ ।

तक अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष है, तब तक समत्व की साधना सम्भव नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि समत्व की साधना ही वीतरागता की साधना है। क्योंकि जीवन में समत्व के आये बिना वीतरागता प्रकट नहीं हो सकती। आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव में लिखते हैं कि "हे आत्मन्, तू अपने समभाव रूपी स्वभाव द्वारा राग-द्वेष से ऊपर उठ; क्योंकि समभाव रूपी अग्नि से ही रागादि रूप भयानक अटवी को दग्ध किया जाता है।" समभाव में स्थित होने के लिये राग-द्वेष से ऊपर उठना आवश्यक माना गया है। राग-द्वेष की उपस्थिति में समभाव की साधना सम्भव नहीं होती है।[६२] इसे स्पष्ट करते हुए शुभचन्द्र कहते हैं कि समभाव रूपी सूर्य की किरणों से रागादि रूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अवलोकन होता है।[६३] इसका अर्थ हुआ कि जब तक जीवन में समत्व का प्रकटन नहीं होता; तब तक रागादि भाव समाप्त नहीं होते। जब तक रागादि भाव समाप्त नहीं होते, तब तक परमात्मस्वरूप उपलब्धि नहीं होती।

जैनदर्शन के अन्दर परमात्मा को वीतराग कहा गया है। आत्मा जब राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतराग अवस्था को प्राप्त करती है; तब वह परमात्मा कही जाती है। अतः वीतराग परमात्मस्वरूप का पर्यायवाची ही है। यह वीतराग दशा समत्व की साधना के बिना प्रकट नहीं होती। समत्व की साधना के लिये वीतरागता और वीतरागता की साधना के लिए समत्व आवश्यक है। समत्वयोग का साधक वीतरागता का उपासक और वीतरागता का ही साधक होता है।

जैनदर्शन में आत्मा का शुद्ध स्वरूप समत्व कहा गया है और इस शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिये जीवन में वीतरागता का आना आवश्यक है। जैन धर्म में साधना के जो विविध रूप हैं उन सबका लक्ष्य कषायों को उपशान्त करना या क्षीण करना है। कषाएँ राग-द्वेष जन्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि राग से

---

६२ 'रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ।। ६ ।।' -वही सर्ग २४ ।

६३ 'साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ।। ५ ।।' -वही ।

आसक्त आत्मा ही कर्मबन्ध करती है और अनासक्त आत्मा मुक्त हो जाती है।[६४] अतः कषायों को क्षीण करने के लिये राग-द्वेष को क्षीण करना आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राग और द्वेष - ये कर्म के बीज हैं। कर्म के इन बीजों को समाप्त करने के लिये राग-द्वेष को समाप्त करना आवश्यक है।[६५] जब राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं; तब जीवन में समत्व का प्रकटन होता है और जब जीवन में समत्व का प्रगटन होता है; तब वीतराग स्थिति बनती है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समत्व की साधना वीतरागता की साधना है। आचार्य शुभचन्द्र ने यहाँ तक कहा है कि जो समत्व की भूमिका पर आरूढ़ है वह अपने समस्त कर्मों को निमिष मात्र में क्षय कर देता है।[६६] कर्मों का क्षय हो जाना ही वीतरागता की उपलब्धि है। अतः वीतरागता की उपलब्धि समत्व के बिना नहीं होती और समत्व की उपलब्धि वीतरागता के बिना सम्भव नहीं है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि समत्व की साधना वीतरागता की साधना है और इसी साधना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

४.१० समत्व और मोक्ष

जैनदर्शन के अनुसार समत्व और मोक्ष एक दूसरे के पर्यायवाची ही कहे जाते हैं। जैनदर्शन में मोक्ष को परम पुरुषार्थ या जीव का चरम साध्य माना गया है। भगवतीसूत्र में आत्मा के प्रयोजन या अन्तिम लक्ष्य के सन्दर्भ में गणधर गौतम के द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान महावीर ने कहा था कि आत्मा का मुख्य प्रयोजन समत्व की उपलब्धि ही है। जैनदर्शन में मोक्ष की एक व्याख्या स्वरूप-उपलब्धि के रूप में की जाती है। इस व्याख्या के अनुसार आत्मा का अपने स्वस्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष है।

---

६४ समयसार १५७।

६५ 'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति ।। ७ ।।
-उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३२।

६६ 'साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ।। १२ ।।' -ज्ञानार्णव, सर्ग २४।

मोक्ष आत्मपूर्णता की अवस्था है और यह आत्मपूर्णता तभी उपलब्ध होती है, जब आत्मा राग-द्वेष रूप विभाव पर्यायों से ऊपर उठकर समत्व रूप स्वभाव पर्याय में अवस्थित रहे। जैसा कि हमने पूर्व में देखा है, समत्व को आत्मा का स्वभाव कहा गया है और राग-द्वेष कषाय आदि आत्मा की विभावदशा है। विभावदशा को समाप्त करके शाश्वत् रूप से स्वभावदशा में रहना ही मोक्ष कहा गया है।[६७] इसी सन्दर्भ में आनन्दघनजी ने कहा है कि 'एक ठानेकिम रहै, दूध कांजी थोक', जैसे दूध और कांजी का समूह एक स्थान पर नहीं रह सकता है, ठीक वैसे ही स्वभाव और विभाव रूप विपरीत आत्मा एक स्थान पर नहीं रह सकती।[६८] आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मोह और क्षोभ से रहित समत्वपूर्ण अवस्था को ही मोक्ष कहा जाता है, तो समत्व और मोक्ष एक दूसरे के पर्यायवाची ही सिद्ध होते हैं। समत्व एक ओर मोक्ष का साधन है, तो दूसरी ओर वह आत्मा मोक्ष ही है। क्योंकि जैनदर्शन में साधक, साध्य और साधना में तादात्म्य माना गया है। इस सम्बन्ध की विशेष चर्चा हम इस शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। समत्व एक ओर आत्मा का साध्य है, तो दूसरी ओर आत्मा का स्वभाव लक्षण होने के कारण साधक भी है। साथ ही साधक के कारण साध्य को प्राप्त करने का जो प्रयास है, उसे सामान्य अर्थ में साधना कहते हैं। वह भी सामायिक या समत्व ही है। जैन दार्शनिकों ने यह माना है कि आत्मा की वीतराग या समत्वपूर्ण अवस्था ही मोक्ष है। मोक्ष ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो हमारे स्वभाव में अनुपस्थित थी। उसे तो जैनाचार्यों ने स्वरूपोलब्धि कहा है। यदि आत्मा का स्वरूप समत्व है, तो मोक्ष समत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष या मुक्ति की अनिवार्य शर्त वीतरागता की उपलब्धि है और वीतरागता तथा समत्व एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। राग-द्वेष यह आत्मा की विभाव दशा है। राग-द्वेष से ऊपर उठना अर्थात् विभाव से स्वभाव की ओर जाना यह साधना है और राग-द्वेष की समाप्ति यह साध्य है। इस प्रकार वीतरागता ही साध्य है और जो

---

६७ भगवतीसूत्र १/६/२२८।

६८ आनन्दघन ग्रन्थावली पद ५०।

वीतरागता है, वही समत्व है और जो समत्व है वही मोक्ष है।

व्यवहारिक रूप से देखें तो आत्मा की अज्ञानपूर्ण या मोह अवस्था के कारण उसमें अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी राग-द्वेष के आधार पर क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का जन्म होता है। कषायों की उपस्थिति से आत्मा में आवेश या विक्षोभ जन्म लेते हैं। आवेगों और विक्षोभों के परिणामस्वरूप चेतना का समत्व भंग होता है। आत्मा का आवेगों या विक्षोभों से युक्त होना, यही उसकी विभावदशा है। इस विभावदशा को समाप्त करने के लिये ही साधना की जाती है। समत्वयोग की साधना के द्वारा व्यक्ति इन विक्षोभों और आवेगों के ऊपर विजय प्राप्त करता है। विक्षोभों और आवेगों के ऊपर विजय प्राप्त होने पर वीतरागता की उपलब्धि होती है और यही वीतरागता मुक्त आत्मा का स्वरूप कही जाती है। वीतरागता की उपलब्धि होने पर आत्मा समत्व या स्वभाव में अवस्थित होती है और अपने समत्वरूप स्वभाव में अवस्थित होने को ही मोक्ष कहा गया है। इस प्रकार समत्व और मोक्ष एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। समत्व ही मोक्ष है और मोक्ष ही समत्व है। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की जो अवस्था है, वही मोक्ष है।[६६] समत्व की साधना ही मोक्ष का अन्तिम कारण है। इसीलिये आचार्य हरिभद्र ने कहा था कि जो समत्व की साधना करेगा, वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा।

४.११ समत्व की साधना और बारह भावनाएँ एवं चार अनुप्रेक्षाएँ

समत्वयोग की साधना के लिये अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैनदर्शन में अनित्यता, अशरण आदि बारह भावनाएँ मानी गई हैं। इन भावनाओं का चिन्तन करने से व्यक्ति की आसक्ति या रागभाव समाप्त होता है। भावना मन का वह भावात्मक पहलू है, जो साधक को उसकी वस्तुस्थिति का बोध

---

६६ प्रवचनसार १/५।

कराता है। हम यह जानते हैं कि हमारी विषमता या विभाव का कारण राग-द्वेष की वृत्तियाँ है। इनमें भी राग ही मुख्य कारण होता है। राग के निमित्त से ही द्वेष का जन्म होता है। जब तक राग का प्रहाण नहीं होता है, तब तक जीवन में समभाव का प्रकटीकरण ही नहीं होता है। समत्वयोग की साधना का मुख्य प्रयोजन तो राग को समाप्त करना ही है।

जब व्यक्ति सांसारिक पदार्थों की अनित्यता अथवा अपनी अशरणता या असहायता का चिन्तन करता है, तब उसकी आसक्ति या रागभाव टूटता है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने समभाव की साधना के लिये अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं को आवश्यक माना। भावनाओं के चिन्तन को भावनायोग कहा जाता है, जो समत्वयोग का ही पर्यायवाची है। भावनाविहीन धर्म शून्य है। वास्तव में भावना ही परमार्थ स्वरूप है। भाव ही धर्म का साधक कहा गया है और तीर्थंकरों ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूल मंत्र बताया है।[७०] कोई भी पुरुष कितना ही दान करे, भूमि पर शयन करे, दीर्घकाल तक मुनि धर्म का पालन करे, लेकिन यदि उसके मानस में भावनाओं की उद्‌भावना नहीं होती, तो उसकी समस्त क्रियाएँ उसी प्रकार निष्फल होती हैं, जिस प्रकार से धान्य के छिलके को बोना निष्फल है।[७१]

आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में कहते हैं कि चाहे व्यक्ति श्रमण हो अथवा गृहस्थ, भाव ही उसके विकास में कारणभूत है। भाव रहित अध्ययन और श्रवण से क्या लाभ?[७२]

जैन परम्परा में बारह भावनाओं को साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा में वारस्सानुवेक्खा तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक दो स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्मित हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में बारह भावनाओं का एक साथ उल्लेख मरणसमाधि ग्रन्थ में मिलता है।[७३]

भावना का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'भाव्यतेऽनेन भावना' अर्थात्

---

[७०] प्राकृतसुक्तिसरोज भावनाधिकार ३, १६ ।

[७१] सुक्ति संग्रह ४१ ।

[७२] भावपाहुड ६६ ।

[७३] मरणसमाधि गाथा ५७२-७३ पत्र १३५ ।

जिसके द्वारा मन को भावित या संस्कारित किया जाय, वह भावना है। पार्श्वनाथ चारित्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिन चेष्टाओं के द्वारा मानसिक विचारों या भावनाओं को भावित या वासित किया जाता है; उन्हें भावना कहते हैं।[७४] यथार्थ तत्त्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन अनुप्रेक्षा है।[७५] तत्त्वार्थसूत्र में भी बारह अनुप्रेक्षाओं का निर्देश मिलता है।[७६] सूत्रकृतांग में कहा गया है कि भावना के वेग से आत्मा इस संसार सागर से पार हो जाती है और सर्वदुःखों का अन्त हो जाता है।[७७]

बारह भावनाओं के चिन्तन करने से क्या लाभ होता है इसका निर्देश करते हुए शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं कि इन बारह भावनाओं के अभ्यास से जीवों की कषायरूपी अग्नि शान्त होती है, राग गलता है, अन्धकार विलीन होता है और हृदय में ज्ञान रूपी दीपक विकसित हो जाता है।[७८]

जिस प्रकार हवा लगने से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार इन बारह भावनाओं के चिन्तन से समतारूपी सुख जाग्रत हो जाता है और उस शाश्वत् सुख से जीव मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के लिये निम्न बारह भावनाओं का चिन्तन साधक के लिये आवश्यक माना गया है :

१. अनित्य;	२. अशरण;	३. संसार;	४. एकत्व;
५. अन्यत्व;	६. अशुचि;	७. आस्रव;	८. संवर;
९. निर्जरा;	१०. लोक;	११. धर्म; और	१२. बोधिदुर्लभ।

आगे हम इन पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

इनमें छः भावनाएँ मुख्य रूप से वैराग्योत्पादक हैं और छः भावनाएँ तत्त्वपरक हैं। इन बारह भावनाओं के नामों का अर्थ इस प्रकार है :

---

७४ पारसणाहचरियं पृष्ठ ४६०।

७५ भावनायोग पृष्ठ ३१।

७६ 'अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥' -तत्त्वार्थसूत्र ७।

७७ सूत्रकृतांग १/१५/५।

७८ 'विध्याति कषायाग्निर्विगलितरागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥ २ ॥'
-ज्ञानार्णव (द्वादशभावना अधोपसंहार) सर्ग २।

अध्रुव को अनित्य, जहाँ कोई शरण नहीं – उसे अशरण, भवभ्रमण को संसार, जहाँ कोई दूसरा नहीं उसे एकत्व, जहाँ सबसे भिन्नता उसे अन्यत्व, मलिनता को अशुचि, कर्मों के झरने को निर्जरा, जिसमें छः द्रव्य पाये जाएँ वह लोक, संसार से उद्धार करे उसे धर्म और अति कठिनता से प्राप्त हो उसे बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं।

जहाँ तक समत्वयोग की साधना का प्रश्न है, उसमें इन बारह भावनाओं के चिन्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन बारह भावनाओं के चिन्तन से समत्वयोग की साधना निर्मल बनती है। व्यक्ति की आसक्ति टूटती है। रागात्मकता समाप्त होती है। अतः समत्व की साधना फलवती होती है।

१. अनित्य भावना

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही नित्यानित्यात्मक है। नित्यानित्यात्मक वस्तु का असंयोगी द्रव्यांश नित्य एवं संयोगी पर्यायांश अनित्य अंश होता है। अनित्य भावना में संयोगी पर्यायांश के सम्बन्ध में ही चिन्तन किया जाता है कि "मैं द्रव्य रूप से नित्य जीवद्रव्य हूँ। उत्पन्न होना तथा समाप्त होना, यह पर्याय का स्वभाव है, इसमें हर्ष और विषाद कैसा? यह शरीर जीव और पुद्गल की संयोग जनित पर्याय है। धन धान्यादिक पुद्गल परमाणुओं की स्कन्ध पर्याय हैं। इनमें संयोग और वियोग नियम से निश्चित है। फिर भी अनादिकाल से इस आत्मा ने परपदार्थों और पर्यायों में ही एकत्व स्थापित कर रखा है। ममत्व कर रखा है। उन्हीं को सर्वस्व मान रखा है। उन्हीं पर दृष्टि केन्द्रित कर रखी है। उन परिणामों के कारण जीव अनन्त दुःख सह रहा है। क्योंकि उसका चित्त उद्वेलित बना हुआ है और पुरुषार्थ भी उल्टी दिशा में गति कर रहा है।

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि हे मूढ़ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इस संसार में जो वस्तुओं का समूह है, वे पर्यायें क्षण-क्षण में नाश होने वाली हैं। इसका तुझे ज्ञान होते हुए भी अजान बन रहा है, यह तेरा कैसा आग्रह है?[७६] यह

---

[७६] 'वस्तु जातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौषधः ।। १४ ।। -ज्ञानार्णव सर्ग २ ।

सम्पूर्ण स्थिति संयोगों व पर्यायों के परिणमनशील स्वभाव का सम्यग्ज्ञान श्रद्धान न होने से बनती है। अतः इस अनित्य भावना में संयोगों व पर्यायों की अनित्यता/क्षणभंगुरता का चिन्तन किया जाता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य कल्प-पण्डित टोडरमलजी का भी कथन है कि व्यक्ति स्वयं जैसा होता है, उसी अनुरूप पदार्थों को परिणमित करना चाहता है, किन्तु कोई किसी को परिणमित करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार कोई मोहित व्यक्ति मुर्दे को जीवित करना चाहे, तो क्या सम्भव हो सकता हैं? उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित करना चाहे, तो ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है।[८०] मिथ्यादृष्टि अज्ञानजन्य आकुलता-व्याकुलता करते हैं। यही मिथ्यादृष्टि व्यक्ति को दुःखी करने में निमित्त बनता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों या समत्वयोगियों को आकुलता-व्याकुलता नहीं होती। वे चित्त को सन्तुलित बनाये रखते हैं। उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि यह संसार परिवर्तनशील है। जो आता है उसे निश्चित एक दिन यहाँ से जाना पड़ता है। स्थिरता नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं। सब कुछ अनित्य है। यह आकुलता-व्याकुलता रागजन्य है। इसी कारण अस्थिरता/क्षणभंगुरता का चिन्तन निरन्तर करना आवश्यक है। ज्ञानी-अज्ञानी, संयमी-असंयमी सभी के लिये इस अनित्य भावना का चिन्तन उपयोगी है।

प्रशमरतिसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने बताया है कि "हे जीव! तू इष्टजन, संयोग, ऋद्धि, विषयसुख, सम्पत्ति, आरोग्य, देह, यौवन और जीवन - इन आठों तत्त्वों के प्रति अनित्यता का चिन्तन कर, जिससे तू राग-द्वेष से ऊपर उठ पायेगा।"[८१]

मनुष्य के शरीर में एक भी रोम ऐसा नहीं है, जिसके मूल में रोग की सत्ता न हो। एक-एक रोम में पौने दो रोगों का अस्तित्त्व बतालाया गया है। रोगों के उपद्रव और आयु की क्षीणता - इन दो कारणों से यह शरीर अनित्य, नश्वर और क्षणभंगुर है।

---

८० 'बारहभावना एक अनुशीलन' पृ. २६।

८१ 'इष्टजन-संप्रयोगर्द्धि-विषयसुख-सम्पदस्तथाऽऽरोग्यम्।
देहश्च यौवनं जीवितं च सर्वाण्य नित्यानि ।। १५१ ।।' -प्रशमरतिसूत्र।

हे भद्र! तू क्यों इस नश्वर शरीर पर मोहित होता है; क्योंकि शरीर विनाशशील है ('प्रतिक्षणं शीर्यते इति शरीरं')। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी बताया गया है कि ऐसे शरीर में स्थिर मानना बहुत बड़ी भूल है।[८२] ज्ञानार्णव में बताया है : "हे प्राणी! यह शरीर तूने अनन्त बार धारण किया है और छोड़ा भी है। फिर भी इस पर क्यों मोहित हो रहा है।"[८३] प्राणी की आसक्ति का घनीभूत आश्रय शरीर है। वह शरीर को स्वस्थ एवं चिरंजीवी रखने का हर समय प्रयास करता है। उसे अच्छे से अच्छा खिलाता है, पिलाता है। इसको हृष्ट-पुष्ट बनाता है, इसे सजाता है। फिर भी यह शरीर अन्त समय में धोखा देकर जाने वाला है। यह शरीर अनित्य है, अस्थायी है। अज्ञान के कारण व्यक्ति शरीर की अपेक्षा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व देता है। उससे अधिक प्रीति रखता है। किन्तु हे मानव! यह लक्ष्मी हवा से काँपने वाली दीपक की लौ की तरह अस्थिर और नष्ट होने वाली है। इसकी प्राप्ति भी पुण्य के अधीन है। इस लक्ष्मी का वियोग अवश्यम्भावी है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लक्ष्मी को पानी की लहर के समान चंचल बताया है। यह रहने वाली नहीं है। जैसे बताया गया है कि जिस पुरुष ने लक्ष्मी को पा करके केवल संचय ही किया, दान तथा भोग में खर्च नहीं किया, उसने मनुष्य जीवन पाकर भी निष्फल किया। केवल अपनी आत्मा को ठगने का कार्य किया।[८४]

मनुष्य प्राप्त हुई लक्ष्मी का अभिमान करता है, लक्ष्मी की सत्ता से दूसरों को दबाता है, सताता है। अप्राप्त लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये इधर-उधर भटकता फिरता है और अनर्थ कार्य करता है तथा पाप प्रवाह में बह जाता है। ऐसा मनुष्य धन-लोलुपी साबित होता है। वह लक्ष्मी के मद या लोभ में अपनी बुद्धि को खो बैठता है। हे मूढ़! लक्ष्मी का स्वभाव ही अनित्य है। इस तथ्य को जानते बूझते भी व्यक्ति लक्ष्मी का सद्भोग नहीं कर सकता, यह मनुष्यों

---

८२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा श्लोक ६ ।

८३ 'यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम् ।
युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ।। १६ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २ ।

८४ 'जो पुण लच्छिं संचदि, ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु ।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स ।। १३ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

का दोष है। विचारशील मनुष्यों को लक्ष्मी के दोष व उसकी अस्थिरता का ख्याल करके अनित्य-भावना की गहराई में उतरकर लोभ, तृष्णा, गर्व और उद्दण्डता को दूर करना है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि समग्र सांसारिक वैभव, इन्द्रियाँ, रूप, यौवन, बल, संसार, देह, भोग और लक्ष्मी सभी इन्द्र धनुष के समान क्षणिक हैं, संयोगजन्य हैं और इसीलिये व्यक्ति को समग्र सांसारिक उपलब्धियों की अनित्यता एवं संयोगजन्यता को समझकर उनके प्रति आसक्ति को हटाकर समत्व में स्थिर बनना है।[८५]

शान्तसुधारस में विनयविजयजी ने बताया है कि अनित्य भावना के चिन्तन के बिना चित्त में शान्तसुधारस स्फुरित नहीं हो पाता। उसके अभाव में मोह और विषाद के विष से आकुल जगत् में स्वल्पमात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।[८६]

आगे फिर वे कहते हैं कि मनुष्य का जीवन वायु से उठती हुई उर्मियों की भाँति चंचल है; आपदा और विपत्तियों से ग्रस्त है। इन्द्रियों के सभी विषय संध्या के आकाश के रंगों की भाँति चलायमान हैं। मित्र, स्त्री तथा स्वजनों के संयोग से मिलने वाला सुख स्वप्न और इन्द्रजाल की तरह क्षणिक है। इस प्रकार इस संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो मनुष्यों के लिये प्रमोद का आलम्बन बन सके।[८७]

अनुत्तरौपपातिकदशांगसूत्र में भी मनुष्य जीवन सम्बन्धी समग्र अनित्यता का सारगर्भित संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध होता है।[८८] उत्तराध्ययनसूत्र में भी भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा है कि "हे गौतम! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है। केश

---

८५ 'स्फुरति चेतसी भावनाय विना, न विदुषामपि शान्तसुधारसः ।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना, जगति मोह विषाद विषाऽऽमुले ।। ६६ ।।'
-संस्कृतछाया भावपाहुड ।

८६ 'आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं लग्नापदः सम्पदः ।
सर्वेऽपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सन्ध्याभ्ररागादिवत् ।।
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं ।
तत्किं वस्तु भवे भवेदिह मुदामालम्बनं यत्सताम् ।। २ ।। -शांतसुधारस ।

८७ वही ।

८८ अनुत्तरौपपातिकदशांगसूत्र ३/१/५ ।

सफेद हो रहे हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है। अतः क्षण मात्र भी प्रमाद मत कर।"[८६]

सिन्दुरप्रकरण में धन की अनित्यता का वर्णन किया गया है।[९०] शान्तसुधारस में आगे बताया गया है कि "हे आत्मन्! तू वैषयिक सुखों की क्षणभंगुर सहचरता को देख, जो देखते ही हास्य के साथ नष्ट होने वाली है। विषय सुख का यह साहचर्य संसार के उस स्वरूप का अनुगमन करता है, जो तीव्रता से चमकने वाली विद्युत-प्रकाश के विलास जैसा है।[९१]

"हे आत्मन्! इस अनित्य भावना का चिन्तन करके शाश्वत अखण्ड तथा चिदानन्दमय स्वस्वरूप का साक्षात्कार करके सुख का अनुभव कर। इस प्रकार अनित्य भावना का चिन्तन कर।" इससे पर पदार्थों और आत्मा की पर्यायों के प्रति आसक्ति टूटती है। अनुकूलताओं में अहंकार और प्रतिकूलताओं में उद्वेग नहीं होता है। आत्मा को समत्व की प्राप्ति होती है।

२. अशरण भावना

पूर्व में हमने अनित्य भावना की चर्चा की। अब उसके पश्चात् अशरण भावना का क्रम आता है। सभी प्रकार के संयोग और पर्यायें अध्रुव हैं, अनित्य हैं और क्षणभंगुर हैं तथा द्रव्य स्वभाव ध्रुव है, नित्य है और चिरस्थाई है। यही समत्वयोग की साधना का सम्बल है।

व्यक्ति स्वयं की सुरक्षा के लिये किसी न किसी प्रकार की शरण प्राप्त करना चाहता है। पर इस संसार में कोई किसी का शरणभूत नहीं हो सकता; इसका बोध अशरण भावना से होता है। प्रशमरतिसूत्र में उमास्वाति ने बताया है कि जन्म जरा और मृत्यु

---

८६ उत्तराध्ययनसूत्र १०/२१।

९० 'पश्य भङ्गुरमिदं विषय सुख सौहृदं।
पश्यतामेव नाश्यति सहासम्॥
एतदऽनुहरति संसाररूपं रया।
ज्ज्वलज्जलबालिकारूचि विलासम्॥ ७४॥' -सिन्दुरप्रकरण।

९१ शान्तसुधारस पृ. ६।

के भय से अभिभूत एवं रोग व वेदना से आक्रान्त लोक में तीर्थंकर के वचन के अलावा और कोई शरण नहीं है।[६२]

इसकी साधना से चित्त में उठने वाली राग-द्वेष की तरंगों से व्यक्ति ऊपर उठ सकता है। ऐसी निरर्थक विकल्प तरंगों के शमन के लिये अशरण भावना का चिन्तन आवश्यक है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि शरण उसको कहते हैं, जहाँ अपनी रक्षा हो। संसार में जिनका शरण विचारा जाता है, वे ही काल पाकर नष्ट हो जाते हैं। वहाँ कैसा शरण?[६३] अशरण भावना का तात्पर्य यही है कि विकराल मृत्यु के पाश से कोई भी बचाने में समर्थ नहीं होता।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि जिस प्रकार मृग को सिंह पकड़कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि सब एक ओर खड़े देखते रहते हैं – विवश हो रोते बिलखते हैं। लेकिन उसे मृत्यु से बचाने में कोई समर्थ नहीं होते, न ही कोई शरण देते हैं।[६४]

ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र आचार्य ने बताया है कि हे मूढ़! दुर्बुद्धि प्राणी! तू किसकी शरण चाहता है? ऐसा इस त्रिभुवन में कोई भी जीव नहीं है कि जिसके गले मे काल की फांसी नहीं पड़ती हो। समस्त प्राणी काल के वश हैं।[६५]

संयोगी पदार्थों में शरीर एक ऐसा संयोगी पदार्थ है, जिसकी सुरक्षा के लिये चित्त उद्वेलित होता रहता है। इस नश्वर देह की सुरक्षा के लिये प्राणी क्या-क्या नहीं करता है। अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन करता है, कुदेवों की आराधना करता है, मन्त्रों

---

६२ (क) प्रशमरतिसूत्र श्लोक १५२।
(ख) 'जन्मजरामरण भयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवर वचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचित्लोके ।।' -शान्तसुधारस पृ. ६।

६३ 'तत्थभवे कि सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ।
हरिहरबंभादीया, कालसण य कवलिया जत्थ ।। २३ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा श्लोक २३।

६४ उत्तराध्ययनसूत्र १३/२२।

६५ 'न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २।

की साधना करता है, तन्त्रों का प्रयोग करता है, सुदृढ़ गढ़ बनवाता है, चिकित्सकों की शरण में जाता है, चतुरंगी सेना तैयार करवाता है, पर जब काल आता है तो सम्पूर्ण किया कराया धराशायी हो जाता है। केवल आत्मा को ही यहाँ से प्रयाण करना पड़ता है। देह का वियोग ही मरण है। यहाँ कोई शरणभूत नहीं, सभी अशरण है।

हे भव्य प्राणी! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं समत्वयोग ही अपना स्वरूप है। श्रद्धापूर्वक उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिये, जिससे इस संसार समुद्र से आत्मा का उत्थान हो सके।

ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र ने बताया है कि यह काल बड़ा बलवान है और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवों को पाताल में, ब्रह्मलोक में, इन्द्र के भवन में, समुद्र के तटपर, वन के पार, दिशाओं के अन्त में, पर्वत के शिखर पर, अग्नि में, तलवारों के पहरे में, गढ़, कोट, भूमि, घर में तथा मदोन्मत्त हस्तियों के समूह से रक्षित इत्यादि किसी भी स्थान में यत्नपूर्वक बिठा दो; तो भी यह काल जीवों के जीवन को ग्रसीभूत कर लेता है। इस काल के आगे किसी का वश नहीं चलता।[६६]

इस प्रकार हमें देखना है कि अशरण भावना में भी संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का बोध होता है। अनित्य भावना में भी हमने उनकी क्षणभंगुरता की चर्चा की। अशरण भावना में भी यही चिन्तन करना है कि अशरण स्वभाव के कारण किसी वस्तु को अपने परिणमन के लिये 'पर' की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। 'पर' की शरण परतन्त्रता की सूचक है। प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतन्त्र है। अनाथी मुनि जब अपनी गृहस्थ अवस्था में रोग ग्रस्त हुए, तो उन्हें अशरण भावना के चिन्तन से वैराग्य हो गया। धर्म की शरण में जाने का संकल्प करते ही वे स्वस्थ हो गये।

---

[६६] 'पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते।
दिक्चक्रे शैलशृंगे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे ॥
भूगर्भे सन्निविष्टं समदकरिघटासंकटे वा बलीयान्।
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां ॥ १८ ॥' -ज्ञानार्णव सर्ग २।

अशरण का अर्थ है - असहाय! जिसे पर की सहायता की अपेक्षा नहीं, शरण की आवश्यकता नहीं; वस्तुतः वही असहाय है, अशरण है। आचार्य पूज्यपाद ने इसी अर्थ में केवलज्ञान को असहाय ज्ञान कहा है।[६७] जिस ज्ञान को पदार्थों के जानने में इन्द्रिय आलोक आदि किसी की भी सहायता नहीं होती, उसे असहाय ज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं।

अनित्य भावना और अशरण भावना में मूलभूत अन्तर इतना ही है कि अनित्यभावना कहती है : *'मरना सबको एक बार अपनी-अपनी बार'* और अशरण भावना कहती है : *'मरतै न बचावे कोई'।*

रागात्मक विकल्पों को जड़मूल से उखाड़कर फेंकने का सामर्थ्य एवं समत्वयोग की ओर जोड़ने की चिन्तनात्मक वृत्ति ही अशरण भावना में है। निश्चय से तो एकमात्र अपनी शुद्धात्मा की ही शरण है। संकल्प-विकल्प से जब चित्त उद्वेलित हो जाता है; तब शुद्धात्मा, पंचपरमेष्ठी या प्रभु परमात्मा की शरण ही सहायक बनती है और यही समत्व को स्थिर बनाती है।

अशरण भावना का मूल प्रयोजन संयोगों और पर्यायों की अशरणता का ज्ञान करे और दृष्टि को वहाँ से हटाकर स्वभाव सन्मुख होना तथा समत्व में स्थिर होना है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार वचनिका में पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं कि इस संसार में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप-संयम ही शरण हैं। इन चार की आराधना के बिना अनन्तानन्तकाल में कोई शरण नहीं है तथा उत्तम क्षमादिक दशधर्म प्रत्यक्ष इस लोक में समस्त क्लेश, दुःख आदि से रक्षा करने वाले हैं।[६८]

हे आत्मार्थी! अशरण भावना का चिन्तन करके निज स्वभाव की शरण ग्रहण करके अनन्त सुख को प्राप्त कर। इस प्रकार अशरण भावना भी हमारे रागभाव या ममत्वबुद्धि को समाप्त करने में सहायक होती है। उससे समभाव की वृद्धि होती है।

---

[६७] सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र ६ की टीका।

[६८] रत्नकरण्डक श्रावकाचार पृ. ४००।

३. संसार भावना

'सम्' उपसर्ग और 'सृ+धञ' = सं तथा 'सार्+अ' = सार से 'संसार' शब्द बनता है।

'संसरणशीलः संसार' संसरना-सरकना-चलना - एक जगह से दूसरी जगह जाना ही जिसका स्वभाव है, वह संसार है। जाना, आना, उपजना और मरना यह कर्म सहित जीव का स्वभाव है; यह स्वभाव चार गति, चौबीस दण्डक अथवा चौरासी लाख जीवयोनि अथवा परिभ्रमण क्षेत्र रूप चौदह राजू लोक संसार कहलाता है। प्रत्येक जीव अनादिकाल के कर्मों के योग से परिभ्रमण कर रहा है। लोक के नीचे हिस्से तक, पूर्व से लेकर पश्चिमी किनारे तक तथा दक्षिण से लगाकर उत्तरी भाग तक एक राई के दाने बराबर भी ऐसा कोई स्थान नहीं बचा है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण के दुःख का अनुभव न किया हो। प्रत्येक स्थान पर, आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक बार नहीं किन्तु अनन्त-अनन्त बार यह जीव जन्मा और मरा है। जैसा वैराग्यशतक में कहा है कि एक बाल के अग्र भाग का टुकड़ा रखने योग्य भी कोई ऐसा स्थान नहीं बचा है, जहाँ जीव ने अनेकों बार सुख-दुःख की परम्परा का अनुभव न किया हो।[९९] जैसे जन्म-मरण रहित कोई क्षेत्र खाली नही रहा है, वैसे ही कोई जाति, कुल, गौत्र, योनि या नाम भी ऐसा नहीं बचा, जिसमें जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण न किया हो। अब आगे वैराग्यशतक में इस प्रकार चर्चा की है - लोक में अनन्तानन्त जीव हैं और प्रत्येक जीव के साथ प्रत्येक जीव ने माँ-बाप, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, सास-श्वसुर, काका-काकी, मामा-मामी, बुआ, भोजाई आदि के रूप में अनन्तानन्त बार सम्बन्ध किया। एक ओर से नये-नये सम्बन्ध जुड़ गये और दूसरी ओर से पुराने सम्बन्ध बिछुड़ गये।[१००] इस प्रकार इस परिभ्रमणशील संसार में जीव ने अनन्त कालचक्र, अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनन्त पुद्गलपरावर्तन बिता दिये हैं।

---

[९९] 'तं किंपि नत्थि ठाणं, लोए वालग्ग कोडिमित्तं पि ।
जत्थ न जीवा बहुसो, सुहदुक्खपरं परं पत्ता ।।' -वैराग्यशतक २४ ।

[१००] 'न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो ।।' -वैराग्यशतक २३ ।

छोटे से छोटे २५६ अवलिका (१/१० श्वासोच्छवास परिमाण) के भव निगोद में किये और बड़े से बड़े तैतीस सागरोपम के सातवें नरक के किये। निगोद में दो घड़ी जितने समय में ६५५३६ बार जन्म और मृत्यु हुई। इस प्रकार जन्मते-मरते अनन्तकाल तो केवल निगोद में ही व्यतीत हो गया।

विनयविजयजी ने शान्तसुधारस में बताया है कि अनन्त-अनन्त रूपों को धारण करने वाला जीव इस अनादि संसार-समुद्र में अनन्त पुद्गलपरावर्तन (अनन्तकाल) तक अनन्त बार जन्म-मरण करता रहता है।[१०१] इसी में आगे चर्चा की गई है कि "हे भद्र पुरुष! तू इस संसार में जन्म-मरण आदि से भयभीत बना हुआ है। मोह रूपी शत्रु तेरा गला पकड़कर तुझे पग-पग पर विपदा की ओर ढकेल रहा है। अतः तू अनुभव कर कि यह संसार अत्यन्त भयानक है।"[१०२]

ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है कि संसार में प्रत्येक प्राणी अनेक रूपों को धारण करता है और उसका परित्याग करता है। जिस प्रकार नृत्य करने वाला भिन्न-भिन्न स्वांगों को धारण करता है, उसी प्रकार संसारी जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता रहता है।[१०३]

विनयविजयजी का कथन है कि "हे विनय! तू संसार के समस्त भय को विनष्ट करके अर्थात् परिभ्रमण को समाप्त करके जिनवचन को मन में धारण करके मोक्ष का वरण कर।"[१०४] इस परिवर्तनशील संसार में स्वजन-परजन की कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है। क्योंकि एक ही जीव माता होकर बहिन, भार्या या पुत्री हो जाती है, तो कोई बहिन होकर माता, स्त्री या पुत्री हो जाती है। कोई स्त्री होकर बहिन, पुत्री या माता हो जाती है। कोई पुत्री होकर माता,

---

१०१ 'अनन्तान् पुद्गलावर्तानन्तानन्त रूप भृत् ।
अनन्तशो भ्रमत्येव, जीवोऽनादिभवार्णवे ।।' -शान्तसुधारस पृ. १७ ।

१०२ 'कलय संसारमतिदारूणं, जन्ममरणादिभयभीत रे ।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं, प्रतिपदं विवदमपनीत रे ।।' -वही पृ. १८ ।

१०३ 'रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङगेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ।।' ज्ञानार्णव पृ. ३० ।

१०४ 'सकल संसार भय भेदकं, जिनवचो मनसि निबधान रे ।
विनय! परिणमय निःश्रेयसं, विहितशमरस सुधापान रे ।। शान्तसुधारस पृ. १६ ।

बहिन, स्त्री हो जाती है तथा कोई पिता होकर भाई, पुत्र या पौत्री-नाती बन जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के अनुसार सम्बन्ध बनते और टूटते रहते हैं।[१०५] अतः हे मुमुक्षु प्राणी! संसार के स्वरूप का पुनः पुनः चिन्तन कर कि अहो! यह संसार अस्थिर और स्वभाव से कष्ट रूप है। यह इष्ट और अनिष्ट, सुख और दुःख रूप युगल धर्म का अभ्यस्त एक प्रकार का उपवन है। जिसको संसार में इष्ट विषय समझा जाता है, वह भी वास्तव में दुःख ही है।[१०६] नाटक के दृश्यों की तरह यह संसार अभिनय पूर्ण है - त्याज्य है। इस प्रकार का चिन्तन करना संसार भावना है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि "जन्म दुःखमय है, बुढ़ापा दुःखमय है, रोग और मरण भी दुःखमय है। अरे यह संसार ही दुःखमय है, जिसमें प्राणी क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं।[१०७] यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात-दिन रूपी शस्त्र धारा से त्रुटित कहा गया है।[१०८]

प्रशमरतिसूत्र में बताया गया है कि सम्बन्धों के बन्धन! सम्बन्धों की माया! यही संसार है, भव भ्रमणा का मूलभूत कारण है। सम्बन्धों के जाल-जंजाल में मैं न तो परमात्म-ध्यान में निमग्न हो पाया... न ही तत्त्व रमणता में जुड़ा... और न ही परम ब्रह्म में लीन-तल्लीन हो सका। इन सम्बन्धों की माया ने मुझे चंचल, अस्थिर, कालुष्ययुक्त पागल और मूर्ख बना डाला। मैं भी मूर्ख बनता चला गया। किन्तु हे मूर्ख! शुद्ध-बुद्ध मुक्त आत्मा के साथ सम्बन्ध अवर्णनीय सुख को देने वाला है।[१०९] परद्रव्यों से किया गया स्नेह वस्तुतः संसार है। हे आत्मन्! तू चेतन है और शरीरादि परद्रव्य सर्वांग जड़ हैं - ऐसा चिन्तन कर।[११०]

इस प्रकार अभी तक हमने तीन भावनाओं की चर्चा की जिसमें अनित्य में संयोगों की क्षणभंगुरता, अशरण में संयोगों की

---

१०५ तत्वार्थाधिगम पृ. ३६५ ।

१०६ 'यत्सुखे लौकिकी रूढ़िस्तदुःखं परमार्थतः ।' -पंचध्यायी ।

१०७ उत्तराध्ययनसूत्र १६/१६ ।

१०८ वही १४/२३ ।

१०९ प्रशमरतिसूत्र पृ. ३३२-३३ ।

११० बारह भावना : एक अनुशीलन पृ. ५४ ।

अशरणता एवं संसार में संयोगों की निरर्थकता का वर्णन किया गया है। अब संयोगों या 'पर' से दृष्टि हटाकर उसे स्वभाव की ओर करना है। इस संसार की असारता को जानकर सारभूत निज शुद्धात्मा की आराधना करना है। इस प्रकार संसार स्वरूप का पुनः पुनः विचार करना संसारानुप्रेक्षा है। संसार परिभ्रमण को दुःखरूप जानकर और उससे विरक्त होकर ही समत्व की सच्ची साधना सम्भव होती है। संसार भावना ही हमारे ममत्व के विसर्जन और समत्व के सर्जन में सहायक होती है।

४. एकत्व भावना

संसार में रहते हुए भी 'स्व' की स्वतन्त्र स्थिति का बोध करना एकत्व भावना है। एकत्व भावना का अर्थ है प्राणी अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने शुभाशुभ कर्मों को भी वह अकेला ही भोगता है।[१११] मृत्यु के समय समस्त संसारिक धन-वैभव तथा कुटुम्ब को छोड़कर व्यक्ति अकेला ही प्रयाण करता है। एक संस्कृत कवि ने कहा है कि धन भूमि में, पशु पशुशाला में, स्त्री गृहद्वार तक, स्नेहजन शमशान तक और देह चिता तक रह जाती है और प्राणी अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्मों के साथ परलोक गमन करता है।[११२]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया है कि एक ही जीव नाना पर्यायों को धारण करता है; वही जीव पुण्य करके स्वर्ग में जाता है और वही जीव कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जाता है।[११३] शान्तसुधारस में भी बताया गया है कि मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही वह उनका फल भोगता है।[११४] बारह भावना : एक अनुशीलन में बताया गया है कि सम्पूर्ण संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव प्रत्येक

---

१११ कुन्दकुन्दाचार्य की सूक्तियाँ ।

११२ सुक्ति संग्रह ।

११३ 'इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिह्दे देहं ।
इक्को बाल जुवाणो इक्को वुढो जरागहिओ ।। ७४ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

११४ 'एक उत्पद्यते तनुमानेक एव विपद्यते ।
एक एव हि कर्म चिनुते, स एकक: फलमश्नुते ।।' -शान्तसुधारस ।

परिस्थिति में सदा अकेला ही रहता है, कोई दूसरा साथ नहीं देता – यह विचार करना ही एकत्व भावना है।[११५] ज्ञानार्णव के अनुसार भी आत्मा अकेली ही स्वर्ग में जाती है, अकेली ही नरक में जाती है, अकेली ही कर्म बाँधती है और अकेली ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाती है।[११६]

'आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
कबहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय।।'

जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक परिस्थिति में आत्मा का अकेलापन दर्शाया गया है।[११७] इसी प्रकार आचार्य पूज्यपाद ने भी बताया है कि साथी की खोज कभी सफल होने वाली नहीं है; परद्रव्यों का संयोग है, पर साथ नहीं। परद्रव्य संयोगी हैं, परन्तु साथी नहीं।[११८] एकत्व भावना में संयोगों के प्रति ममत्व भाव नहीं रखने का निर्देश और अपने अकेलेपन (एकत्व) की स्वीकृति है। चित्त में अकेलेपन का चिन्तन करना ही एकत्व भावना है। एकत्व के चिन्तन प्रवाह को देखने के लिये कविवर गिरधर ने निम्नांकित छन्द का उल्लेख किया है :

'आये है अकेले और जायेंगे अकेले,....'

इस छन्द में अकेलेपन की अनुभूति का तरल प्रवाह है। साथ ही सम्यग्दिशानिर्देश भी है। अकेलापन ही एकत्व है।[११९] एकत्व भावना के सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं की आत्मा पर विजय प्राप्त करना परम विजय है।[१२०]

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्पूर्ण समयसार एकत्व-विभक्त आत्मा के प्रतिपादन को ही समर्पित किया है। उन्होंने एकत्व-विभक्त आत्मा

---

११५ 'एकाकी चेतन सदा, फिर सकल संसार।
साथी जीव न दूसरो, यह एकत्व विचार।।' -बारह भावना : एक अनुशीलन पृ. ६३।

११६ 'स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा।। २।।' ज्ञानार्णव सर्ग २।

११७ बारह भावना : एक अनुशीलन पृ. ६३।

११८ सर्वार्थसिद्धि ६/७/८०२।

११९ कविवर गिरधर कृत पृ. ६५।

१२० उत्तराध्ययनसूत्र २३/३६।

को अपने निज वैभव रूप दिखाया है और 'पर' के साथ सम्बन्ध असत् है, विसंवाद पैदा करनेवाला बताया है।[१२१]

एकत्व की प्रतीति में स्वाधीनता का स्वाभिमान जाग्रत होता है, स्वावलम्बन की भावना प्रबल होती है और चित्तवृत्ति सहज स्वभाव समत्व के सन्मुख होती है तथा समत्व दृढ़ या निश्चल बनता है। एकत्व भावना के चिन्तन से जो उल्लास/आनन्दातिरेक जीवन में प्रस्फुटित होना चाहिये - दिखाई देना चाहिये, वह बहुत ही कम देखने को मिलता है और अज्ञानी व्यक्ति तो अकेलेपन से चित्त को असन्तुलित बना लेता है, जिससे अन्तरंग शान्ति भंग होती है। विनयविजयजी लिखते हैं कि "हे आत्मन्! तू समतायुक्त इस एकत्व अनुप्रेक्षा का अनुचिन्तन कर, जिससे तू नमिराजा की शान्ति अर्थात् परम आनन्द की सम्पत्ति को उपलब्ध कर सके।"[१२२]

आचार्य पूज्यपाद एकत्वानुप्रेक्षा का प्रयोजन और फल बताते हुए लिखते हैं कि इस प्रकार चिन्तन करते हुए जीव को स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता। इसलिये वह निःसंगता को प्राप्त होकर, समत्व में स्थिर बनकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।[१२३]

आत्मा का अकेलपान अभिशाप नहीं, वरदान है। व्यक्ति को अकेलापन अच्छा नहीं लगता। वस्तुतः गहराई से चिन्तन करें, तो वहीं आनन्द का धाम है। उसकी प्रतीति ही आत्मा का अन्तिम विराम है - समत्व से जुड़ने का आयाम है। यह भावना समत्व को दृढ़ बनाती है और ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के कन्द, शान्ति के सागर, निजपरमात्म तत्त्व को पहचान कर उसी में लीन बनने का सन्देश देती है।

५. अन्यत्व भावना

एकत्व भावना जहाँ व्यक्ति को एकत्व की अनुभूति कराती है,

---

[१२१] समयसार गाथा ५/४ ।

[१२२] 'एकतां समतोपेतामेनामात्मन् विभावय !
लभस्य परमानन्द सम्पदं नमिराजवत् ।। २३ ।।' -शान्तसुधारस ।

[१२३] 'एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति । परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते ।
ततो निःसंगतामभ्युपगतो मोक्षयैव घटते ।' -सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ सूत्र ७ की टीका ।

वहीं अन्यत्व भावना पृथक्त्व का बोध कराती है। यह आत्मा-अनात्मा या स्व-पर का विवेक सिखाती है, जो समत्वयोग की साधना हेतु आवश्यक है।

अन्यत्व भावना का आशय है कि शरीर से अपनी आत्मा की भिन्नता का विचार करना। मैं शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ; क्योंकि शरीर मूर्त अर्थात् इन्द्रिय गोचर है और मैं अनिन्द्रियगोचर अमूर्त हूँ। शरीर अनित्य है। वह आयु पूर्ण होते ही विघटित हो जाता है। किन्तु आत्मा तो नित्य है। वह कभी नष्ट नहीं होती।[१२४]

अन्यत्व भावना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है और शरीरादिक सभी बाह्यपदार्थ इससे भिन्न है। इस प्रकार चिन्तन करना अन्यत्व भावना है।[१२५] इसी प्रकार कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि जो देहादिक परद्रव्यों से भिन्न अपने नित्यज्ञानानन्द स्वरूप का अनुभव करता है, उसके लिये अन्यत्व भावना कार्यकारी बनती है।[१२६]

इसी सन्दर्भ में ज्ञानार्णव में शुभचन्द्र लिखते हैं कि जब देह और प्राणी में अत्यन्त भिन्नता है, तो बहिरंग जो कुटुम्बादिक हैं, उनसे एकता कैसे हो सकती है? क्योंकि ये प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देते हैं।[१२७]

देह से आत्मा के अन्यत्व को श्रीमद्राजचन्द्र ने एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया है। अनादिकाल से आत्मा का देह के साथ संयोग सम्बन्ध रहा है। अतः जीव देह को आत्मा मान लेता है, परन्तु जैसे म्यान में रहते हुए भी तलवार म्यान से पृथक है, उसी प्रकार देह में रहते हुए भी आत्मा देह से भिन्न है।[१२८]

आचार्य अमितगति भी जीव से भिन्न देहादि संयोगों पर से दृष्टि हटा लेने के लिये सामायिक पाठ में कहते हैं कि जिस आत्मा

---

१२४ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ. ३६७।

१२५ 'अण्णं इमं सरीरादिगं पि ज होज्जेबाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ।। २३ ।।' -बारसअणुवेक्खा।

१२६ 'जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ।। ८२ ।।' कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

१२७ 'अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतो भवेत् ।। ७ ।।' ज्ञानार्णव सर्ग २।

१२८ आत्मसिद्धिशास्त्र ५।

का शरीर के साथ भी सम्बन्ध नहीं है; तो उसका पुत्र, पत्नी और मित्र के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि शरीर से चमड़ी दूर करने पर रोमछिद्र कैसे रह सकते हैं?[१२९]

इसी सन्दर्भ में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। शरीर ऐन्द्रिय है, पर आत्मा अतीन्द्रिय है। शरीर अज्ञ है पर आत्मा ज्ञाता है। शरीर अनित्य है पर आत्मा नित्य है। शरीर आदि अन्तवाला है पर आत्मा अनादि-अनन्त है। संसार में परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा के लाखों शरीर अतीत हो गये - आत्मा उससे भिन्न है। हे अज्ञानी मूढ़! इन बाह्य पदार्थों से भिन्नता तो स्वाभाविक है। इसमें क्या आश्चर्य?[१३०]

शान्त सुधारस में विनयविजयजी लिखते हैं कि आध्यात्मिक विमूढ़ता के कारण तू जिस शरीर के साथ 'यह मैं हूँ', इस अभिन्नता का अनुभव कर रहा है, वही शरीर निश्चित ही तुझे छोड़ देता है। भले फिर तू कितना भी अधीर बन और कितनी ही दीनता को प्रदर्शित कर।[१३१]

पण्डित प्रवर दौलतरामजी आत्मा और शरीरादि संयोगों में परस्पर भिन्नता और अभिन्नता का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि यद्यपि आत्मा और शरीर पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं, फिर भी अभिन्न नहीं हैं। पूर्णतः भिन्न ही हैं। जब शरीर भिन्न है, तो घर, मकान, पुत्र-पत्नी आदि कैसे जीव के अपने हो सकते हैं?[१३२]

इसी प्रकार पद्मनन्दिकृत पंचविंशति में इसी भाव का उल्लेख इस प्रकार किया गया है है कि जब देह और आत्मा की स्थिति दूध और पानी के समान एकक्षेत्रावगाही होकर भी भिन्न-भिन्न है,

---

१२९ 'यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।'
-आचार्य अमितगति सामायिक पाठ २७ ।

१३० सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ सूत्र ७ की टीका ।

१३१ 'येन सहाश्रयसेऽतिविमोहादिदमहमित्यविभेदम् ।
तदपि शरीरं नियतमधीरं, त्यजति भवन्तं धृतखेदम् ।।२।।' -शान्तसुधारस पृ. ५ ।

१३२ जल-पय ज्यों जिय तन भेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला ।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों हवै इक मिलि सुत रामा ।। ७ ।।' -छहढाला पंचमढाल ।

तब भिन्न एकक्षेत्रावगाही परिजन या पदार्थ तेरे कैसे हो सकते हैं?[१३३]

पण्डित दीपचन्दजी कृत बारह भावना में यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से कही गई है कि जिस शरीर में जीव रहता है, जब वह शरीर ही अपना नहीं होता, तब जो परद्रव्य प्रत्यक्ष 'पर' हैं, वे अपने कैसे हो सकते हैं।[१३४]

विनयविजयजी ने बताया है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र लक्षणवाली चेतना के बिना सब पराया है। ऐसा निश्चय करके तू अपने कल्याण मार्ग की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर।[१३५] तू अपने घर को देख। अन्य कोई तुझे दुर्गति से उबार नहीं सकता है। इसी के सन्दर्भ में बताया गया है कि तू जन्म-जन्मान्तर में नाना प्रकार के पदार्थों का संग्रह करता है, कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है। लेकिन परलोक में जाने के समय एक पतला धागा भी तेरे साथ नहीं चलेगा, इसकी पूर्णतः सावधानी वर्तना एवं समत्व से युक्त आत्मा को जाग्रत बनाये रखना।[१३६] अन्यत्व भावना का चिन्तन करके यही विचार करना कि मै कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? अब मुझे क्या करना है? मुझे कहाँ जाना है? मेरा चिन्तन कहीं विपरीत दिशा में तो नहीं हो रहा है। सभी को मैं अपना मान रहा हूँ, ये अपने नहीं किन्तु अपने होने के सपने हैं। वस्तुतः जो अपने हैं, उनके प्रति मेरा कोई लक्ष्य नहीं, इसी कारण जीव निरन्तर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण को समाप्त करने के लिये हमें समत्व में स्थिर बनना पड़ेगा। आनन्दघनजी ने भी यही कहा है :

'प्रीति सगाई जगमां सहु कहि रे, प्रीत सगाई न कोय।'

संसार में सब जीवों के साथ रिश्ते बनाये। किन्तु अन्त में कोई भी साथ देने वाला नहीं है। स्थायी प्रीति कहीं नजर नहीं आई।

---

१३३ 'क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ।। ४६ ।।' पद्मनन्दि अध्याय ६ ।

१३४ 'जा तन में नित जिय वसै, सो न आपनो होय ।
तो प्रत्यक्ष जो पर दरब, कैसे अपने होय । -देखिये 'बारह भावनाःएक अनुशीलन' पृ ६६ ।

१३५ 'ज्ञान दर्शन चारित्र केतनां चेतनां विना ।
सर्वमन्यद् विनिश्चित्य, यतस्व स्वहिताऽऽप्तये ।।' -शान्तसुधारस पृ. २८ ।

१३६ 'जन्मनि - जन्मनि विविध परिग्रहमुपचिनुषे च कुटुम्बम् ।
तेषु भवन्तं परभवगमने, नानुसरतिकृशमपि सुम्बम् ।।' -वही ।

सच्चा प्रेम वही है, जो निरुपाधिक हो और निस्वार्थ हो। ऐसा प्रेम केवल आत्मीय स्वरूप के साथ हो सकता है।[१३७] इस प्रकार गहराई से चिन्तन करना ही अन्यत्व भावना है। इसी की सम्यक् जानकारी के लिये कहा गया है कि –

'जल-पय ज्यों जिय-तन भेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।'

विभिन्न संयोगों के मेले में खोए हुए निज शुद्धात्मतत्त्व को खोजना है, पहिचानना है, पाना है और उसे सबसे भिन्न निराला जानना है। उसका सदा चिन्तन करना है – उसी में लगना एवं रमना है। उसी में लीन तथा विलीन होना है। सम्पूर्णतः उसी में समाविष्ट होना अन्यत्व भावना या समत्व का मूल प्रयोजन है।[१३८]

आचार्य योगिन्दुदेव ने भी कहा है कि पुद्गल, जीव तथा अन्य सब व्यवहार भिन्न हैं। अतः हे आत्मन्! तू पुद्गल को छोड़ और अपनी आत्मा में स्थिर बन। इससे तू शीघ्र ही इस संसार को पार हो सकेगा।[१३९] वे आगे कहते हैं कि जिसने समस्त शास्त्रों के सारभूत निज शुद्धात्मतत्त्व को जान लिया और उसी में लीन हो गया, उसे समस्त शास्त्र का ज्ञाता माना गया है। 'पर' में भिन्नता का ज्ञान ही भेद विज्ञान है और 'पर' से भिन्न निज चेतन आत्मा को जानना, मानना और अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्मसाधना है और आत्माराधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जिन-अध्यात्म का सार इसी में समाहित है। अन्यत्व भावना के चिन्तन की चरम परिणति भी यही है।

यह अन्यत्व भावना हमें यह सिखाती है कि मैं शरीर में हूँ, किन्तु शरीर नहीं हूँ। शरीर अलग है और मैं अलग हूँ; क्योंकि मैं शरीर का ज्ञाता दृष्टा हूँ। अतः उससे भिन्न हूँ। यह अन्यत्व भावना भी राग का प्रहाण करती है और इस प्रकार ममत्व को तोड़कर हमें समत्व में स्थिर करती है।

---

१३७ आनन्दघन चौवीसी १/१।

१३८ 'पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ, अण्णु वि सहु ववहारू।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारू।।'-बारह भावनाःएक अनुशीलन पृ. ७६।

१३९ 'जो अप्पा सुद्धु वि मुणइ असुइ-सरीर-विभिण्णु।
जो जाणइं सत्थइं सयल सासय-सुक्खहं लीणु।। ६५।।' -योगसार।

६. *अशुचि भावना*

अशुचि भावना के द्वारा आत्म-अनात्म की भिन्नता का बोध होता है। जीव का देह के प्रति प्रगाढ़ ममत्व है। उससे विमुक्ति पाना अशुचि भावना के द्वारा ही सम्भव है। प्रशमरतिसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि साधक को शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की अपवित्रता या अशुचि का चिन्तन करना चाहिये।[१४०] यह शरीर तो पवित्र को भी अपवित्र बनाता है। इसकी आदि एवं उत्तर अवस्था अशुचि रूप है। इस प्रकार शारीरिक अशुचिता का चिन्तन करना ही अशुचि भावना है।[१४१] इसी भावना के परिप्रेक्ष्य में उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि यह शरीर अनित्य है, अशुचि रूप है और अशुचि से ही उत्पन्न हुआ है।[१४२]

इसी सम्बन्ध में ज्ञानार्णव में बताया गया है कि यह शरीर स्वभाव से ही मलिन है, निंद्य है। यह रूधिर, माँस, अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि सात अशुचिमय धातुओं से बना हुआ है।[१४३] इसके नौ द्वारों अर्थात् दो नेत्र, दो कान, दो नाक के नथुने, एक मुख, एक गुदा तथा एक लिंग में गंदगी रहती है। इस शरीर के पसीने आदि के प्रभाव से इत्र, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्ध रूप बन जाते हैं। सुस्वादिष्ट मधुर आहार भी विष्टा रूप बन जाता है। वास्तव में यह शरीर रूपी कारखाना निरन्तर गन्दगी का ही उत्पादन करता है। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लिकुमारी (उन्नीसवें तीर्थंकर) ने शरीर की अशुचिता के माध्यम से विवाह करने के लिये आये राजकुमारों को वैराग्यवासित किया था।[१४४]

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर को रोगों एवं व्याधियों का घर कहा

---

१४० प्रशमरति पृ. ३२६।

१४१ वही ३३०।

१४२ 'इसं सरीरं अविच्चं, असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ।। १३ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६।

१४३ 'निसर्गमलिनं निन्द्यमनेकाशुचिसम्भृतम्।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २।

१४४ ज्ञाताधर्मकथा आठवाँ अध्ययन।

है।[१४५] इसी सन्दर्भ में पण्डित भूधरदासजी ने भी बताया है कि यह देह अत्यन्त अपवित्र है – अस्थिर है। इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है। इसके समान अपवित्र अन्य कोई पदार्थ नहीं है। सागरों के जल से धोये जाने पर भी यह शुद्ध होने वाला नहीं है।[१४६] कहा गया है कि 'अस देह करे कि यारी' अर्थात् ऐसी अशुचि देह से क्या प्रेम करना? तथा 'राचन जोग सवरूप न याको, विरचन जोग सही है' अर्थात् यह रमने योग्य नहीं, अपितु छोड़ने योग्य ही है।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने इस प्रकार बताया है कि अपनी आत्मा अत्यन्त निर्मल है और यह देह अपवित्रता का घर है। हे भव्यजीवों! इस प्रकार जानकर इस देह से स्नेह छोड़ो और निजभाव का ध्यान करो।[१४७]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट लिखा है कि हे भव्य जीव! जो परदेह से विरक्त होकर अपनी देह में भी अनुराग नहीं करता है तथा अपने आत्मस्वरूप में अनुरक्त रहता है, वही अशुचिभावना का साधक है।[१४८]

भावनाशतक में भर्तृहरि ने कहा है कि 'रूपे जराय भयं का ये कृतान्तादभयं' अर्थात् रूप को बुढ़ापे का भय है और शरीर को मृत्यु का। वास्तव में देखा जाय तो रूप सौन्दर्य को नष्ट करने वाली अकेली मृत्यु ही नहीं है, अपितु वृद्धावस्था, रोग आदि भी हैं। सन्ध्या के रंग की भाँति यह शरीर भी अस्थिर है, रोगों से भरपूर है, व्याधियों का घर है और पलभर में बदलनेवाला है। एक क्षण में यह सुन्दर दिखनेवाली देह दूसरे ही क्षण में असुन्दर बन जाती है। ऐसे अस्थिर विकारी और क्षणिक सौन्दर्य पर मुग्ध होना

---

१४५ (क) 'अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम! मा पमायए ।। २७ ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १० ।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र १६/१४ ।

१४६ 'देह अपावन अथिर घिनावन, यामै सार न कोई ।
सागर के जल सौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ।।'
-'बारह भावना:एक अनुशीलन' पृ.८७ ।

१४७ पण्डित जयचन्दजी कृत बारह भावना ।

१४८ 'जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्पसरूव सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ।। ८७ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

अज्ञानता है। शरीर की अशुचिता को जानकर ही मल्लिकुमारी की सुन्दरता पर रींझे हुए छः राजाओं को वैराग्य हो गया।

उत्तराध्ययनसूत्र में शरीर एवं इन्द्रियों की आसक्ति को दुःख का कारण बताया गया है। हिरन को शब्द की आसक्ति, पतंगों को रूप की आसक्ति, भौंरे को गन्ध की आसक्ति, मत्स्य को स्वाद की आसक्ति और हाथी को स्पर्श की आसक्ति की विडम्बना भोगनी पड़ती है। इन आसक्तियों के पीछे वे अपने प्राण गंवा बैठते हैं।[१४९]

अशुचिता की भावना का प्रयोजन शरीर की अपवित्रता का बोध कराकर आत्मा को देह के ममत्व से मुक्त कराना है। देह का आकर्षण कम होने से व्यक्ति का ध्यान आत्मा की ओर अभिमुख होता है। वह समत्व में रमण करने लगता है।

ज्ञानसार नामक ग्रन्थ में महोपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है कि हे आत्मन्! देह के प्रत्येक अंग-उपांग के प्रति जाग्रत बनकर इसका उपयोग आत्मविशुद्धि की साधना के लिये करले। क्योंकि इस देह का एक कोना भी पवित्र नहीं है। इससे परमार्थ परोपकार करले, तपश्चर्या करले एवं गुरूजनों की सेवाभक्ति करले।[१५०]

इस प्रकार अशुचि भावना से देहासक्ति टूटती है और समत्वयोग की साधना में दृढ़ता आती है।

७. आस्रव भावना

कर्मों के आगमन का मार्ग आस्रव कहलाता है। ज्ञानार्णव में बताया गया है कि वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं और इस योग को ही तत्त्वविशारदों (ऋषियों) ने आस्रव कहा है।[१५१] राग-द्वेष के भाव, कषाय, विषय-भोग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्तरौद्र ध्यान आस्रव हैं।[१५२] आस्रव के कारणों का विचार और उनके के निरोध का प्रयास ही आस्रव भावना का मुख्य लक्ष्य है।

---

१४९ उत्तराध्ययनसूत्र १९/१३-१५। -उद्धृत 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४२६ - डॉ. सागरमल जैन।

१५० 'बाह्यदृष्टि : सुधासार घटिता भाति सुन्दरी।
तत्वदृष्टेस्तु सा साक्षाद् विण्मुत्रपिठरोदरी ।।' -ज्ञानसार।

१५१ 'मनस्तनुवचःकर्मयोग इत्यभिधीयते।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः ।। १ ।।' -ज्ञानार्णव सर्ग २ (आस्रवभावना)।

१५२ योगशास्त्र ४/७४-७८।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि सूक्ष्म सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक जीव कषाय सहित होते हैं। उनके आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं और ग्यारहवें, बारहवें एवं तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव मोह के उदय से रहित होते हैं। उनके योग के निमित्त से होने वाले आस्रव को ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं। जो पुद्गल वर्गणा कर्मरूप परिणमती है, उसको द्रव्याश्रव कहते हैं और जिसका आत्मप्रदेशों में स्पन्दन रूप परिणमन होता है, उसको भावाश्रव कहते हैं।[१५३]

समवायांगसूत्र में निम्न पांच आस्रव द्वारों का वर्णन किया गया है :

१.मिथ्यात्व; २.अविरति; ३.प्रमाद; ४.कषाय; और ५.योग।[१५४]

इन पांचों में भी प्रत्येक द्वार द्रव्य और भाव के रूप में दो-दो प्रकार का होता है। इनमें भावमिथ्यात्वादि आत्मा के विकारी परिणाम हैं और द्रव्यमिथ्यात्वादि कार्मणवर्गणा के कर्मरूप परिणमन हैं। नौकर्मरूप शरीरादि से क्रिया रूप परिणमन होते हैं।

शरीरादि संयोगों के समान ये आस्रवभाव भी अनित्य हैं; अशरण हैं; अशुचि हैं; आत्मस्वभाव से भिन्न हैं; चतुर्गति में संसरण के हेतु हैं; दुःख रूप और जड़ हैं। इनसे भिन्न ज्ञानादि अनन्तगुणों का पुंज, अजर, अमर, अविनाशी, अखण्ड, पिण्ड आत्मा नित्य है और परम शरणभूत है। आत्मा संसार परिभ्रमण से रहित, परम पवित्र और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का हेतु भी है। इस प्रकार आस्रव के स्वरूप एवं कारणों का चिन्तन ही आस्रव भावना है।

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने योग को आस्रव कहा है; क्योंकि योग के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता है।[१५५]

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि मन, वचन और काया के व्यापार योग हैं। इनके निमित्त से होने वाले कर्मों का आगमन ही आस्रव है।[१५६]

---

१५३ 'मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंदणविसेसा ।
मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ।।८८ ।।' -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

१५४ समवायांगसूत्र समवाय ५/४ ।

१५५ योगशास्त्र ४/६८, ७४ एवं ७८ ।

१५६ 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः' -तत्त्वार्थसूत्र ६/१-२ ।

आत्मा की शुभाशुभ भावरूप आस्रव क्रिया से मुक्त होना ही आस्रवानुप्रेक्षा के चिन्तन का वास्तविक फल है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो पुरुष उपशम परिणामों में लीन होकर पूर्वकथित मिथ्यात्वादि भावों को हेय मानता हुआ छोड़ता है, उसकी ही आस्रव भावना होती है। इस प्रकार जानता हुआ भी जो त्यागने योग्य परिणामों को नहीं छोड़ता है, उसका आस्रव भावना सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तन निरर्थक है।[१५७]

पातंजलि योगशास्त्र के अनुसार भी 'अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से भी चित्तवृत्तियों का निरोध हो सकता है।[१५८]

अतः आस्रव के हेतुओं से बचते हुए संवर की दिशा में प्रवृत्त होना चाहिये। आस्रव भावना का मूल प्रयोजन समत्व से विचलन के कारणों को जानकर उनसे दूर रहने का प्रयत्न करना है।

८. *संवर भावना*

कर्मों के आगमन (आस्रव) के मार्ग को निरूद्ध करना संवर है। दुष्प्रवृत्तियों के द्वारों को बन्द करने का चिन्तन करना संवर भावना है। कर्मबन्ध का मूल कारण आस्रव है, उसका निरोध करना संवर है।

तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है कि 'आस्रव निरोधः संवरः' अर्थात् आस्रव का निरोध संवर है।[१५९] संवर मोक्ष का मूल कारण तथा साधना समत्व का प्रथम सोपान है। संवर शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' धातु का अर्थ रोकना या निरोध करना है।[१६०]

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि क्षमा से क्रोध का, मृदुता

---

[१५७] 'एदे मोहयभावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति मण्णभाणो, आसव अणुपेहणं तस्स ।। ६४ ।।
एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ ।
तस्सासवाणुवेक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि ।। ६३ ।। -कार्तिकेयानुप्रेक्षा ।

[१५८] पातंजलि योगशास्त्र ८ ।

[१५९] तत्त्वार्थसूत्र ६/१ ।

[१६०] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ३८६।
-डा. सागरमल जैन ।

से मान का, ऋजुता से माया तथा निःस्पृहता से लोभ का निग्रह करना चाहिये।[१६१] उत्तराध्ययनसूत्र तथा तत्त्वार्थसूत्र में तीन गुप्ति, पांच समिति, दश यतिधर्म, बारह भावना, परीषह जय और पांच प्रकार के चारित्र के परिपालन को संवर कहा गया है। संवर आस्रव का प्रतिपक्षी है। वह कर्मों के आगमन को रोकने की प्रक्रिया है।[१६२]

ज्ञान और वैराग्यपरक चिन्तनपूर्वक अपने उपयोग को मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों से हटाकर अपने आप में स्थिर होना ही संवर भावना है। संवर भावना सुख रूप है, क्योंकि इससे भव परम्परा समाप्त होती है।

संवर और समत्व एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। क्योंकि संवर में कषाय जनित उद्वेग समाप्त हो जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि :

'संपद्यते संवर एष साक्षाच्चुदात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एवं तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।।'[१६३]

शुद्धात्मतत्त्व में अवस्थिति ही साक्षात् संवर है। शुद्धात्मतत्त्व में अवस्थिति भेद विज्ञान से ही होती है। भेद विज्ञान से राग, द्वेष एवं मोहजन्य विषय-विकार समाप्त हो जाते हैं और उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।[१६४]

उत्तराध्ययनसूत्र में संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव निरोध का कारण कहा गया है।[१६५]

संवर अर्थात् शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का यथाशक्य निरोध करना और आत्मा में प्रवेश करनेवाले कर्म-वर्गणा

---

१६१ 'उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जव-भावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।। ३६ ।।' -दशवैकालिकसूत्र ८।

१६२ 'आस्रवनिरोधः संवरः ।। १ ।। स गुप्ति समिति-धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।। २ ।।'
-तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ (उमास्वाति)।

१६३ समयसार कलश १२६।

१६४ 'अण्णाणमओ भावो अणाणिओ कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।१२७।।' -समयसार।

१६५ 'संजमेणं भंते जीवे किं जणयइ!
संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ।। २६ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २६।

के पुद्गलों को रोकना संवर है। क्योंकि ये क्रियाएँ ही आस्रव का कारण है।

जैनदर्शन में संवर के दो भाग किये हैं - द्रव्य संवर और भाव संवर। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि कर्माश्रव को जाग्रतिपूर्वक रोकने की स्थिति भाव संवर है और द्रव्याश्रव को रोकने वाली उस चैतसिक स्थिति का परिणाम द्रव्य संवर है।[१६६]

समवायांगसूत्र में संवर के पांच अंग बताये गये हैं।[१६७] स्थानांगसूत्र में संवर के आठ भेद निरुपित किये गये हैं।[१६८]

प्रकारान्तर से जैनागमों में संवर के सत्तावन भेद भी मिलते हैं। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि उपयुक्त आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य मर्यादित जीवन प्रणाली है; जिसमें विवेकपूर्ण आचरण तथा मन, वचन और काया की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन और सद्गुणों का ग्रहण होता है। संवर के साथ समत्व की साधना भी समाहित है। जैनदर्शन में संवर द्वारा साधक से यही अपेक्षा की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो और चेतना सदैव जाग्रत रहे, जिससे इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ पैदा न कर सकें। जब इन्द्रियाँ और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते हैं; तो आत्मा में विकार या वासना उत्पन्न होने की सम्भावना खड़ी हो जाती है। अतः साधना मार्ग के पथिक को सदैव जाग्रत रहते हुए विषय सेवन रूप छिद्रों से आने वाले कर्माश्रव से अपनी रक्षा करनी है।[१६९] सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेटकर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्मयोग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे।[१७०] दशवैकालिकसूत्र में सच्चे साधक की व्याख्या करते

---

१६६ द्रव्यसंग्रह ३४।

१६७ समवायांगसूत्र ५/२६।

१६८ स्थानांगसूत्र ८/३/५९८।

१६९ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ३८६। -डॉ. सागरमल जैन।

१७० सूत्रकृतांग १/८/१६।

हुए कहा गया है कि जो सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है और जो बाह्याभिमुख न होकर आत्माभिमुख होता है, जो समत्व में रत रहता है; वही सच्चा साधक है।[७७१]

संवर मिथ्यात्व नामक महापाप का निरोधक, मिथ्याज्ञानान्धकार का नाशक एवं अनन्तानुबन्धी कषाय का विनाशक है।

मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम आस्रवभाव हैं; जबकि वीतराग भाव संवर है। यह संवर ही मुक्तिमार्ग का प्रवेशद्वार है। संवर भावना में भेदविज्ञान ही प्रधान है। बारह भावना एक अनुशीलन में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने कहा है कि सम्पूर्णलोक को 'स्व' और 'पर' इन दो भागों में विभक्त करके 'पर' से भिन्न 'स्व' में एकत्व स्थापित करना ही सच्चा भेद विज्ञान है; आत्मानुभूति है; संवर है और संवर भावना का फल है।[७७२]

संवर भावना के द्वारा आत्मा नवीन कर्मों के बन्धन से बच जाती है, जो पूर्वकृत कर्म है, उनका क्षय निर्जरा के द्वारा होता है। अतः इसके पश्चात् निर्जरा भावना का उल्लेख किया जाता है।

९. *निर्जरा भावना*

संवर आत्मा में प्रवेश करनेवाले नवीन कर्मों को रोक देता है, लेकिन पुराने कर्मों का क्षय करना उतना ही अनिवार्य होता है, जैसे छिद्रयुक्त नौका के छेद बन्द कर देने पर उसमें भरे हुए पानी को सम्पूर्णतः खाली कर देना।[७७३]

निर्जरा शब्द का अर्थ है जर्जरित कर देना, झाड़ देना अर्थात् आत्मतत्त्व से कर्म पुद्गलों का अलग हो जाना निर्जरा है। पुराने कर्मों को क्षय किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैनागमों में पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय को ही निर्जरा कहा है। डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि निर्जरा भावना में साधक उपस्थित सुख-दुःख को पूर्वबद्ध कर्म का प्रतिफल मानकर उसे अनासक्त

---

[७७१] दशवैकालिकसूत्र १०/१५ ।

[७७२] 'बारह भावना : एक अनुशीलन' पृ. ११४ । -डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ।

[७७३] 'पुवकदकम्म सडणं तु णिज्जरा ।। १८४६ ।।' -भगवतीआराधना ।

भाव से धैर्यपूर्वक भोगता है। दुःखों की परिस्थिति में भी वह दूसरों को निमित्त मात्र मानकर उनके प्रति द्वेष नही करता और सुख की परिस्थिति में भी वह पूर्व कर्म का प्रतिफल मानकर किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता।[७७४]

इस प्रकार निर्जरा राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर पूर्व के उदित कर्मों का क्षय करना और उनके परिणाम के अवसर पर नये बन्ध नहीं होने देना है।

पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा कहलाती है। कर्मों की निर्जरा दो प्रकार से होती है। अतः निर्जरा के भी दो भेद है :

१. सविपाक निर्जरा; और २. अविपाक निर्जरा।

कर्म अपनी स्थिति को पूर्ण कर यथा समय उदय में आकर फल देकर अलग हो जाते हैं। जब वे तप के कारण स्थिति पूर्ण हुए बिना ही खिर जाते हैं, तब वह अविपाक निर्जरा कहलाती है। यह व्रतधारियों के होती है। अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से पूरी तरह से निकल जाना ही निर्जरा है। जैनसिद्धान्तदीपिका में निर्जरा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जराः' अर्थात् तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उपलब्धि होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तप निर्जरा का कारण है।[७७५] आत्मा से सम्बद्ध कर्मों का अंश रूप में धीरे-धीरे क्षय होना निर्जरा है। निर्जरा भी एक प्रकार से मोक्ष है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है कि 'तपसा निर्जरा' अर्थात् तपस्या ही निर्जरा का कारण है। बिना तप के निर्जरा सम्भव नहीं है।[७७६] अतः जैसे तप के बारह भेद हैं, वैसे ही निर्जरा के भी बारह भेद हैं।

---

[७७४] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४३०। -डॉ. सागरमल जैन।

[७७५] सर्वार्थसिद्धि ८/२३।

[७७६] तत्त्वार्थसूत्र ६/३।

कर्मों का बन्ध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत् चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं, लेकिन जब तक नवीन कर्मों का सृजन समाप्त नहीं होता, ऐसी निर्जरा से कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान करता रहे, लेकिन नवीन ऋण भी लेता रहे, तो वह ऋण मुक्त नहीं हो पाता।

जैन धर्म के अनुसार आत्मा अनादिकाल से सविपाक निर्जरा करती आ रही है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सकी। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'यह चेतन आत्मा कर्म के विपाक काल में सुखद और दुःखद फलों की अनुभूति करते हुए पुनः दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर लेती है।'[१७७] डॉ. सागरमल जैन बताते हैं कि साधना मार्ग के लिये सर्वप्रथम निर्देश ज्ञानयुक्त बनकर कर्माश्रव का निरोध कर अपने आपको समत्व में स्थिर करना है।[१७८] संवर या समत्व के अभाव में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं है - वह तो अनादिकाल से होती आ रही है। किन्तु भव परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुई। दूसरे में यदि आत्मा संवर का आचरण करती हुई भी इस यथाकाल में होने वाली निर्जरा की प्रतिक्षा में बैठी रहे, तो भी शायद इस कर्म बन्ध से स्वाभाविक निर्जरा के माध्यम से मुक्त हो सके।

ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है कि संसारी आत्मा प्रतिक्षण नये कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रही है। लेकिन तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष (महत्त्वपूर्ण) है।[१७९] आचारांगसूत्र में भी कहा गया है कि तप एक प्रकार की अग्नि है, जिसके द्वारा संचित कर्मों को शीघ्र ही भस्मीभूत किया जा सकता है। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है; वैसे ही अनासक्त आत्मा कर्म शरीर को शीघ्र जला डालती है। आत्मा तप के द्वारा परिशुद्ध होती है। लेकिन तप सम्यक् प्रकार से होना

---

[१७७] 'वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।। ३८६ ।।' -समयसार ६ ।

[१७८] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ ३६८ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

[१७९] इसिभासियम् ६/१० ।

चाहिये, तो ही वह कर्म निर्जरा का हेतु होता है। उसी से आत्मा मुक्ति को प्राप्त होती है।[१८०]

१०. लोक भावना

लोक भावना का तात्पर्य लोक के स्वरूप का चिन्तन करना है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि लोक के स्वरूप को जानने का प्रयत्न समत्वयोग की साधना के लिये कितना सार्थक है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लोक के स्वरूप का ज्ञान जीव और अजीव दोनों के स्वरूप का ज्ञान है। जीव के स्वाभाविक व वैभाविक स्वरूप को जाने बिना साधना के क्षेत्र में कोई गति नहीं हो सकती है। संसार भावना या लोकभावना हमें यह बताती है कि यह आत्मा अनादिकाल से इस संसार में विविध योनियों में जन्म मरण करती रहती है। उसके इस परिभ्रमण का कारण उसके ही शुभाशुभ भाव हैं। व्यक्ति अपने अशुभभावों के परिणामस्वरूप जहाँ नरक व निगोद की यातना सहता है, वहीं शुभ भावों के द्वारा देवयोनि को प्राप्त करके वहाँ के सुखों का अनुभव करता है। फिर भी ये दोनों अवस्थाएँ उसे भवभ्रमण से मुक्त कराने में समर्थ नहीं हैं। लोक के स्वरूप को जानकर व्यक्ति प्रथम तो नरक, निगोद आदि दुःखमय योनियों से बचने का प्रयत्न कर सकता है, तो दूसरी ओर शुभ भावों को करके वह मनुष्य, देव आदि श्रेष्ठ गतियों के लिये प्रयत्न कर सकता है। यदि व्यक्ति अनादि अनिधन लोक के स्वरूप को नहीं जानेगा, तो वह जन्म-मरण की प्रक्रिया को भी नहीं समझ सकेगा। जन्म-मरण की इस प्रक्रिया को समझे बिना वह इससे मुक्त होने का प्रयत्न भी नहीं कर पायेगा। इसलिये साधना की दृष्टि से लोक के स्वरूप को समझना आवश्यक है। आचारांगसूत्र (१/१/१/१) में कहा गया है कि जो आत्मवादी होगा, वह लोकवादी होगा और जो लोकवादी होगा, वही कर्मवादी और क्रियावादी होगा।

लोक के स्वरूप को जानकर ही व्यक्ति संसार परिभ्रमण से मुक्त बनने का प्रयत्न कर सकता है। जैनदर्शन के अनुसार इस अनादि अनिधन संसार में हमारी आत्मा अनन्तकाल से परिभ्रमण

---

[१८०] आचारांगसूत्र ४/३/१४१।

कर रही है। यदि हमें इस परिभ्रमण से मुक्त होना है, तो हमें अपनी साधना के द्वारा ऐसा प्रयत्न करना होगा कि हम मुक्ति को प्राप्त कर सकें। संसार के दुःखमय स्वरूप को समझकर ही उससे विमुक्ति का प्रयत्न हो सकता है। यह विमुक्ति का प्रयत्न ही समत्वयोग की साधना है और यह साधना संसार के स्वरूप को जाने बिना सम्भव नहीं है। लोकभावना में हम संसार के स्वरूप को समझकर और उसमें परिभ्रमण के कारणों को जानकर इस संसार चक्र से मुक्त होने का प्रयत्न कर सकते हैं।

११. धर्म भावना

धर्म के स्वरूप को जानकर उसको जीवन में जीने का प्रयत्न करना ही धर्म भावना है। धर्म भावना में धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाता है। समत्वयोग की साधना के लिये धर्म के स्वरूप को जानना आवश्यक है। भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र में धर्म को समतामय बताया है।[१८१] उनका कहना है कि समभाव में ही धर्म है। यदि हम समभाव को धर्म मानते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि समत्वयोग की साधना बिना धर्म भावना के सम्भव नहीं है। धर्म और समभाव एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। जैन धर्म में धर्म की दूसरी परिभाषा अहिंसा के रूप में की जाती है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि भूतकाल में जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे, वे सब यही कहते हैं कि किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाना, दुःख नहीं देना और उसकी हिंसा नहीं करना। यही शुद्ध और शाश्वत् धर्म है।[१८२] अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करने पर ही लोक जीवन में शान्ति स्थापित हो सकती है। अहिंसा धर्म के स्वरूप का चिन्तन करने पर लोक जीवन में समता और शान्ति की स्थापना सम्भव है। इस प्रकार धर्म भावना का समत्वयोग की साधना के साथ अत्यन्त गहन सम्बन्ध है। धर्म ही हमारा रक्षक है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जरा व मृत्यु के प्रवाह में बहते हुए लोगों के

---

[१८१] 'समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते' -आचारांगसूत्र १/५/३/१५७।

[१८२] 'एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।'
-आचारांगसूत्र १/४/१/१३२।

लिये धर्म ही उत्तम दीप है या शरण स्थल है। धर्म के अतिरिक्त हमारा अन्य कोई रक्षक नहीं है।[१८३]

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि धर्म ही उन सबका बन्धु है, जिसका संसार में अन्य कोई बन्धु नहीं है - अन्य कोई साथी नहीं है। जिनका कोई स्वामी नहीं है, उनका स्वामी धर्म ही है।[१८४] धर्म ही हमारा एक मात्र रक्षक एवं त्राता है। इस प्रकार धर्म के स्वरूप और उसकी उपयोगिता एवं महत्त्व का चिन्तन करते हुए हम साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकते हैं।[१८५] धर्म भावना का मुख्य प्रयोजन धर्म की उपयोगिता को जानकर तथा उसके स्वरूप को समझकर उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना है। धर्म जब जीवन में अवतरित होता है, तो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व या समभाव का प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार धर्म भावना समत्व की साधना का एक महत्त्वपूर्ण सम्बल है।

१२. बोधिदुर्लभ भावना

किसी भी साधना की सार्थकता तभी सम्भव है, जब हमारे अन्दर सम्यक् समझ उत्पन्न हो। बोधिदुर्लभ भावना का तात्पर्य यह है कि संसार में सम्यक् समझ या बोध की प्राप्ति अत्यन्त कठिनता से होती है। जीव को ऐसे अवसर कम ही उपलब्ध होते हैं, जब वह सन्मार्ग को प्राप्त होता है। हमारे जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते भी हैं, जब हम अवसर को प्राप्त करके भी उसका उपयोग नहीं कर पाते। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जीवन में चार वस्तुओं की उपलब्धि अत्यन्त कठिनता से होती है :

१. मनुष्य भव की प्राप्ति; २. धर्मश्रवण;
३. शुद्ध श्रद्धा; और ४. संयम मार्ग में पुरुषार्थ।[१८६]

---

[१८३] 'मरिहिसि रायं ! जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।। ४० ।।'
-उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन १४ ।

[१८४] 'अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ।। १०० ।।' -योगशास्त्र ४ ।

[१८५] वही ।

[१८६] 'चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ।। १ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन ३ ।

यह आत्मा अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हुई अत्यन्त कठिनाई से मानव शरीर प्राप्त करती है। मानव जीवन को प्राप्त करना कितना कठिन है, इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार बताया गया है कि यदि हम सम्पूर्ण भारतवर्ष में उपलब्ध किसी एक जाति के अनाज को एकत्रित करके उसके विशाल ढेर में एक सेर सरसों को मिला दें और किसी एक वृद्धा को कहें कि वह पुनः इस सरसों को अलग कर दे – यह जितना दुष्कर कार्य है, उसकी अपेक्षा भी एक बार मनुष्य जन्म को पाकर भी खो देने पर पुनः प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। काश! मनुष्य जन्म भी मिल जाय, तो धर्म श्रवण के अवसर अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होते हैं। सद्भाव में किसी को धर्मश्रवण का अवसर भी मिल जाये, तो उस पर आस्था होना अत्यन्त कठिन है और यदि आस्था उत्पन्न भी हो जाये, तो उसका जीवन में आचरण करना और भी कठिन है।[१८७] इस प्रकार जीवन में सम्यक् बोध और धर्म साधना का योग अति कठिनाई से प्राप्त होता है। अतः एक बार उपलब्ध होने पर उसका परित्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि सम्यक् बोध को प्राप्त कर उसकी साधना से हमारा विचलन न हो इसलिये अवसर की दुर्लभता को समझना आवश्यक है। मनुष्य जीवन और सन्मार्ग को समझने का यह अवसर उपलब्ध हुआ है। इसे हाथ से न जाने देना ही बोधिदुर्लभ भावना का मुख्य सन्देश है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनदर्शन के अन्दर जो बारह अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं की चर्चा है, वह निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति का अनुपम साधन है। जैनदर्शन में इन भावनाओं की चर्चा मोक्ष मार्ग की अपेक्षा से ही की गई है। वस्तुतः मोक्ष या निर्वाण की साधना समत्व की ही साधना है, क्योंकि जैनाचार्यों ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की समत्वपूर्ण स्थिति को ही मोक्ष कहा है। इस प्रकार मोक्ष समत्व की अवस्था है और इस दृष्टि से समत्व की साधना में इन भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समत्वयोग की साधना के लिये इन भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन आवश्यक है। इनके चिन्तन से हमारी आसक्ति टूटती है

---

[१८७] सूत्रकृतांग २/१/१।

और आसक्ति के टूटने पर ही जीवन में समत्व का प्रकटन होता है। अतः जो भी साधक जीवन में समत्व की साधना करना चाहता है, उसे इन भावनाओं का चिन्तन अवश्य करना चाहिये।

चार भावनाएँ

समत्व की साधना का मुख्य लक्ष्य तो व्यक्ति की आसक्ति या रागात्मकता को समाप्त करना है, क्योंकि राग ही ऐसा तत्त्व है, जो हमारी चेतना के समत्व को भंग करता है। किन्तु इसके साथ ही समत्व की साधना का दूसरा लक्ष्य सामाजिक जीवन में समन्वय और संवाद स्थापित करना है। व्यक्ति का ममत्व टूटे और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में समता का अभ्युदय हो, यही समत्वयोग की साधना मुख्य लक्ष्य है। जैन परम्परा में इसके लिये चार भावनाओं और बारह अनुप्रेक्षाओं को स्वीकार किया गया है। चार भावनाओं के नाम हैं - मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ। बौद्ध परम्परा में इन्हें ब्रह्म विहार भी कहा जाता है। वैसे इनकी चर्चा अन्य परम्पराओं में भी पायी जाती है।

मैत्री आदि चार भावनाएँ हमें वैयक्तिक जीवन में तनावों से मुक्त रखती हैं। साथ ही वे सामाजिक जीवन में समत्व और सन्तुलन का आधार भी हैं। मैत्री का भाव वैमनस्य का प्रतिरोधी है। व्यक्ति के जीवन में जब तक वैमनस्य का भाव बना रहता है, तब तक वह तनावों से ग्रसित बना रहता है। इसलिये हमें वैयक्तिक जीवन के तनावों से मुक्त रहने के लिये मैत्री भावना को स्थान देना होगा। मैत्री का भाव हमारे चैतसिक समत्व के लिये तो आवश्यक है ही, किन्तु वह सामाजिक जीवन में समता की स्थापना के लिये भी आवश्यक है। समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति मैत्री का भाव हो तो सामाजिक जीवन में सन्तुलन बना रहता है। समत्व की साधना के लिये मैत्री की अवधारणा आवश्यक है। न केवल व्यक्तियों के मध्य अपितु परिवारों, समाजों और राष्ट्रों के मध्य भी यदि मैत्री का भाव विकसित होता है, तो ही सामाजिक संघर्षों और राष्ट्र के मध्य होने वाले युद्धों से बचा जा सकता है। मैत्री का भाव ही एक ऐसा तत्त्व है, जो हमारे सामाजिक जीवन में शान्ति की स्थापना कर सकता है और सामाजिक जीवन के संघर्षों को भी समाप्त करता है। उसके परिणामस्वरूप एक ओर चित्त घृणा विद्वेष

आदि वैभाविक अवस्था से बचता है, तो दूसरी ओर परिवार और समाज के सदस्यों के मध्य सामंजस्य की स्थापना भी होती है। इस प्रकार मैत्री भावना का समत्व की साधना के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने न केवल इन चार भावनाओं का उल्लेख किया है, अपितु इनके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि मैत्री का सामान्य लक्षण 'परहितचिन्ता मैत्री' अर्थात् दूसरे के हित का विचार करना, कोई भी दुःख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हो जाये, प्राणी मात्र का कल्याण एवं रक्षण हो, इस प्रकार की भावना मैत्री भावना है।[१८८] मैत्री भावना अद्वेष की भावना है। सम्यक् रूप से इस भावना को करने पर द्वेष का उपशमन होता है। यह द्वेष को उपशान्त करने का अमोघ उपाय है। मैत्री भावना से वैमनस्य और शत्रुता समाप्त होती है और समत्वयोग की साधना मजबूत होती है।

इस प्रकार कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी योगशास्त्र में इन चार भावनाओं का वर्णन किया है।[१८९] सिद्धर्षिगणि विरचित मुनि सुन्दरसूरि रचित अध्यात्मकल्पद्रुम में, न्याय विशारद उपाध्याय यशोविजयजी रचित द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका एवं आचार्य अमितगति रचित सामायिकसूत्र में भी इन चार भावनाओं का वर्णन मिलता है।[१९०] मात्र यही नहीं, मूल आगमों में भी इन भावनाओं के प्रकीर्ण उल्लेख उपलब्ध हैं। समताधिकार के प्रथम श्लोक में ही इन चार भावनाओं का प्रत्यक्ष फल बताते हुए कहा गया है कि जो साधक आत्मवत् भावना से प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख को आत्मसम देखता है, वही समत्वयोगी माना गया है। सभी जीवों के प्रति ऐसे समत्वभाव को सामायिक कहा गया है।[१९१]

---

[१८८] 'परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करूणा ।
परसुख तुष्टि मुदिता, परदाषोप्रेक्षणमुपेक्षा ।।१५।।' -हरिभद्रसूरी १६ प्रकरण ४ षोडशक ।

[१८९] 'मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजसेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तु, तद्धि तस्य रसायनम् ।। ११७ ।।' -'योगशास्त्र' प्रकाश ४ ।

[१९०] 'सत्तवेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेसु कृपापरत्वम् ।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौः, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।' -सामायिकसूत्र पृ. ६२ ।

[१९१] 'भजस्वमैत्री जगदगिराशिषु, प्रमोदमात्मागुणिषु त्वशेषतः ।
भवार्तदीनेषु कृपारसं सदाप्युदासवृत्तिं खलुनिर्गुणेष्वपि ।। १ ।। -प्रथम समताधिकार ।

१. मैत्री भावना

मैत्री अर्थात् समभाव - आत्मा की विशुद्धि। जैसे आत्मा की विशुद्धि बढ़ती जायेगी, वैसे मैत्री भावना में वृद्धि होती जायेगी और समत्वयोग दृढ़ होता जायेगा। मैत्री भावना आत्मा का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। मैत्रीभाव का साधक समस्त विश्व के प्राणियों को आत्मवत् देखता है। मैत्री भावना और समत्वयोग का परस्पर गाढ़ सम्बन्ध रहा हुआ है। समत्व भाव से ही मैत्री भावना का निर्माण होता हैं।

वैदिक साहित्य में कहा गया है :

'मित्रस्य चाक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे।'[१६२]

तू विश्व के सभी जीवों को मित्रता की आंखों से देख। जैनदर्शन में कहा गया है कि किसी के साथ मेरा वैर नहीं है अथवा सब के प्रति मेरा मित्रता का भाव है। यही समत्व की साधना का कारण है। धम्मपद में कहा गया है- 'मैत्तं च मे सव्वलोकस्सि' विश्व के सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है। समतायोगी इसी प्रकार का चिन्तन करता है।

गीता में भी मैत्री आदि भावनाओं के अनुरूप आत्मोपगम्य की बात कही है। दूसरों में अपने को एवं अपने में दूसरों को समान रूप से देखना समत्व की साधना का आधार है। दूसरों के सुख-दुःख की अनुभूति अपनी आत्मा के समान करना समत्वयोगी का लक्षण है।

गीता में लिखा है कि मनुष्य को तुच्छ स्वार्थवृत्ति छोड़कर परमार्थ-दृष्टि से चिन्तन और व्यवहार करना चाहिये। यही मैत्रीमूलक समता है। जब मनुष्य की दृष्टि आत्मोपम्य की हो जाती है, तब वह स्वार्थ प्रवृत्ति से ऊपर उठ जाता है और उसकी दृष्टि समतामय बन जाती है।[१६३]

आचार्यों ने मैत्री का निम्न लक्षण किया है - 'सुखचिन्ता मता

---

[१६२] यजुर्वेद ३६/१८।

[१६३] 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।' -गीता ६।

मैत्री' अर्थात् दूसरे प्राणियों के वास्तविक सुख की भावना या चिन्तन करना मैत्री है। तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि :

'परेषां दुःखानुत्पत्यभिलाषा मैत्री'[१६४]

दूसरों को किंचित् मात्र भी दुःख न हो, ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। जिसके चित्त में प्रसन्नता, सद्भावना पूर्ण आत्मीयता एवं जीवन की मधुरता है, वही समत्वयोगी है।

मैत्री जब हृदय में व्यापक रूप धारण करती है, तब संकीर्णताएँ, संकुचितता, स्वार्थ भावना आदि समाप्त हो जाती है और हृदय में शुद्ध प्रेम दया, आत्मीयता, बन्धुता, सहृदयता, करुणा, क्षमा, सेवा आदि के दिव्य गुण प्रकट हो जाते हैं। जीवन में सुख सम्पदाओं की कोई कमी नहीं रहती। मैत्री के माध्यम से मनुष्य विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखता है। भगवान महावीर ने भी कहा है :

'मित्ति में सव्वभूएसु, वैरं मज्झं न केणई।'[१६५]

विश्व के प्राणीमात्र से वैर-विरोध न रखकर सभी के प्रति मैत्री भावना रखना ही समभाव या समत्व की साधना है।

२. प्रमोद भावना

चार भावनाओं में दूसरा स्थान प्रमोद भावना का है। प्रमोद भावना का अर्थ गुणीजनों के प्रति आदर का भाव है तथा उनकी उपस्थिति और उनके सान्निध्य को पाकर के मन में प्रसन्नता की अनुभूति होना है। प्रमोद भावना ईर्ष्या की प्रतिरोधी है। व्यक्ति के चित्त में जब ईर्ष्या का भाव जाग्रत होता है तब उसका मानसिक सन्तुलन भंग हो जाता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति का चित्त दूसरों की प्रगति को देखकर दुःखी होता रहता है। इससे उसकी चेतना का समत्व

---

[१६४] सर्वार्थसिद्धि ६८३।

[१६५] (क) आवश्यकसूत्र अध्ययन ८ (उद्धृत् 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ४३३ - डॉ. सागरमल जैन)।
(ख) 'माकार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ।। ११८ ।।' -योगशास्त्र ४।

भी भंग होता रहता है। अतः चैतसिक समत्व के लिए चित्त का ईर्ष्या से मुक्त होना आवश्यक है। ईर्ष्या से मुक्त होने के लिए प्रमोद भावना की साधना आवश्यक है। यह प्रमोद की भावना जहाँ हमारे वैयक्तिक जीवन में समत्व की स्थापना करती है, वहीं वह सामाजिक जीवन के संघर्षों और तनावों को भी कम करती है।

गुणीजनों के प्रति आदर का भाव समाज में सद्गुणों के प्रति आस्था को भी जाग्रत करता है। समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए प्रमोद की भावना आवश्यक है। जहाँ समाज में गुणीजनों और सदाचारियों का सम्मान होता है, वहाँ समाज में सामंजस्य और सद्भाव बना रहता है। गुणीजनों के गुणों के प्रति आदर का भाव हमारे जीवन में सद्गुणों के प्रति आस्था को उत्पन्न करता है और जिस समाज में गुणीजनों के प्रति प्रमोद की भावना होती है, वह समाज निरन्तर प्रगति करता है। इस प्रकार प्रमोद की भावना भी समत्व की साधना के लिए आवश्यक है। मैत्री भावना से प्रमोद भावना कुछ विशेष गुण दर्शाती है। प्रमोद भावना से व्यक्ति के चित्त में विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति आदर भाव, उत्साह, उमंग एवं आल्हाद आता है और उनके दर्शन से वह प्रफुल्लित हो उठता है। व्यक्ति के चित्त में जब समत्व या समता आती है, तब ही प्रमोद भावना प्रस्फुटित होती है।

सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में प्रमोद भावना का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णित है :

'वदनप्रसादिभिरभिव्य ज्यमानान्तर्भावितराग प्रमोद।।'[१६६]

मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अन्तर में भावित भक्ति और अनुराग का अभिव्यक्त होना प्रमोद है। गुणीजनों (फिर वे चाहे किसी जाति, कुल, देश या सम्प्रदाय आदि के हों) के प्रति आदर भाव रखना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना, उनके गुणों की प्रशंसा एवं अनुमोदन करना और उनके गुणों को आत्मसात करना प्रमोद भावना है। किसी व्यक्ति में गुणों का उत्कर्ष एवं विकास को देखकर उनके प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना नहीं रखना ही प्रमोद है।

---

[१६६] सर्वार्थसिद्धि ७/११३ ।

जैसे बादलों की गर्जना और वर्षा के आगमन को देखकर मोर पिउ-पिउ करते हुए अपने पंखों को फैलाकर नाचने लगते हैं, उसी प्रकार गुणीजनों धर्मात्माओं, समाज के निष्ठावान सेवकों, समत्व के साधकों, वृत्तिबद्ध श्रावकों एवं सज्जनों के मिलने पर हृदय का गद्-गद् होजाना, मन प्रसन्नता से झूम उठना और चित्त का आल्हाद, उत्साह से भर जाना ही प्रमोद भावना है। समत्वयोग का साधक सदैव ही ऐसी भावना रखता है।

आचार्य अमितगति ने प्रमोद भावना का उल्लेख इस प्रकार किया है :

'गुणिषु प्रमोदम्'[१६७]

विश्व के प्रत्येक गुणी व्यक्ति के प्रति समर्पण ही प्रमोद भावना है। यह समत्वयोगी का लक्षण हैं। कई व्यक्ति क्षमा, दया, प्रेम, सेवा, करुणा, बन्धुता, समता आदि गुण से युक्त होते हैं। उनके गुणों की प्रशंसा करना और उनके प्रति आदर भाव रखना ही प्रमोद भावना है। जो व्यक्ति व्रतों या महाव्रतों को ग्रहण कर समत्वयोग की आराधना से जुड़ते हैं, आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज कल्याण में भी संलग्न रहते हैं, निष्काम भाव से समाज एवं राष्ट्र की सेवा करते हैं, जो राग-द्वेष एवं मोह से रहित निःस्पृह एवं निर्द्वन्द्व होते हैं; ऐसे महापुरुषों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए प्रसन्नतापूर्वक समर्पित हो जाना ही प्रमोद भावना है।

भगवतीआराधना में प्रमोद भावना का लक्ष्ण इस प्रकार से मिलता है :

'मुदिता नाम यतिगुण चिन्ता, यतयो ही विनीता
विरागा विभया विमाना विशेषा विलोभा इत्यादिका।'[१६८]

संयमी साधुओं के गुणों का विचार करके उनके प्रति अहोभाव उत्पन्न होना प्रमोद (मुदिता) भावना है। संयमी साधुओं में विनम्रता, वैराग्यता, निर्भयता, निरभिमानता, रोष-दोष रहितता और निर्लोभता आदि गुण होते हैं। अतः उनके गुणों को जीवन में उतारने का

---

[१६७] (क) अमितगति । -उद्धृत सामायिकसूत्र १५२ ।
(ख) योगशास्त्र ४/११६ ।

[१६८] भगवतीआराधना १६६१ ।

प्रयत्न करना चाहिये।

संस्कृत भाषा में एक सुभाषित है - 'यद् ध्यायति तद् भवति' अर्थात् जो व्यक्ति जैसा चिन्तन करता हे, वह उसके तद्रूप बन जाता है। प्रमोद भावना की साधना करने वाले की दृष्टि सदैव गुणों की ओर रहती है। जो महान् आत्माओं तथा अपने आत्म विकास में आगे बढ़े हुए सत्पुरुषों के उज्ज्वल और पवित्र गुणों का चिन्तन करता है, वह वैसा ही बन जाता है अर्थात् उनके अनुरूप अपना जीवन बना लेता है। प्रमोद भावना की साधना से जब गुण ग्रहण की दृष्टि विकसित होती है तब व्यक्ति किसी भी कार्य में प्रवृत्त होते हुए भी गुणीजनों के गुणों का चिन्तन करता है एवं उन सद्गुणों के आचरण से अपने जीवन का विकास करता है और अगले जन्म में गुण ग्रहण की भावना के कारण उस गुण की प्रतिमूर्ति बन जाता है। ऐसे जैनदर्शन में अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे गजसुकुमार मुनि की क्षमा, धर्मरूचि मुनि की करुणा, भगवान महावीर का उग्रतप एवं कष्टसहिष्णुता, शालिभद्र की अपने पूर्व जन्म की दान भावना आदि गुणीजनों के प्रति आदर भाव से साधक का आत्मबल मजबूत होता है और उनके अनुरूप आचरण करने की भावना होती है।

समत्वयोग की साधना में प्रमोद भावना को सर्वाधिक बल दिया गया है, प्रमोद भावना से जीवन में सदैव ऊपर उठने की प्रेरणा मिलती है एवं उसकी समत्वयोग की साधना भी दृढ़ होती है। पाण्डवों में युधिष्ठिर को सर्वाधिक सम्मान मिला है, क्योंकि वे गुणग्राही थे। उन्होंने महाभारत में कहा है कि सत्य मेरी माता है, ज्ञान पिता है, धर्म भ्राता है, दया मित्र है, शान्ति मेरी पत्नी है और क्षमा ही मेरा पुत्र है। ये गुण ही मेरे सच्चे बन्धु हैं।[१६६]

जैन धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ गुणानुरागकुलक में बताया गया है कि जिस मनुष्य के हृदय में उत्तम गुणों के प्रति सम्मान रहता है, उसे परमात्मा की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। देव भी आकर उन्हें नमन

---

[१६६] 'सत्यं माता-पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता दया सखा,
शान्ति पत्नि क्षमा पुत्रः षडेते मम बाँधवाः ।।'
-महाभारत (उद्धृत 'समत्वयोग : एक समन्वय-दृष्टि पृ. ६३ - डॉ प्रीतम सिंघवी)।

करता है। इस धरा पर ऐसे व्यक्तियों का जीवन धन्य है। वे कृत पुण्य हैं। ऐसी प्रमोद भावना निरन्तर करनी चाहिये।

इस प्रकार प्रमोद भावना से ही व्यक्ति के चारित्र का विकास होता है और वह अपने जीवन में मूलभूत लक्ष्य समभाव को प्राप्त करता है।

३. कारुण्य भावना

तीसरी भावना कारूण्य की है। असहाय और दुःखी जनों के प्रति करुणा का भाव हमारे मानवीय मूल्यों का परिचायक है। करुणा का प्रतिरोधी तत्त्व निष्ठुरता या क्रूरता है। क्रूर व्यक्ति का चित्त सदैव उद्वेलित बना रहता है। वह दूसरों के अहित के लिये ही प्रयत्नशील होता है। इसके विपरीत करुणाशील व्यक्ति दूसरों को सहयोग देकर उनके दुःखों को दूर तो करता ही है, किन्तु इसके निमित्त से उसके मन में जो प्रसन्नता और आत्मसन्तोष का भाव होता है, वह उसको आत्मिक शान्ति प्रदान करता है। करुणा या सेवा की भावना से दोनों को ही अर्थात् जिसकी सेवा की जा रही है उसे और जो सेवा कर रहा है, उसे शान्ति मिलती है। यह शान्ति वैयक्तिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में समत्व की परिचायक है; क्योंकि तनावों से मुक्त शान्ति पूर्ण जीवन ही समत्वयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य है। जहाँ शान्ति है, वहीं समत्व है और जहाँ समत्व है, वहीं शान्ति है।

करुणा का अर्थ पर-दुःख-कातरता है। दुःखित, पीड़ित, पद-दलित और शोषित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और सेवा की वृत्ति ही करुणा है। दूसरे व्यक्ति को दुःखी या पीड़ित देखकर उसका दुःख दूर करना ही करुणा है। दूसरे शब्दों में कहें, तो लोक-मंगल की भावना ही करुणा भावना है। इसे दया या सेवा की वृत्ति भी कहते हैं। निष्काम भाव से दूसरे प्राणियों के दुःखों को दूर करने का जो सात्विक प्रयत्न या पुरुषार्थ किया जाता है, उसे ही करुणा कहते हैं। यह करुणा धर्म का मूल तत्त्व है। सन्त तुलसीदासजी ने कहा है कि 'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।' दया या करुणा की वृत्ति के अभाव में धर्म का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। आचार्य पद्मनन्दी पंचविंशतिका में लिखते हैं

कि परमात्मा के उपदेश से जिन श्रावकों के चित्त में करुणा रूपी अमृत से परिपूर्ण जीवदया प्रकट नहीं होती है, उनके जीवन में धर्म कहाँ से हो सकता है। जीवदया या करुणा धर्म रूपी वृक्ष जड़ है। वह व्रतों का आधार है - सद्गुणों की निधि है। इसलिये विवेकीजनों को सदैव करुणा करनी चाहिये।[२००] समत्वयोग का साधक सदैव यही भावना रखता है कि मेरे जीवन में दुःखी या पीड़ित जनों के प्रति सदैव करुणा भाव बना रहे। जैनदर्शन में समत्व के लक्षणों की चर्चा करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है कि अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व नहीं होता है। दूसरों के दुःखों के निवारण करने की वृत्ति का विकास हुए बिना समत्वयोग की साधना भी सम्भव नहीं है। जीवन में जब तक करुणा, दया या अनुकम्पा प्रकट नहीं होती, तब तक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि भी नहीं होती और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना सम्पूर्ण धर्म साधना निरर्थक हो जाती है। समत्वयोग के साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह आत्मतुला के आधार पर दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करें। दूसरों के दुःखों को दूर करने की इच्छा ही करुणा है।

आचार्य हरिभद्र ने अष्टकप्रकरण में करुणा को परिभाषित करते हुए बताया है कि भयभीत याचक और दीनजनों के प्रति उपकार बुद्धि ही करुणा कही जाती है। दूसरों का हित या मंगल करने की भावना ही करुणा है।[२०१] समत्वयोग की साधना में करुणा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि समत्वयोग और करुणा दोनों का आधार आत्मोपम्य का भाव है। जो साधक पर की पीड़ा

---

२०० 'येषां जिनोपदेशेन कारूण्यामृतपूरिते ।
चित्तो जीवदया नास्ति, तेषां धर्मः कुतो भवेत् ।। ३७ ।।'
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम् ।
गुणानां निधिरित्यंगिदया कार्या विवेकिभिः ।। ३८ ।।'
-पद्मानन्दि पंचविंशतिका अध्ययन ६ ।

२०१ (क) 'दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
उपकारपरा बुद्धिः कारूण्यमभिधीयते ।।' -आचार्य हरिभद्र, अष्टक प्रकरण ।
(ख) अभिधानराजेन्द्रकोष खण्ड ४ पृ. २६७२ ।
(ग) 'दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धिः, कारूण्यमभिधीयते ।। १२० ।।' -योगशास्त्र ४ ।

को आत्मतुल्य नहीं मानता है, वह समत्वयोग की साधना नहीं कर सकता। दूसरों को दुःखी या पीड़ित देखकर जिसकी आंखों में आंसू न हों, जिसके हाथ सेवा के लिये तत्पर न हों, वह समत्वयोगी नहीं कहा जा सकता। करुणा या पर-दुःख-कातरता के अभाव में समत्वयोग की साधना सम्भव ही नहीं है। समत्वयोग का साधक लोक कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहता है। जैन धर्म में तीर्थंकर भी लोक कल्याण के लिये प्रयत्न करते हैं। समत्वयोग की साधना लोक मंगल की साधना ही है। जो चित्त दूसरों को पीड़ित व दुःखी देखकर करुणा से आर्द्र नहीं होता, वह समत्वयोग की साधना नहीं कर सकता। करुणा के विकास के लिये समभाव या आत्मवत् दृष्टि का विकास आवश्यक है। आत्मोपम्य की साधना के बिना करुणा की साधना सम्भव नहीं है और आत्मोपम्य की साधना के लिये समत्व का विकास आवश्यक है। जो सभी प्राणियों को आत्मवत् समझेगा वही दूसरों की सेवा के लिये तत्पर होगा।

जैसा कि महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार मुझे अपने प्राण अभीष्ट-प्रिय हैं, वैसे ही समस्त प्राणियों को भी अपने प्राण प्रिय हैं। इसी कारण सज्जन पुरुष आत्मोपम्य भाव से प्राणीमात्र पर करुणा और दया करते हैं।[२७२]

संसार में सबको सर्वत्र सुख-शान्ति, निरोगता, धनसम्पन्नता आदि हो; किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा सम्भव नहीं है। संसार में अनेक प्राणी पीड़ा, व्यथा, कष्ट और दुःख से आक्रान्त देखे जाते हैं। किसी को पारिवारिक सदस्यों के कारण दुःख है, तो किसी को सामाजिक और राजनैतिक अन्याय आदि के कारण दुःख है; तो कोई रोग, शोक, वियोग, निर्धनता, अव्यवस्था आदि के कारण दुःखी है। समतायोगी साधक उन पीड़ितों के दुःखों का सहृदयता पूर्वक करुणार्द्र भाव से निराकरण करता है। उस समय उसका हृदय संवेदनामय बन जाता है एवं अनुकम्पा भाव जाग जाता है। पाश्चात्य विद्वान बायरन (Byron) ने लिखा है कि -

---

[२७२] 'प्राणः यथाऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।।'
-महाभारत (उद्धृत् 'समत्वयोग : एक समन्वय-दृष्टि' पृ. १०० - डॉ. प्रीतम सिंघवी) ।

'The drying up a single tear has more of honest fame than shedding seas of gore.'

रक्त को समुद्र में बहाने की अपेक्षा पीड़ित का एक आँसू पोंछकर सुखा देना अधिक सद्कीर्ति प्रदान करता है।

वास्तव में करुणा एक दिव्य गुण है, वह चित्त का सर्वोत्कृष्ट निर्मल भाव है। करुणा भावना का हृदय में जब प्रादुर्भाव होता है, तब अन्तर में अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि दुर्भाव समाप्त हो जाते हैं। उसके हृदयरूपी दर्पण में सभी प्राणियों के अन्तस में विराजित परमात्मा के दर्शन होते हैं और वह उनकी सेवा को परमात्मा की उपासना मानता है। सच्ची करुणा सीमित नहीं होती है। वह तो विश्वव्यापी होती है। ऐसी करुणा सभी जीवों पर बरसती है। उसके लिए तो सभी आत्मवत् होते हैं। 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' - समत्वयोगी साधक के हृदय में अपने-पराये का भेदभाव नहीं होता। वह उदार हृदय से सभी प्राणियों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता है।

सहानुभूति को करुणा की बहन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें संवेदना, दया, प्रेम, करुणा आदि भाव समाहित रहते हैं। इन भावों के सहारे ही समत्वयोग की साधना की जा सकती है। सहानुभूति और करुणा में ऐसे गुण हैं जो मनुष्य को देवत्व तक ही नहीं, परमात्मपद तक पहुँचाने में भी समर्थ हैं। सहानुभूति और करुणा की उष्मा पत्थर-हृदय को भी पिघलाकर मोम बना देती है। उसकी शान्त, शीतल और मनोरंजक लहरें दुःखी आत्माओं में प्रसन्नता और नवजीवन का संचार कर देती हैं।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान बालजाक ने कहा है कि सहानुभूति से युक्त व्यक्ति गरीबों और पीड़ितों के प्रति समर्पित होता है। दीन-दुःखी व्यक्तियों को देखकर वह उनकी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न करता है।

सहानुभूति या करुणा के विकास के साथ अन्य चार सद्गुणों का भी विकास होता है :

१. दयाभाव; २. भद्रता; ३. उदारता; और ४. अर्न्तदृष्टि।

सहानुभूति या करुणा और सेवाभाव के माध्यम से दूसरों के दुःख और उनकी पीड़ा को समाप्त करना सामाजिक सौहार्द्र और

सामंजस्य के लिये आवश्यक है।

४. माध्यस्थ भावना

चतुर्थ भावना माध्यस्थ भावना है। विरोधियों के प्रति उपेक्षा की वृत्ति माध्यस्थ भावना कही जाती है।[२०३] संसार में यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति का कोई आलोचक या विरोधी न हो। दूसरों के द्वारा किये जाने वाले विरोध एवं आलोचना से सामान्य व्यक्ति का चित्त उद्वेलित होता है। वैर-विरोध की भावना - जो विरोध करता है और जिसका विरोध किया जाता है - दोनों के ही चित्त को उद्वेलित करती है। इस प्रकार वैरभाव चित्त के तनाव का कारण है। वैर-विरोध का अभाव तभी सम्भव है जब साधक विरोधी के प्रति उपेक्षा का भाव रखे और उसके निमित्त से अपने चित्त को उद्वेलित न होने दे। यदि हमारा चित्त शान्त रहता है, तो विरोधी प्रतिपक्षी भी एक सीमा के बाहर अपनी पराजय को स्वीकार कर लेता है। विरोध एवं आलोचना के प्रति प्रतिकार की वृत्ति संघर्षों को जन्म देती है और संघर्ष वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही शान्ति को भंग करते हैं। वैर-विरोध को आगे नहीं बढ़ने देने के लिये माध्यस्थ भावना आवश्यक है। माध्यस्थ भावना का अर्थ दूसरे के द्वारा की गई प्रतिक्रियाओं से अपने चित्त को उद्वेलित नहीं होने देना है। जब तक व्यक्ति का चित्त उद्वेलित रहता है, तब तक समत्वयोग की साधना सम्भव नहीं हो सकती। समत्वयोग की साधना के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति अनुकूलता और प्रतिकूलता की परिस्थिति में अविचलित रहे। माध्यस्थ का तात्पर्य यह है कि राग और द्वेष दोनों का अभाव। जिस प्रकार तराजू स्वभाव से सम रहती हैं, किन्तु उसके किसी भी एक पलड़े में भार डालने पर उसका सन्तुलन या समत्व भंग हो जाता है, उसी प्रकार से चित्त में राग-द्वेष की वृत्ति जागने पर चित्त का सन्तुलन भंग हो जाता है। माध्यस्थ भावना का मुख्य प्रयोजन उस सन्तुलन को बनाये रखना है। विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति समभाव रखना ही माध्यस्थ भावना है। संसार की सभी परिस्थितियाँ या संसार का प्रत्येक व्यक्ति हमारे अनुकूल हो, यह सम्भव नहीं है। विरोधी या

---

[२०३] अभिधानराजेन्द्रकोष खण्ड ४ पृ. २६७२।

विद्वेषी व्यक्ति के प्रति भी दुर्भाव नहीं रखना ही माध्यस्थ भावना है। आचार्य अमितगति कहते हैं कि 'हे प्रभु! विरोधियों के प्रति भी मेरे हृदय में किसी प्रकार का द्वेष, उपेक्षा या घृणा की उत्पत्ति न हो – मैं माध्यस्थ बना रहूँ।'

आचार्य मलयगिरि ने मध्यस्थ का अर्थ करते हुए कहा है कि :[२०४]

'मध्यस्थः समः य आत्मानमिव परं पश्यति'

माध्यस्थ का अर्थ सम है, राग-द्वेष से रहित वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरों को देखता है। उदासीनता का भाव या क्रिया माध्यस्थ है। राग-द्वेष से सर्वथा तटस्थ रहना सम है। समत्व प्राप्ति की क्रिया सामायिक है। दीर्घदृष्टि से विचार करें तो साम्यभाव और माध्यस्थ भाव में कोई अधिक अन्तर नहीं है। यदि माध्यस्थ भाव रूपी जल न हो, तो समता सूखी नदी के समान प्रतीत होती है।

आचार्य अमितगति ने भी इसका उल्लेख किया है :[२०५]

'माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव'

हे जिनेन्द्र देव! विपरीत आचरण करने वाले पापी, दुष्ट और शत्रुवृत्ति वाले के प्रति भी मेरी आत्मा सदा माध्यस्थ भाव धारण करे।

माध्यस्थ भावना और समत्वयोग दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। अन्तर मात्र इतना है कि माध्यस्थभाव कारण है और समता कार्य है।

माध्यस्थ भावना के कारण ही समत्व सार्थक होता है। आचार्यों ने माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहता, वीतरागता आदि को एकार्थवाचक माना है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि में माध्यस्थ का लक्षण इस प्रकार किया गया है कि किसी के प्रति राग-द्वेष पूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ भावना है।[२०६]

जो व्यक्ति टेढ़े-मेढ़े चलते हैं – दूसरों को बदनाम करने की

---

[२०४] मलयगिरी -उद्धृत 'समत्वयोग : एक समन्वय-दृष्टि' पृ. १०७ -डॉ. प्रीतम सिंघवी।
[२०५] अमितगति -वही।
[२०६] 'राग-द्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम् ।। ६८३ ।।' -तत्त्वार्थराजवार्तिका, सर्वार्थसिद्धि।

चेष्टा करते हैं, उनके प्रति दुर्भावना, द्वेष या वैरभाव रखते है, उनकी निन्दा घृणा आदि करते हैं, ऐसे लोगों के प्रति भी राग-द्वेष से ऊपर उठकर माध्यस्थ भावना या समत्व की भावना ही रखना श्रेयस्कर है।

व्यवहारसूत्र की टीका में माध्यस्थ का अर्थ इस प्रकार किया गया है :[२०७]

'मध्ये राग-द्वेषयोन्तराले तिष्ठतीति मध्यस्थः सर्वत्रारागद्विष्टे।'

जो राग और द्वेष के मध्य में रहता है, वह मध्यस्थ है, अर्थात् वह सर्वत्र राग-द्वेष से अलिप्त रहता है।

आवश्यकसूत्र में समस्त प्राणियों पर समचित्त को माध्यस्थ कहा है :

'अत्युत्कटराग-द्वेषाविकलतया समचेतसो मध्यस्थाः।'[२०८]

जो अत्यन्त उत्कृष्ट राग-द्वेष से रहित होकर समचित्त रहते हैं, वे माध्यस्थ हैं। जो अपने से द्वेष रखते हैं, दोषदर्शी हैं, विरोधी हैं, असहमत हैं, उन पर भी द्वेष न रखना, उपेक्षा भाव या उदासीनता या तटस्थता रखना माध्यस्थ भावना है।

माध्यस्थ का अर्थ मौनशील भी किया गया है।[२०९] एक समभावी व्यक्ति है, वह दूसरे के दोषों को पूछने पर बोलता नहीं, मौन धारण श्रेयस्कर समझता है और चित्त का सन्तुलन बनाये रखता है। समतायोगी साधक की परीक्षा प्रतिकूलता में ही होती है। उसके समक्ष दुर्जन, दुष्ट, विरोधी या द्वेषी होते हुए भी वह अपने समत्वयोग को नहीं छोड़ता, उसके प्रति वैर, विरोध या द्वेष की भावना नहीं रखता, अपितु माध्यस्थ भावना में तटस्थ रहता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने बताया है कि माध्यस्थ का कार्य राग-द्वेष रहित होकर हंस की तरह नीर-क्षीर का विवेक रखना है।[२१०]

---

२०७ व्यवहारसूत्र टीका। -उद्धृत् 'समत्वयोग : एक समन्वय-दृष्टि' पृ.१०८ -डॉ. प्रीतम सिंघवी।

२०८ आवश्यकसूत्र। -वही।

२०९ 'मध्यस्थो मौनशीलः स्वप्रतीतानपि कस्यापि दोषान्न।
गृहणाति, तदग्रहणाद्धि प्रभूतलोकविरोधितया धर्मक्षति-सम्भवात् ।।
-उद्धृत् 'समत्वयोग : एक समन्वय-दृष्टि' पृ. १०८ डॉ. प्रीतम सिंघवी।

२१० 'स्वस्व कर्म कृतवेशः स्वस्व कर्म भुजो नराः।
न रागं, नापि च द्वेषं, मध्यस्थ्यस्तेषु गच्छति ।। १२४ ।।' -ज्ञानसार।

भगवान महावीर ने एक जीवन सूत्र दिया कि घृणा या द्वेष पाप से करो, पापी से नहीं। आज का बुरा, पतित, पापी और दुष्ट कल भला बन सकता है। इसके अगणित उदाहरण इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। वंकचूल, अर्जुनमाली, चिलातीपुत्र, रोहणियां चोर आदि जैन इतिहास के तथा अंगुलीमाल, आम्रपाली आदि बौद्ध इतिहास के तथा अजामिल, वाल्मीकि, बिल्वमंगल आदि वैदिक इतिहास के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। इनकी जीवन की पूर्व भूमिका जितनी निकृष्ट, भयंकर और निन्दनीय थी, उतनी ही उत्तर भूमिका अभिनन्दनीय और वन्दनीय बन गई। मनुष्य की आत्मा परमात्मा है, इसी कारण वह मूलतः पवित्र है। अतः दूसरों या विरोधियों के प्रति भी दुर्भाव या दौर्मनस्य नहीं रखना ही माध्यस्थ भावना है।

४.१२ समत्वयोग और ध्यान साधना

जैनदर्शन के अनुसार समत्व और ध्यान एक दूसरे के पर्यायवाची ही कहे जाते हैं। समत्व की साधना के बिना ध्यान की साधना सम्भव नहीं है। क्योंकि चंचल मन में उठते हुए विकल्पों के कारण चैतसिक आकुलता या अशान्ति बढ़ जाती है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव को उपस्थित करती है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दुःख का कारण बनती है। इन चैतसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना की आवश्यकता है। ध्यान साधना द्वारा ही व्यक्ति विभाव दशा से स्वभाव दशा को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का शीर्ष माना है। जिस प्रकार शीर्ष या मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैनसाधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। डॉ. सागरमल जैन ने अपने जैन विद्या के विविध आयाम में बताया है कि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नहीं चाहता। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटने का प्रयत्न ही ध्यान है। इसी साधना से निर्विकार और निर्विकल्प समतायुक्त चित्त की उपलब्धि होती है और इसे ही समाधि या सामायिक कहा गया है।

ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे साधना पद्धतियाँ, जो व्यक्ति के चित्त को निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्वयुक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।[२११] योगशास्त्र में बताया गया है कि समत्वरुपी ध्यान से योगी पुरुष कषायरुपी अग्नि शान्त करके सम्यक्त्वरुपी दीपक को प्रकट करते हैं। आगे बताते हैं कि समत्व की साधना के आलम्बन बिना ध्यान की प्रक्रिया सम्भव नहीं है।[२१२] कर्मों के क्षय से मोक्ष होता है। कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है और आत्मज्ञान ध्यान से होता है। इसीलिए ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है।[२१३]

जैनाचार्यों ने भी ध्यान को चित्तवृत्ति निरोध कहा है।[२१४] चित्त का निरोध हो जाना ध्यान है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है, तो चित्त की चंचलता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में योग को, परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ध्यान से ही सम्भव है। अतः ध्यान को साधना का आवश्यक अंग माना गया है।

ध्यान में सर्वप्रथम दौड़ते हुए मन को संकल्प-विकल्प या वासनाओं से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है। ध्यान इस चैतसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है।

जब चित्तधारा वासनाओं, आकांक्षाओं एवं इच्छाओं के मार्ग से बहती है, तब चित्त में उद्विग्नता उत्पन्न करती है। ध्यान के द्वारा हम उन्हें मोड़ने का प्रयास करते हैं। चित्तवृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त करने के लिए ध्यान-साधना आवश्यक है। ध्यान समत्व की महत्त्वपूर्ण औषधी है।

---

२११ 'जैन विद्या के विविध आयाम'। -डॉ सागरमल जैन।

२१२ (क) 'विषयेभ्यो विरक्तानां साम्यवासितचेतसाम्।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधिदीपः समुन्मिषेत् ।। १११ ।।' -योगशास्त्र ४।
(ख) 'समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्बयते ।। ११२ ।।' -वही।

२१३ 'मोक्षः कर्मक्षयादेव, स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ।। ११३ ।।' -वही।

२१४ तत्त्वार्थसूत्र विवेचन ६/२७। -सुखलालजी (पार्श्वनाथ शोध संस्थान वाराणसी १९७६)।

जैन धर्म में ध्यान की परम्परा प्रागेतिहासिक काल से चली आ रही है। आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि आगमों में ध्यान साधना सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।[२१५] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार एकाग्र चिन्तन और शरीर, वाणी और मन का निरोध ध्यान है।[२१६] ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा गया है।[२१७] आवश्यकनिर्युक्ति में शरीर, वाणी और मन की एकाग्र प्रवृत्ति को ध्यान कहा गया है।[२१८]

जैनसिद्धान्तदीपिका में कहा गया है कि 'एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योग निरोधो वा ध्यानम्' - मन वचन और काय के निरोध को ध्यान कहा गया है।[२१९] योगसूत्र में बताया है कि जिस ध्येय मात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके विपरीत प्रवृत्ति न होना ध्यान है।[२२०]

ध्यानशतक में ध्यान से होने वाले पारम्परिक एवं व्यवहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया हैं कि धर्म-ध्यान से शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्लध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एवं अनुत्तर देवलोक के सुख हैं। उसके के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। जब तक ध्यान में विकल्प है या आकांक्षा है, चाहे वह प्रशस्त भी क्यों न हो; तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा। फिर भी यह शुभास्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण संसार की अभिवृद्धि का कारण नहीं बनता है।[२२१]

जिस प्रकार मलिन वस्त्र जल से स्वच्छ किये जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के कर्मरूपी मल को ध्यान रूपी जल से निर्मल बनाया जाता है।[२२२] जिसका चित्त ध्यान में संलग्न होता है, वह

---

२१५ आचारांगसूत्र १/६/१/६ ।
२१६ 'कायावाङ्मनः कर्म योगः ।। १ ।।' तत्त्वार्थसूत्र ६ ।
२१७ ध्यानशतक २ ।
२१८ आवश्यकनिर्युक्ति १४५६ ।
२१९ 'जैन सिद्धान्त दीपिका' ।
२२० देखें 'जैन विद्या के विविध आयाम' पृ. ४६६-७० ।
२२१ ध्यानशतक ६३-६६ ।
२२२ ध्यानशतक ६६-१०० ।

क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता है। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है।

वस्तुतः ध्यान-साधना वह कला है, जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियन्त्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक गतिविधियों को भी नियंत्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। तब हमें ऐसा महसूस होता है कि हमारा अस्तित्त्व चैतसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके केवल साक्षी ही नहीं अपितु नियामक भी हैं। ध्यान वह विधि है जिसके द्वारा हम आत्मसाक्षात्कार करते हैं। ध्यान जीवन में हमें जिन का या आत्मा में परमात्मा का दर्शन कराता है।

सभी साधना पद्धतियों में ध्यान का सर्वोपरि महत्त्व रहा है। ध्यान हमारी चेतना की ही अवस्था है। ध्यान के बिना कोई भी व्यक्ति अपने आध्यात्मिक साध्य तक नहीं पहुँच सकता है। जैन, बौद्ध, योग आदि सभी दर्शनों में ध्यान को महत्त्व दिया गया है। ध्यान से ही आत्म-अनात्म का विवेक या स्व-पर का भेदज्ञान होता है। कर्त्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्मदशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन के संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। चेतना की सभी विकलताएँ भी समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, संकल्प-विकल्पों एवं तनावों से मुक्त होने पर एक निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहती है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अतः वह आत्म-साक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है। ध्यान तभी सिद्ध होता है, जब हम शरीर से स्थिर बन कर, वाणी से मौन होकर और मन को एकाग्र बना कर, ममत्व बुद्धि का परित्याग कर, कायिक-वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण करें। यही ध्यान मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति में सहायक होता है।

जैन परम्परा में बारह तप के भेदों में से ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इसी तप को आत्मविशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि आत्मा तप से परिशुद्ध

होती है।[२२३] सम्यग्ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यग्दर्शन से तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक्चारित्र से आस्रव का निरोध होता है। किन्तु इन तीनों से मुक्ति सम्भव नहीं होती। मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा ही है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की निर्जरा तप से होती है। ध्यान एक प्रकार का उत्कृष्ट तप है, जो आत्मशुद्धि का अन्तिम कारण है।

ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुँचता है, तो व्यक्ति समाधिमय बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैनदर्शन ने ही स्वीकार किया, अपितु सभी धर्मों ने स्वीकार किया है।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्टागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनिजीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकांक्षा रूपी अग्नि का प्रशमन करना आवश्यक है। यही समाधि है। धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है। वस्तुतः चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है। ध्यान चित्त की निष्कम्प अवस्था या समत्वपूर्ण स्थिति है। अतः ध्यान और समाधि समानार्थक है। फिर भी ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है।[२२४] योगदर्शन के अष्टांग योग में समाधि के पूर्व चरण को ध्यान स्वीकार किया है। ध्यान जब सिद्ध होता है तभी वह समाधि बनता है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।[२२५] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनो में ही चित्तवृत्ति की निष्कम्पता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज होती है।

वस्तुतः जहाँ चित्त की चंचलता समाप्त होती है, वहीं साधना की पूर्णता है और वही पूर्णता ध्यान है।

ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक बिन्दु पर

---

२२३ 'नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ।। ३५ ।।' -उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २८ ।

२२४ तत्त्वार्थवार्तिक ६/२४/८ ।

२२५ योगः समाधि ६/१/१२ ।

केन्द्रित होना है।[२२६] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है, उससे प्रशस्त या अप्रशस्त दोनो ही ध्यान हो सकते हैं। अप्रशस्त ध्यान के दो स्वरूप माने गये है :

१. आर्त; और २. रौद्र।

प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये हैं :

१. धर्म; और २. शुक्ल।

जब चेतना किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए उसमें राग या आसक्ति वश डूब जाती है और यदि वह वस्तु प्राप्त नहीं होती, तो उसकी चिन्ता में चित्त का डूबना ही आर्तध्यान है।[२२७] जब किसी उपलब्ध वस्तु का वियोग होता है, तो उसे बार बार स्मरण या उसकी चिन्ता करना रौद्र ध्यान है।[२२८] इस प्रकार आर्तध्यान रागमूलक होता है और रौद्रध्यान द्वेषमूलक। ये दोनों ध्यान संसारजनक हैं एवं राग-द्वेष के निमित्त उत्पन्न होने के कारण अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त माने गये हैं। स्व-पर के लिए कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोक मंगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता है। इन दोनों ध्यानों से चित्तवृत्ति शुभ-अशुभ भावों से ऊपर उठ जाती है। इनसे आत्मा निर्मल, निश्चल और निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

ध्यानस्तव में चित्तवृत्ति का स्थिर होना अर्थात् मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान कहा गया है। इसके विपरीत जो मन विचारशील होता है, उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[२२९] तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों को आलम्बन देने वाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२३०] दूसरे शब्दों में चित्त को अन्य विषयों से हटाकर किसी एक

---

२२६ 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंता निरोधो ध्यानम् ।। २७।।'

-तत्त्वार्थसूत्र पं. सुखलालजी वाराणसी १९७६ ।

२२७ 'आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ।। ३१ ।।'

-तत्त्वार्थसूत्र ९ (पं. सुखलाल संघवी) ।

२२८ तत्त्वार्थसूत्र ९/३६ (पं. सुखलाल संघवी) ।

२२९ ध्यानस्तव २ (जिनभद्र प्र. वीर मुन्दिर) ।

२३० 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ।। २७ ।।'

-तत्त्वार्थसूत्र ९ (पं. सुखलाल संघवी १९७६) ।

वस्तु पर केन्द्रित करना ध्यान है। यद्यपि भगवतीआराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है, तो दूसरी ओर राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर वस्तु की यथार्थता का बोध होने को ध्यान बताया है।[२३१] आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है, वह ध्यान है।[२३२]

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन के चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नहीं होता है। हमारा ध्यान राग की ओर न होकर विराग की ओर होना चाहिए। चित्त के विक्षोभों को दूर करके समाधिलाभ या समताभाव को प्राप्त करना प्रशस्त ध्यान है। जैन दार्शनिकों ने ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[२३३] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत, ध्येय तो परमात्मा ही हैं। जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं हैं। आत्मा की शुद्ध दशा ही परमात्मा है।[२३४] इसलिए जैनदर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यान साधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाती है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करती है।[२३५] जिस परमात्मस्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है, वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[२३६]

वस्तुतः चाहे साधु हो या गृहस्थ, धर्मध्यान सम्भव होने के लिए उसका निर्लिप्त होना आवश्यक है। दूसरी ओर मुनि वेश में होने

---

२३१ भगवतीआराधना - ध्यानशतक प्रस्तावना पृ. २६ ।

२३२ 'दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ।। १५२ ।।' -पंचास्तिकाय ।

२३३ (क) ज्ञानार्णव ३२/६४ एवं ३६/१-८
(ख) मोक्खपाहुड १६/२० ।

२३४ 'अप्पासो परमप्पा ।। १६० ।।' -उद्धृत् सामायिकसूत्र ।

२३५ तत्त्वानुसासन (सिद्धसेनगणि प्रकाशन, सूरत १६३०) ।

२३६ मोक्खपाहुड अष्टप्राभृत ३२ । -कुन्दकुन्द (श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगरा १६६६) ।

पर भी आसक्त, दम्भी और आकांक्षी होने से उसके लिए धर्मध्यान असम्भव होता है। ध्यान की सम्भावना वेश से साधु या गृहस्थ होने पर नही; वह व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति पर निर्भर होती है। जिसका चित्त अनासक्त या निराकुल है, फिर चाहे वह मुनि हो या गृहस्थ, इससे कोई अन्तर नहीं होता। ध्यान का अधिकारी वही है, जिसका चित्त आकांक्षा-रहित, निराकुल और अनुद्विग्न हो। चित्त जितना विशुद्ध होगा, ध्यान उतना ही स्थिर होगा।

प्राचीन आगमों स्थानांगसूत्र, समवायांग, भगवतीसूत्र तथा झाणाज्झयण (ध्यानशतक) और तत्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभाग किये गए है। किन्तु उनमें कहीं भी ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत - इन चार प्रकारों की चर्चा नहीं है; जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका वर्णन योगिन्दुदेव के योगसार और देवसेन के भावसंग्रह में किया गया है।[२३७] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के सन्दर्भ में धर्मध्यान के अन्तर्गत् पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान की चर्चा की है।[२३८]

टीकाकार ब्रह्मदेव ने बताया है कि जो ध्यान मंत्र वाक्यों के द्वारा होता है, वह पदस्थ है; जिस ध्यान में 'स्व' या आत्मा का चिन्तन होता है, वह पिण्डस्थ है; जिसमें चेतन-स्वरूप का विचार किया जाता है, वह रूपस्थ है तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[२३९] अमितगति ने श्रावकाचार में इन चार ध्यानों

---

२३७ (क) स्थानांगसूत्र ४/१४६।
(ख) समवायांगसूत्र ४।
(ग) भगवतीसूत्र २५/७।
(घ) ध्यानशतक २।
(च) तत्त्वार्थसूत्र ६/२८।
(छ) योगसार ६८। -योगिन्दुदेव (बम्बई १९३७)।

२३८ ज्ञानसार पद्मसिंह टीका १८/२८ (त्रिलोकचन्द्र, सूरत सम्वत् २४२०)।

२३९ (क) पदस्थ मंत्रवाक्य गाथा ४८।
(ख) योगप्रदीप १३८।

का विस्तार से उल्लेख किया है।[२४०] इस प्रकार साधक का लक्ष्य ध्यान में चित्त को एकाग्र बनाकर तथा समत्व की साधना को सफल बनाकर मोक्ष मंजिल को उपलब्ध करना है।

।। चतुर्थ अध्याय समाप्त ।।

---

२४० श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५ ।

अध्याय ५

समत्वयोग का तुलनात्मक अध्ययन

५.१ उपनिषदों में समत्वयोग

भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में प्राचीनतम् उपनिषद् माने गये हैं। उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद् प्राचीनतम है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही समत्वयोग की साधना का सुन्दर निर्देश उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि यह समस्त विश्व ईश्वर में अधिष्ठित है। वैश्विक सम्पदा पर किसी भी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व नहीं है। अतः व्यक्ति को त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए।[१] ईशावास्योपनिषद् के इस प्रथम श्लोक में ही समत्वयोग का सार समाया हुआ है। समत्वयोग का सार यही है कि व्यक्ति संसार में अनासक्त भाव से जिये और ईशावास्योपनिषद् त्यागपूर्वक भोग का सन्देश देकर उसी अनासक्ति का प्रतिपादन करता है। व्यक्ति की चेतना में जो भी वैषम्य या तनाव उत्पन्न होता है, उसका कारण राग या आसक्ति ही है। राग या आसक्ति तोड़ने के लिए ईशावास्योपनिषद् में यह कहा गया है कि त्यागपूर्वक भोग करो क्योंकि यह धन या सम्पदा किसी की नहीं है। इसमें आसक्ति मत रखो।

अन्यत्र इसी उपनिषद् में समत्वयोग की शिक्षा देते हुए यह कहा गया है कि जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है अर्थात् सभी को आत्मवत् देखता है; ऐसे समत्वयोगी को मोह और क्षोभ नहीं होता।[२] सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि समत्वयोग का मूल आधार है और प्रस्तुत उपनिषद् भी इसी तथ्य को प्रस्तुत करता है।

---

१ ईशावास्योपनिषद १।

२ वही ६।

ईशावास्योपनिषद् में जिस समत्वयोग का प्रतिपादन है, वह वस्तुतः समन्वयात्मक दृष्टि का परिचायक है। इस उपनिषद् में गीता के समान ही अनासक्त भाव से जीवन जीने का निर्देश किया गया है। मात्र इतना ही नही, प्रस्तुत उपनिषद् व्यक्ति और समाजविद्या अर्थात् अध्यात्मविद्या और अविद्या अर्थात् भौतिक विद्या के बीच समन्वय करके सन्तुलित जीवन का प्रतिपादन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रस्तुत उपनिषद् का मूलभूत दृष्टिकोण समत्वयोग ही है। उपनिषदों का मूलभूत दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। व्यक्ति के विक्षोभों और तनावों के कारण भौतिकवादी या पदार्थोन्मुख जीवन दृष्टि होती है; क्योंकि राग-द्वेष चैत्तसिक असन्तुलन एवं विक्षोभों को जन्म देते हैं। इनका मूल कारण अनात्म में आत्म बुद्धि है। औपनिषदिक चिन्तक यह स्वीकार करते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। वे बाहर ही देखती हैं। अन्तरात्मा को नहीं देख पाती हैं। यह बहिर्मुख दृष्टि ही दुःख या तनावों का कारण बनती है। इसलिए उपनिषदों में बार-बार यह कहा गया है कि व्यक्ति बहिर्मुखता का त्याग करके अन्तर्मुखी बने। कठोपनिषद् में आगे कहा गया है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान व ब्रह्मचर्य से होता है। इनकी साधना के द्वारा ही यतिगण इस शरीर में निहित ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा का दर्शन करते हैं।[३] उपनिषदों का यह स्पष्ट अभिमत है कि बाह्य पदार्थों की उपलब्धि में सुख और शान्ति सम्भव नहीं है। आत्मिक शान्ति की अनुभूति तभी सम्भव है, जब व्यक्ति बहिर्मुखता का त्याग करके अन्तर्मुखी बने। वस्तुतः यह अन्तर्मुखता की साधना ही समत्व की साधना है; क्योंकि बहिर्मुखता का त्याग करने पर चित्त विक्षोभित नहीं होता है। समत्वयोग सम्बन्धी विवेचना के सन्दर्भ में महोपनिषद् एक महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। इस उपनिषद् में जीवन्मुक्त के सन्दर्भ में समत्वयोगी के स्वरूप का सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। यद्यपि विद्वानों ने इसे परवर्तीकालीन उपनिषद् माना है, फिर भी समत्वयोग की विवेचना में इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता

---

३ (क) 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।१।।' -कठोपनिषद् अध्याय २ ।
(ख) मुण्डकोपनिषद् ३/१/६ ।

है। इसमें कहा गया है कि जिसे सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।[४] जो प्रतिपल होने वाले सुख या दुःख अथवा अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में न तो आसक्त बनता है, न ही विचलित होता है और न हर्षित, न दुःखी होता है, वही जीवन्मुक्त अर्थात् समत्वयोगी कहलाता है।[५] जो हर्ष, अमर्ष, भय, काम, क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है, वही समत्व से युक्त होता है।[६] जो अहंकार युक्त वासना को सहजता से त्याग देता है और जो ज्ञेय तत्व का ज्ञाता है; वही जीवन्मुक्त या समत्वयोगी है।[७]

जिसकी आत्मा सदैव परमात्मा में लीन है, मन पूर्ण एवं पवित्र है, जिसको किसी पदार्थ के प्रति न तो आसक्ति है और न उदासीन भाव है, वह समत्वयोगी है।[८] जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा नहीं रखता है, और सदैव अपने कर्त्तव्यों के परिपालन में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवनन्मुक्त कहलाता है।[९]

जो मोह रहित होकर साक्षीभाव से जीवन यापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त या समत्वयोगी है।[१०] जिसने सांसारिक

---

४ 'तपः प्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्यते स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ४२ ।।' -महोपनिषद् अध्याय २ ।

५ 'आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्चते ।। ४३ ।।' - वही ।

६ 'हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्त स जीवन्मुक्त उच्चते ।। ४४ ।।' -वही ।

७ 'अहंकारमयी त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्टति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्चते ।। ४५ ।।' -महोपनिषद् अध्याय २ ।

८ 'अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ४७ ।।' - वही ।

९ 'रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्चते ।। ४६ ।।' -वही ।

१० 'सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवनन्मुक्त उच्चते ।। ५१ ।।' -वही ।

सभी कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है।[११] जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का हृदय से पूर्ण परित्याग कर दिया है अर्थात् इन बाह्य घटनाओं से जिसका चित्त विचलित नहीं होता है, वही वास्तव में समत्वयोगी कहलाता है।[१२] जो पुरुष संसार की समस्त रिद्धि-समृद्धि के बीच रहकर भी उससे निर्लिप्त रहता है, वस्तुतः वह निश्चित ही आत्मा में परमात्मा की अनुभूति करता है।[१३]

महोपनिषद् में आगे तृष्णा को समत्वयोग की साधना में बाधक बताते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ मुने! मैं श्रेष्ठ सद्गुणों का आश्रय स्वीकार कर अपनी आत्मा को समत्व में स्थित करना चाहता हूँ; लेकिन मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है।[१४] यह तृष्णा चंचल बँदरिया के समान है, जो न चाहते हुए भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती।[१५] क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है और क्षणमात्र में ही दिशारुपी कुंजों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करनेवाली भ्रमरी के समान है।[१६] यह तृष्णा नश्वर जगत् के समस्त दुःखों में दीर्घ काल तक दुःख देनेवाली अर्थात् चित्तवृत्ति के समत्व को भंग

---

११ 'येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ५२ ।।' -महोपनिषद् अध्याय २ ।

१२ 'धर्माधर्मौ सुखं-दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ५६ ।।' -वही ।

१३ 'यः समस्तार्थ जालेषु व्यवहार्यपि निस्पृहः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ६२ ।।' -महोपनिषद् अध्याय २ ।

१४ 'यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणाश्रियम ।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कू मूषिका ।। २२ ।।' -वही अध्याय ३ ।

१५ 'पदं करोत्यलङ्ध्येऽपि तृप्ता विफल मी हते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ।।२३ ।।' -वही ।

१६ 'क्षणंमायाति पातालं क्षणं याति नभः स्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुंजे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ।। २४ ।।' -वही ।

करने वाली है।[१७]

हे मुनीश्वर! यदि यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त तथा मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आयेगी।[१८] यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों में गन्धर्व की नगरी को देखा हो, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है।[१९] बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, अन्य परिजनों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है। अतः यह बाल्यावस्था भय का ही घर है।[२०] युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है।[२१] वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं।[२२] वृद्धावस्था में शरीर तो शिथिल हो जाता है, किन्तु इच्छाएँ-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली है।[२३] इस प्रकार ये तीनों अवस्थाएँ चित्तवृत्ति के समत्व को भंग करती हैं। अतः इनमें सुख कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार जगत् में मेरा-तेरा आदि दृश्य प्रपंच (इन्द्रजाल) है।

---

१७ 'सर्व संसार दुःखानां तृष्णैका दीर्घ दुःखदा।
अन्तः पुरस्थमपि या योजयत्यति संकटे ।। २५ ।।' -वही।

१८ 'रक्तमासमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ।। ३१ ।।' -वही।

१९ 'तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वासितु विग्रहे ।। ३२ ।।' - वही।

२० 'शैशवे गुरुतो भीतिर्मामृत पितृतस्थथा।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ।। ३३ ।।' - महोपनिषद् अध्याय ३।

२१ 'स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रम कारिणा ।
बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ।। ३४ ।।' -वही।

२२ 'दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धक कम्पितम् ।। ३५ ।।' -वही।

२३ 'दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाह प्रदायिनी ।। ३६ ।।' -वही।

यही चित्त की विषमता है। अतः जो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, वही समत्व को प्राप्त कर लेता है।[२४] ज्ञानवान पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य जगत् को निर्विशेष चित्त रूप मानता हो। वही शिव है; वही ब्रह्मा है; वही विष्णु है और वही समत्वयोगी है।[२५] महोपनिषद् में कहा गया है कि समत्वयोग से युक्त व्यक्ति सदैव यही विचार करता है कि मैं क्षीणकाय नहीं हूँ; मैं दुःखों से ग्रस्त भी नहीं हूँ और मैं शरीरधारी भी नहीं हूँ वरन् मैं आत्मबल में प्रतिष्ठित हूँ - मुझे किसी का बन्धन नहीं है।[२६] मैं मांस नहीं हूँ; अस्थि नहीं हूँ - ऐसा दृढ़ निश्चय करने वाला व्यक्ति ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।[२७] इस प्रकार अनात्म में आत्म बुद्धि का त्याग कर व्यक्ति समत्व को प्राप्त करता है।

जिसे ब्रह्म पद की प्राप्ति या समत्व की उपलब्धि की लालसा जाग्रत हो जाती है, उसमें तेरा-मेरा और अपने-परायेपन की संकीर्णता समाप्त हो जाती है।[२८] जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है और जिसकी चित्त की चंचलता समाप्त हो गई है, उसने महान् पद को उपलब्ध कर लिया है। ऐसे साधक ही समत्व को प्राप्त करते हैं।[२९] जो मन को वश में करके विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधावी परिचारिका बन गई है।[३०] जिन्होंने मानसिक संकल्पों का त्याग कर दिया है एवं मन को

---

२४ 'अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ।। ५४ ।।' -महोपनिषद् अध्याय ४ ।

२५ 'अविशेषेण सर्वतु यः पश्यति चिदन्वयात् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधि ।। ७६ ।।' -वही ।

२६ 'नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ।। १२४ ।।' - वही ।

२७ 'नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्यहम् ।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ।। १२५ ।।' -वही ।

२८ 'सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताक्ष भूमिकाः
एतासां भूमिकानां तु गम्यं बह्माभिधं पदम् ।। ४३ ।।' -वही अध्याय ५ ।

२९ 'निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम् ।
त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषा ।। ६० ।।' -वही ।

३० 'महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ।
जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वत्तिचेतसः ।। ६१ ।।' -महोपनिषद् अध्याय ५ ।

सुस्थिर बना लिया है, जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों से उपर उठ गया है, वस्तुतः वही समत्वयोगी है, ब्रह्म है।[३१] जो मन से राग रहित हो गए हैं; अनासक्त और द्वन्द रहित तथा निरावलम्ब हो गए हैं; जो पिंजड़े से मुक्त पक्षी की तरह मोह से मुक्त हो गए हैं;[३२] जिनके संशय शान्त हो गये हैं; जो प्रपंच और कौतुक से विमुक्त हैं; वे समत्वयोगी हैं।[३३] जो यह मानता है कि मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म स्वरूप हूँ; वही वास्तव में ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला है – समत्वयोगी है।[३४]

महोपनिषद् में आगे यह बताया गया है कि हाथ से हाथ को मलने से, दाँत से दाँत को पीसने पर तथा अंगों से अंगों को दबाने से ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हो सकती।[३५] जिसने इन्द्रिय-रूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर लिया है तथा चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है और जिसकी भोग लिप्साएँ समाप्त हो गई हैं; वही सच्चा समत्वयोगी है।[३६] सभी संज्ञाओं और संकल्पों से रहित जो यह चिदात्मा अविनाशी या स्वात्मा आदि नामों से जानी जाती है; वही परम ब्रह्म या आत्मा है।[३७] महोपनिषद् में आगे कहा गया है कि वास्तव में यह संसार अस्तित्त्व रहित है। यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी दृष्टि ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत

---

३१ 'मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः ।
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ।। ६२ ।।' -वही ।

३२ 'निरागं निरूपासङ्ग निर्द्वन्द्वं निरूपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पंजरादिव ।। ६७ ।।' -वही ।

३३ 'शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकोतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ।। ६८ ।।' -वही ।

३४ 'नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निराममम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्याद्य। पश्यति स पश्यति ।। ६६ ।।' - वही ।

३५ 'हस्तं हस्तेन संपीडय दन्तैर्दन्तान्वि चूर्ण्य च ।
अंङ्गान्यअङ्गैरिवा क्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ।। ७५ ।।' -वही ।

३६ 'प्रङ्गेचित्तदर्पस्य निगृही तेन्द्रिय द्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ।। ७७ ।।' -वही ।

३७ 'सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञा सर्वज्ञाविवर्जिता ।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ।। १०० ।।' -वही ।

होगी, तभी तुम समत्व में स्थिर हो पाओगे।[३८] आगे छटे अध्याय में बताया गया है कि मुक्त और शान्त वही है, जिसने हृदय से सभी वासनाओं को त्याग दिया है। वही परमेश्वर है।[३९] जो प्रबुद्ध और जाग्रत हो गया है, वह समत्वयोगी यही कहता है कि मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है।[४०] जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासनाओं का परित्याग करके ममता रहित हो जाता है, वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है।[४१] जो मनुष्य अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग कर ध्येय अर्थात् इच्छित वस्तु का सम्यक् रूप से परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त या समत्वयोगी कहलाता है।[४२]

जिसमें अनासक्ति, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता[४३] मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण निवास करते हैं; वही प्रज्ञावान् पुरुष समत्वयोगी है।[४४]

५.१.१ श्रीमद्भगवद्गीता में समत्वयोग

गीता का मुख्य उपदेश भी समत्वयोग की साधना है; क्योंकि

---

३८ 'प्रतिभासए स्वेदं न जगत्परमार्थतः ।
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधवितोदये ।। १०८ ।। -वही ।

३९ 'हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः समुक्तः परमेश्वरः ।।८।।' -वही अध्याय ६ ।

४० 'प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चौरोऽयमात्मनः ।
मनोनाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ।।२७।।' - महोपनिषद् अध्याय ६ ।

४१ 'सर्वं समतया बुद्ध्यायः कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं नेयऽसौ वासनाक्षयः ।।४४।।' -वही ।

४२ 'अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ।।४५।।' -वही ।

४३ 'निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ।।२६।।' -वही ।

४४ 'धृतिमैत्री मनस्तुष्टि मृदुता मृदुभाषिता ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्य पवासनम् ।।३०।।' -वही ।

उसमें समत्व को ही योग कहा गया है।[४५] समत्व या समता मानव जीवन की महान साधना एवं अनुपम उपलब्धि है। व्यक्ति इसी से सुख, शान्ति और निर्वाण को प्राप्त करता है।

डॉ. सागरमल जैन ने समत्व की उपलब्धि के लिए त्रिविध साधना-पथ का प्रतिपादन किया है। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प पक्ष को समत्व से युक्त अर्थात् सम्यक् बनाने के लिए जैनदर्शन ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्-चारित्र को स्वीकार किया है। उसी प्रकार बौद्धदर्शन ने प्रज्ञा, शील और समाधि को स्वीकृत किया है। वैसे ही गीता ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन किया है।[४६]

ज्ञान, कर्म और भक्ति सभी समत्व के लिए होते हैं। ये तीनों साधन हैं और समत्व साध्य है। गीता में बताया गया है कि जो सभी में समत्व दृष्टि रखता है, वही ज्ञानी है।'[४७] बिना समत्व के कर्म अकर्म नहीं होता[४८] और समत्व भाव से ही यथार्थ भक्ति उपलब्ध होती है।

समत्व के रहते हुए ही ज्ञान, कर्म और भक्ति का मूल्य या अर्थ है। वस्तुतः जब तक ज्ञान, कर्म और भक्ति समत्व से युक्त नहीं होते हैं, तब तक उनके द्वारा मुक्ति सम्भव नहीं होती है। ज्ञान, कर्म और भक्ति के समत्व के बिना ज्ञानयोग व कर्मयोग भक्तियोग नहीं बन सकते। समत्व से इनका रूप बदल जाता है। जैन परम्परा में भी ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (कर्म) जब तक सम्यक् या समत्व से युक्त नहीं होते, तब तक वे सम्यक् होकर मोक्षमार्ग के अंग नहीं बनते हैं।

---

४५ 'योगस्थः कुरू कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। ४८ ।।' -गीता अध्याय २ ।

४६ 'जैन, बौद्ध एवम् गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १८ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

४७ 'विद्या विनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।१८।।' -गीता अध्याय ५ ।

४८ 'यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।' -वही अध्याय ४ ।

गीता में परमात्म की प्राप्ति को ही साध्य कहा गया है। गीता में ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को सम कहा गया है। गीता के अनुसार मुक्त वही कहलाता है, जिसका मन संसार में रहते हुए भी समभाव में रमण करता है, क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष एवं सम है।[४९] ब्रह्म उसी समत्व में स्थित है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो समत्व में स्थित है, वह ब्रह्म में स्थित है; क्योंकि सम ही ब्रह्म है। गीता में ईश्वर को समत्व रूप से स्वीकार किया गया है। कृष्ण गीता के नवें अध्याय में कहते हैं कि सभी प्राणियों में मैं सम के रूप में स्थित हूँ।[५०] गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है कि वास्तविक ज्ञानी उसे ही कहा जाता है, जो सभी को समत्वपूर्वक देखता है। इस प्रकार गीता में समभाव या समत्वयोग की साधना पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है।[५१] गीता का कथन है कि जो सभी प्राणियों में समान रूप से स्थित परमेश्वर को समभाव से देखता है, वह अपने द्वारा अपना ही घात नहीं करता अर्थात् वीतराग स्वभाव या अपने समत्व को नष्ट नहीं होने देता।[५२] यही मुक्ति की प्राप्ति है। गीता के छठे अध्याय में परमयोगी के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। गीता के अनुसार परमयोगी वही है, जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है।[५३] गीताकार का कथन है कि योग से युक्त आत्मा वही है, जो समदर्शी है।[५४] योगी की पहचान समत्व या समभाव से ही है। सच्चा योगी तो वही है, जिसने समत्व की साधना की है।

---

४९ 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। १९ ।।' -गीता अध्याय अध्याय ५ ।

५० 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।। २९ ।।' -श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ९ ।

५१ 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। २८ ।।' -वही अध्याय १३ ।

५२ 'समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २९ ।।' -वही ।

५३ 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।' -वही अध्याय ६ ।

५४ 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।' -वही ।

गीता का यथार्थ योग समत्वयोग है। छठे अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से कहा था कि मन की चंचलता के कारण समत्व को पाना सम्भव नहीं है। इस मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म, तप, ध्यान और भक्ति ही साधन बताये गये हैं।[५५] किन्तु इनमें सबसे श्रेष्ठ तो समत्वयोग ही है। समत्वयोग में योग शब्द का अर्थ जोड़ना नहीं है; क्योंकि समत्वयोग भी ऐसी अवस्था में साधनयोग होगा - साध्ययोग नहीं। एकाग्रता, ध्यान या समाधि भी समत्वयोग के साधन हैं।

आचार्य शंकर कहते हैं कि गीता में समत्वयोग का अर्थ आत्मतुल्यता या आत्मवत् दृष्टि है। प्रत्येक प्राणी के प्रति आत्मवत् दृष्टि अथवा समानता का भाव हो तथा सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, मान-अपमान, शत्रुता-मित्रता आदि परिस्थितियों में मन विचलित नहीं हो; यही समत्वयोग की साधना है।[५६] संकल्प-विकल्पों से मानस का मुक्त होना ही समत्व है। समत्व न केवल तुल्यदृष्टि या आत्मवत् दृष्टि है, अपितु मध्यस्थ-दृष्टि, वीतराग-दृष्टि एवं अनासक्त दृष्टि भी है।

गीता में अनेक दृष्टिकोणों से समत्वयोग की शिक्षा दी गई है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'हे अर्जुन! मोक्ष या अमरत्व का अधिकारी वही व्यक्ति होता है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है तथा इन्द्रियों को व्याकुल नहीं होने देता।'[५७] समत्व से युक्त व्यक्ति कभी पाप नहीं करता। वह सुख-दुःख, जय-पराजय या लाभ-हानि में विचलित नहीं होता है। समत्वभाव से युक्त होकर यदि वह युद्ध भी करे, तो भी उसे पाप नहीं लगता है।"[५८] आगे वे कहते हैं कि "हे अर्जुन! सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर तथा आसक्ति का

---

५५ 'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।। ४६ ।।' -वही ।

५६ 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।' - वही ।

५७ 'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरूषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १५ ।।' -गीता अध्याय २ ।

५८ 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। ३८ ।।' -वही ।

त्याग करके समत्वभाव से तू कर्मों का आचरण कर; क्योंकि समत्व ही योग है।[५८] हे अर्जुन ! यदि तू फल की प्राप्ति की इच्छा से रहित समत्व बुद्धि का आश्रय लेकर कर्म कर। ये सकाम कर्म अति तुच्छ हैं।"[५९]

समत्व बुद्धि-रूप योग ही कर्मबन्धन से छूटने का कारण है। पुण्य-पाप से अनासक्त रहकर साम्यबुद्धि से कर्म करने की कुशलता ही योग है।[६१] जो राग-द्वेष एवं ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि-असिद्धि में भी समभाव से युक्त है, जो स्वाभाविक उपलब्धियों से सन्तुष्ट है, वह जीवन के सामान्य व्यापारों को करते हुए भी बन्धन में नहीं बन्धता है।[६२] जो शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख और दुःख जैसी विरोधी परिस्थितियों में सदैव प्रशान्त रहता है अर्थात् समभाव रखता है; तो मान लो कि उसने अपनी आत्मा को जीत लिया है और वह परमात्मभाव में सदैव स्थिर है।[६३] जो लोहे एवं कांचन दोनों में समानभाव रखता है; जिसकी आत्मा तत्त्वज्ञान एवं आत्मज्ञान से तृप्त है; जो अनासक्त एवं संयमी है, वही योगी योग या समत्वयोग से युक्त है।[६४] वही व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसका हृदय मित्र और शत्रु के प्रति तटस्थ है। जो द्वेषी एवं बन्धु में तथा धर्मात्मा और पापात्मा के प्रति समभाव रखता है, वही अति श्रेष्ठ है।[६५] जो

---

५८ 'योगस्थः कुरू कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। ४८ ।।' -वही ।

५९ 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। ४९ ।।' -वही ।

६१ 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। ५० ।।' -वही ।

६२ 'यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिध्दावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।। २२ ।।' -वही अध्याय ४ ।

६३ 'जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।। ७ ।।' -वही अध्याय ६ ।

६४ 'ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकांचनः ।। ८ ।।' - गीता अध्याय ६ ।

६५ 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ९ ।।' -वही ।

प्रत्येक परिस्थिति में दृष्टाभाव से जीता है, सभी के प्रति समभाव रखता है; वही मुक्तात्मा है। वही परम योगी है, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है।[६६] वही व्यक्ति परमात्मपद की प्राप्ति कर सकता है, जो समत्व बुद्धि से अपनी इन्द्रियों को संयमित कर सभी प्राणियों के प्रति कल्याण की भावना रखता है।[६७] जो शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना करता है और इस प्रकार समभाव में जीता है, वह भक्तियुक्त व्यक्ति सभी का प्रिय बन जाता है।[६८] जो ईश्वर के ध्यान में निरन्तर तल्लीन रहता है, स्वयं की निन्दा और स्तुति में समभाव रखता है, शरीर का निर्वाह ममत्व रहित होकर करता है; वह स्थिर बुद्धिवाला पुरूष सभी को प्रिय है।[६९] जो शरीर की डाँवाडोल स्थिति में भी परमात्मा को ज्यों का त्यों देखता है; वही समत्व की साधना करता है।[७०] जो पुरुष शरीर का नाश होने पर भी अपनी आत्मा को अखण्ड, अविनाशी, अजर एवं अमर मानता है; वही परमगति को पाने का अधिकारी है।[७१]

समत्व-दर्शन यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य अंग है तथा समदर्शी ही सच्चा पण्डित या ज्ञानी है।[७२] ज्ञान की सार्थकता और ज्ञान का

---

६६ 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।' -वही ।

६७ 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ।। ८ ।।' वही ।

६८ 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।। १७ ।।' -वही अध्याय १२ ।

६९ 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। १९ ।।' -वही ।

७० 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। २८ ।।' -वही अध्याय १३ ।

७१ 'समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २९ ।।' -वही ।

७२ 'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। १८ ।।' - गीता अध्याय ५ ।

अन्तिम लक्ष्य समत्व-दर्शन है।[७३] गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है कि जो पुरुष नष्ट होते हुए भी चराचर जगत् में परमेश्वर को नाश रहित और समभाव में स्थित देखता है, अपने समान परमेश्वर को देखता हुआ स्वयं को नष्ट नहीं करता; वही परम गति को प्राप्त करता है।[७४] समत्व भावना के उदय से भक्ति का सच्चा रूप प्रकट होता है। गीता के अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो समत्व भाव में स्थित होता है, वही मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है।[७५] बारहवें अध्याय में सच्चे भक्त का लक्षण ही समत्व वृत्ति का उदय माना है।[७६] समत्वभाव की स्थिति में ही व्यक्ति कर्म को अकर्म बना देता है। समत्वभाव में स्थित व्यक्ति का आचरण सर्वदा पापबन्ध से मुक्त रहता है।[७७] जिस साधन के द्वारा चित्त समाधि को प्राप्त करता है, वही समत्वयोग है।[७८]

इसी प्रकार गीता में ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी समत्व प्राप्त करने के लिए हैं। जब ये समत्व से युक्त हो जाते हैं, तब अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करते हैं और ज्ञान यथार्थज्ञान बन जाता है। भक्ति परम-भक्ति हो जाती है। कर्म अकर्म हो जाता है और ध्यान निर्विकल्प समाधि को उपलब्ध कर लेता है। विनोबाजी

---

७३ 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। २७ ।।' -वही अध्याय १३ ।

७४ 'समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २८ ।।;' -गीता अध्याय १३ ।

७५ 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। ५४ ।।' -वही अध्याय १८ ।

७६ (क) 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्ति मान्यः स मे प्रियः ।। १७ ।।' -वही अध्याय १२ ।
(ख) 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। १८ ।।' -वही ।

७७ 'सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। ३८ ।।' -वही अध्याय २ ।

७८ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। ५३ ।।' -वही ।

ने भी गीता को साम्ययोग का शास्त्र कहा है।[७९]

५.१.२ महाभारत में समत्वयोग

उपनिषदों के समान ही हिन्दू धर्मदर्शन के पौराणिक साहित्य में भी समत्वयोग की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। श्रीमद्भागवत् में तो यह कहा गया है कि समत्व की आराधना ही अच्युत या परमात्मा की आराधना है। इसी तथ्य को महाभारत के शान्तिपर्व में भी अभिव्यक्त किया गया है। उसमें कहा गया है कि सुख-दुःख आदि सभी स्थितियों में और समस्त प्राणियों में परमात्मा समभाव से स्थित हैं। इस प्रकार महाभारत में यह स्वीकार किया गया है कि परमात्मा सभी प्राणियों में समत्वरूप से उपस्थित है। यही कारण है कि समत्व की साधना को परमात्मा की उपासना माना जाता है।[८०]

महाभारत में समत्वयोग के स्वरूप का सुन्दर विवेचन हमें शान्तिपर्व में मिलता है। उसमें कहा गया है कि जिसने ममता और अहंकार का त्याग कर दिया है; जो शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहता है; जिसके संशय दूर हो गये हैं;[८१] जो कभी क्रोध और द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, किसी की गाली सुनकर और मार खाकर भी उसका अहित नहीं सोचता, सब पर मित्रभाव ही रखता है; जो मन, वाणी और कर्म से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाता और समस्त प्राणियों पर समभाव रखता है;[८२] वही समत्वयोगी ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। जो किसी वस्तु की न इच्छा करता है, न अनिच्छा ही करता है – जीवन निर्वाह के लिए

---

७९ 'गीताई'। -विनोबा।

८० 'समः सर्वेषु भूतेषू ईश्वरः सुखदुःखयोः।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुति ।। ३४५ ।।'-महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २८।

८१ 'निर्ममश्चानहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्न संशयः।
नैव क्रुद्धयति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ।। ३४ ।। - महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६।

८२ 'आक्रुष्ट स्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम्।
वाग्दण्डकमै मनसां त्रयाणां च निवर्तकः ।। ३५ ।।' -वही।

जो कुछ मिल जाता है, उसी पर सन्तोष करता है;[८३] जो निर्लोभ, व्यथारहित और जितेन्द्रिय है; जिसको न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न कुछ न करने से ही प्रयोजन है; जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चंचल नहीं होते; जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है;[८४] जो समस्त प्राणियों पर समान दृष्टि और मैत्रीभाव रखता है; मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को एकसा समझता है; जिसकी दृष्टि में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं है; जो धीर है और अपनी निन्दा तथा स्तुति में सम रहता है;[८५] जो सम्पूर्ण भोगों में स्पृहा रहित है; जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित है तथा जो सब प्राणियों में हिंसाभाव से रहित है – ऐसा समत्वयोगी या ज्ञानी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।[८६]

मात्र यही नहीं कि महाभारत में केवल वैयक्तिक स्तर पर समत्वयोग की बात कही गयी है, अपितु सामाजिक जीवन में भी समत्व को महत्त्व दिया है। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के प्रथम अध्याय में राजा को यह निर्देश दिया गया है कि वह सभी प्राणियों (प्रजाजनों) के प्रति समभाव का बर्ताव करे। इस प्रकार महाभारत में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से समत्व की चर्चा है, अपितु व्यवहार के स्तर पर भी वह समभाव की स्थापना पर बल देता है;[८७] क्योंकि जो जितात्मा सभी प्राणियों के प्रति समभाव का व्यवहार करता और ममतारहित होता है, उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता।[८८] इस प्रकार महाभारत सामाजिक जीवन में समत्व की

---

८३ 'समः सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणभिवर्तते ।
नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ।। ३६ ।।' –महाभारत शान्तिपर्व २६ ।

८४ 'अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ।
नास्येन्द्रियमनकाग्रं न विक्षिप्त मनोरथः ।। ३७ ।।' –वही अध्याय ३४ ।

८५ 'सर्वभूतसदृऽमैत्रः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति ।। ३८ ।।' –वही ।

८६ 'अस्पृहः सर्व कामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढ़व्रतः ।
अहिंस्नः सर्वभूतानामीदृक् सांख्योविमुच्चते ।। ३९ ।।' –वही ।

८७ 'समं सर्वेषु भूतेषु वर्तमानं नराधिप ।
अनु जीवन्तु सर्वे त्वां ज्ञातयो भ्रातभिः सह ।। ७ ।।' –वही अश्वमेघपर्व अध्याय १ ।

८८ 'सभस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात् परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।। २४ ।।'– महाभारत अश्वमेघपर्व अध्याय २८ ।

साधना का आधार निर्भयता को बताती है।

५.२ बौद्धदर्शन में समत्वयोग

बौद्धदर्शन में अष्टांगिक साधना-मार्ग के प्रत्येक अंग का सम् या सम्यक् होना आवश्यक माना गया है। यहाँ सम्यक् होने का तात्पर्य राग-द्वेष और मोह से रहित होना या उससे ऊपर उठना है। वस्तुतः राग-द्वेष का प्रहाण ही समत्वयोग की साधना का प्राण है।

बौद्ध अष्टांगिक आर्य-मार्ग में अन्तिम अंग सम्यक् समाधि है। डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में यदि हम समाधि को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें, तो निश्चित ही वह मात्र ध्यान की एक अवस्था न होकर चित्तवृत्ति का समत्व है। चित्तवृत्ति का राग-द्वेष से शून्य होना तथा वीतराग अवस्था को प्राप्त होना, यही समाधि है। इस अर्थ में वह जैन परम्परा के समाहि (समाधि - सामायिक) शब्द से अधिक दूर नहीं है।[८९] सूत्रकृतांगचूर्णि में कहा गया है कि राग-द्वेष का परित्याग ही समाधि है।[९०] भगवान बुद्ध ने कहा है कि जिसने धर्मों को ठीक प्रकार से जान लिया और जो किसी मतमतान्तर के पक्ष में नहीं है, वही सम्बुद्ध है, समदृष्टा है और विषम स्थिति में भी उसका आचरण सम रहता है।[९१] बुद्धि, दृष्टि और आचरण के साथ लगा हुआ सम् प्रत्यय बौद्धदर्शन में समत्वयोग का ही प्रतीक है; जो बुद्धि, मन और आचरण तीनों को सम बनाने का निर्देश देता है। संयुक्तनिकाय में कहा गया है कि आर्यों का मार्ग सम है। आर्य विषम स्थिति में भी सम का आचरण करते हैं।[९२] धम्मपद में बुद्ध कहते हैं कि जो समत्व बुद्धि से आचरण करता है; जिसकी वासनाएँ शान्त हो गई हैं; जो जितेन्द्रिय है तथा संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करता है; जो सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखता है; किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता - ऐसा व्यक्ति चाहे

---

८९ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. ७-८। -डॉ. सागरमल जैन।

९० सूत्रकृतांगचूर्णि १/२२।

९१ संयुक्तनिकाय १/१/८।

९२ वही १/२/६।

आभूषणों को भी क्यों न धारण कर ले; फिर भी श्रमण है, भिक्षुक है।[६३] यह विचार उत्तराध्ययन के इस कथन की पुष्टि करता है कि समता से ही श्रमण कहा जाता है। जैन विचारणा में 'सम' का अर्थ कषायों का उपशम है। इस अर्थ में भी बौद्ध विचारणा समत्वयोग का समर्थन करती है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि राग-द्वेष एवं मोह का उपशम ही परम आर्य उपशम है।[६४] इस प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराओं में समता का आचरण करने वालों को समान रूप से ही श्रमण माना गया है।[६५] समत्व का अर्थ आत्मवत् दृष्टि स्वीकार करने पर भी बौद्ध विचारणा में उसका स्थान निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। सुत्तनिपात में कहा गया है - "जैसा मैं हूँ, वैसे ही जगत् के सभी प्राणी हैं। इसलिए सभी प्राणियों के प्रति अपने समान आचरण करना चाहिये।" समत्व का अर्थ राग-द्वेष का प्रहाण या राग-द्वेष की शून्यता करने पर भी बौद्ध विचारणा में समत्वयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। उदान में कहा गया है कि राग-द्वेष और मोह का क्षय होने से ही निर्वाण प्राप्त होता है। बौद्धदर्शन में वर्णित चार ब्रह्म विहार अथवा भावनाओं में भी समत्वयोग का चिन्तन परिलक्षित होता है। मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रमोद) और माध्यस्थ्य भाव - इनमें प्रथम तीन स्पष्ट हैं। माध्यस्थ्य भावना या उपेक्षा के लिए सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय और लौह-कांचन में समभाव रखना आवश्यक है। वस्तुतः बौद्धदर्शन जिस माध्यस्थ्यवृत्ति पर बल देता है, वह समत्वयोग ही है।

५.३ जैनदर्शन में समत्वयोगी और गीता के स्थितप्रज्ञ का तुलनात्मक अध्ययन

जैन साधना में जीवन का परम सार वीतरागता की उपलब्धि को कहा गया है। वस्तुतः वीतराग दशा पूर्ण समत्व की अवस्था है। पूर्व में हमने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि समत्व राग-द्वेष से

---

६३ धम्मपद १४२।

६४ मज्झिमनिकाय ३/४०/२।

६५ धम्मपद ३८८। -तुलना कीजिये उत्तराध्ययन २५/३२।

समत्व योगी

ऊपर उठने पर ही उपलब्ध होता है। जो राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है; वही वीतराग या समत्वयोगी कहलाता है, क्योंकि उसके जीवन में ही समत्व पूर्ण रूप से साकार होता है। जैनागमों में वीतरागता के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो ममत्व एवं अहंकार से रहित है, जिसके चित्त में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, जो मान-अपमान की स्थिति में भी विचलित नहीं होता है और प्राणीमात्र के प्रति समभाव रखता है; वही वीतराग या समत्वयोगी है।[६६]

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान और निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखता है; वही समत्वयोगी या सामायिक का साधक है। जिसे इस लोक या परलोक में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, जो इच्छाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठ गया है, जो चन्दन का लेप करने वाले और वसूली से छीलने वाले दोनों के प्रति समभाव रखता है अर्थात् न चन्दन का लेप करने वाले पर प्रसन्न होता है और न वसूली से शरीर को छीलने वाले पर आक्रोश करता है; वही समत्वयोगी है।[६७] जिस प्रकार अग्नि में तपकर सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार आत्मा समभाव की साधना से निर्मल होती है। जिस प्रकार कमल कीचड़ और पानी में उत्पन्न होकर भी उनमें लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहते हुए भी सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त नहीं होता; वही समत्वयोगी है। उत्तराध्ययनसूत्र के ३३वें अध्ययन में समत्वयोगी की जीवन शैली कैसी होती है, इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि जब तक इन्द्रियाँ हैं इन्द्रियों के विषयों से सम्पर्क होता ही है। वस्तुतः विरक्त आत्मा, अनासक्त पुरुष या समत्वयोगी वही है जो इन्द्रियों के विषयों के उपलब्ध होने पर भी न अनुकूल के प्रति राग करता है और न प्रतिकूल के प्रति द्वेष करता है। वस्तुतः ऐन्द्रिक विषय की अनुभूति पतन का कारण नहीं है। व्यक्ति के पतन का कारण इन ऐन्द्रिक विषयों के प्रति राग-द्वेष का भाव

---

[६६] 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४१६। -डॉ सागरमल जैन।

[६७] उत्तराध्ययनसूत्र १६/६०-६३।

है। इसलिए कहा गया है कि वीतराग पुरुष या समत्वयोगी इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस आदि विषयों में राग-द्वेष नहीं करता। ये विषय रागी व्यक्ति के लिए ही दुःख का कारण होते हैं। वीतरागी के लिए दुःख के कारण नहीं होते। वस्तुतः समत्वयोगी वही है, जो न अनुकूल के प्रति राग करता है और न प्रतिकूल के प्रति द्वेष करता है। वह राग-द्वेष और मोहजन्य अध्यव्यसायों को दोष रूप जानकर उनके प्रति सदैव जाग्रत रहता है और अपनी चेतना को उनसे आक्रान्त नहीं होने देता। वस्तुतः वीतराग पुरुष या समत्वयोगी वही है जिसने राग-द्वेष और मोह का प्रहाण कर दिया है। वह सदैव समाधि भाव में स्थित रहकर संसार से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[६८] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में समत्वयोगी या वीतराग के जो लक्षण कहे गये हैं, वे ही लक्षण बौद्धदर्शन में अर्हत् और गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे गये हैं।

जैनदर्शन का समत्वयोगी या वीतराग, बौद्धदर्शन का अर्हत् और गीता का स्थितप्रज्ञ वस्तुतः समरूप ही प्रतीत होते हैं। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से हम यहाँ बौद्धदर्शन के अर्हत् और गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

५.४ बौद्धदर्शन अर्थात् अर्हत् का स्वरूप

बौद्धदर्शन के अर्हत् को हम समत्वयोगी कह सकते हैं; क्योंकि जैनदर्शन में जो समत्वयोगी के लक्षण कहे गये हैं, वे बौद्धदर्शन के लक्षणों से मिलते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन ने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से चर्चा की है। हम उसे ही आधारभूत मानकर यहाँ अर्हत् के लक्षणों का विवेचन करेंगे। बौद्धदर्शन में जीवन का आदर्श अर्हतावस्था को स्वीकार किया है। इस अर्हतावस्था का तात्पर्य तृष्णा या राग-द्वेष की वृत्तियों का पूर्णतः क्षय होना है। बौद्धदर्शन में अर्हत् को स्थितात्मा, केवली,

---

[६८] वही ३३/१०६-११०।

उपशान्त आदि नामों से भी जाना जाता है।[९९] धम्मपद एवं सुत्तनिपात में अर्हत् के जीवनादर्श का निम्न विवरण उपलब्ध होता है।

धम्मपद में अर्हत्-वर्ग में कहा गया है कि "जो पृथ्वी के समान गम्भीर हो, जो इन्द्र के स्तम्भ के समान अपने व्रत में अचल हो, जिसका चित्त निर्मल हो, जिसकी वासनाएँ शान्त हो गई हों, जिसकी बुद्धि समत्व का आचरण करती हो, जो संयम एवं ब्रह्मचर्य का पालन करता हो, जिसका व्यवहार प्रत्येक जीवात्मा के प्रति मैत्रीपूर्ण हो, जिसने संसार अर्थात् जन्म-मरण का चक्र समाप्त कर दिया हो; ऐसा व्यक्ति चाहे वह आभूषणों को धारण करने वाला गृहस्थ ही क्यों न हो - वस्तुतः वह श्रमण है, भिक्षुक है।[१००]

बुद्ध का पहला धर्मोपदेश 'धम्मचक्कपवत्तनसुत्त' में मिलता है। इसमें उन्होंने चार आर्य-सत्यों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "दुःख है; दुःख का कारण है; दुःख का निरोध सम्भव है और दुःख निरोध का मार्ग है।"

बौद्ध धर्म श्रमण, ब्राह्मण या भिक्षु सबके लिए समता को अनिवार्य मानता है। जो समभाव में रहता है, संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, शान्त एवं दमनशील है, जिसने दण्ड का त्याग कर रखा है; वही ब्राह्मण है - वही श्रमण एवं भिक्षु है।[१०१] बुद्ध कहते हैं "प्राणीमात्र को अपने समान जानकर न तो स्वयं उसको दुःखी करो और न ही दूसरों को दुःख देने की प्रेरणा दो; क्योंकि अपना जीवन सबको प्रिय है एवं दण्ड की मार से सभी घबराते हैं।"[१०२]

बुद्ध फिर आगे कहते हैं "जो शरीर के त्यागने के पूर्व ही तृष्णा से रहित हो गया हो, जिसने क्रोध को जीत लिया हो, जो

---

[९९] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४१७। -डॉ. सागरमल जैन।

[१००] धम्मपद ६४-६७।

[१०१] 'अलंकतो चे पि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेषु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो समणो स भिक्खु ।। १४२ ।।' -धम्मपद।

[१०२] 'सब्बे तसन्ति दंडस्स सब्बेसं जीवनं पियं।
अप्पाणं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।।' -वही।

आत्म-प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखता है, जो गर्व से रहित है, जिसके वचन संयमित हैं, जिसको प्रिय वस्तु के प्रति कोई आसक्ति नहीं है और अप्रिय वस्तु के प्रति कोई घृणा नहीं है, जो स्वभाव से शान्त एवं प्रतिभाशाली है और जो न तो किसी के प्रति आसक्त है और न किसी के प्रति उदास - समभाव में रहता है; वही अर्हत् है।[१०३]

५.५ गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षण

वस्तुतः जिसे जैनदर्शन समत्वयोगी या वीतराग कहता है और बौद्धदर्शन में जिसे अर्हत् कहा गया है, उसे ही गीता में स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञ का तात्पर्य है, जिसकी प्रज्ञा अर्थात् विवेक राग-द्वेष के आवेगों से विचलित नहीं होता, जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समभाव रखता है; उसे ही स्थितिप्रज्ञ कहते हैं। जिस प्रकार निर्वात् दशा में रही हुई दीपक की लौ विचलित नहीं होती, उसी प्रकार जिसकी विवेक बुद्धि अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सम बनी रहे; उसे ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।[१०४] गीता के दूसरे एवं बारहवें अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। हम यहाँ उसे मूल ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

गीता में श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि "जब व्यक्ति मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है और जो 'स्व' आत्मा की रमणता में सन्तुष्टि मानता है; दुःखों की प्राप्ति में भी जो उद्विग्न नहीं होता तथा सुखों के प्रति जिसके मन में कोई स्पृहा नहीं होती; जो राग-द्वेष एवं ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि असिद्धि में समभाव से युक्त है; जीवन के सामान्य व्यापारों को करते हुए भी बन्धन में नहीं आता; जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहंकार रहित और

---

१०३ सुत्तनिपाक ४८/२-६, ६-१० ।

१०४ 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। १६ ।।' -गीता अध्याय ६ ।

स्पृहा रहित हो गया है - वही शान्ति को प्राप्त होता है।[१०५] जिस पुरुष ने अपनी इन्द्रियों को कछुए के समान समेट लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।[१०६] जैसे नाना नदियों का पानी समुद्र में जाकर समा जाता है; वैसे ही सब भोग बिना विकार उत्पन्न किये जिस स्थितप्रज्ञ में समा जाते हैं; वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त करता है।[१०७] वस्तुतः समता ही एकता है। यही परमेश्वर का स्वरूप है। इसमें स्थित हो जाने का नाम ही 'ब्राह्मी स्थिति' है। वह त्रिगुणातीत, निर्विकार, स्थितप्रज्ञ और योगयुक्त कहलाता है। समत्वभाव से यथार्थ भक्ति की उपलब्धि होती है।[१०८] जो ममता और अहंकार से रहित सुख-दुःख में समभाव रखनेवाला, क्षमाशील, सन्तुष्ट, योगी, यतात्मा और दृढ़निश्चयी है, जिसका मन और बुद्धि परमात्मा में नियोजित है, जो न कभी हर्षित होता है, न कभी द्वेष करता है, न कामना करता है तथा शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के प्रति फलासक्ति को त्याग चुका है, जो सभी द्वन्द्वों में समभाव से युक्त है; वही स्थितप्रज्ञ है।[१०९]

---

१०५ 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। ५५ ।।' - वही २ ।
दुःखेष्वनुद्वग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ।। ५६ ।।' -वही ।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। २३ ।।' -वही अध्याय ४ ।
विहायकामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।' -वही अध्याय २ ।

१०६ 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५८ ।।' -वही ।

१०७ 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति य यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।' -वही ।

१०८ 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति ।। ७२ ।।' - गीता अध्याय २ ।

१०९ 'विहाय कामान्यः सर्वापुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।' -वही ।

५.६ तुलनात्मक

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन के समत्वयोगी या वीतराग बौद्धदर्शन के अर्हत् और गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में सैद्धान्तिक रूप से कहीं भी मतभेद नहीं है। तीनों ही परम्पराएँ यह मानकर चलती हैं कि जो व्यक्ति जीवन में आनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में विचलित नहीं होता है; जो मान-अपमान, लाभ-हानि और निन्दा-प्रशंसा की स्थितियों में अपने समभाव को नहीं खोता है; जो न अनुकूल संयोगों के प्रति राग-भाव रखता है; न उनकी आकाँक्षा करता है और न प्रतिकूल संयोगों में द्वेष भाव रखकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है; जिसकी चित्तवृत्ति को अनुकूल-प्रतिकूल दशाएँ विचलित नहीं करती हैं; वही वस्तुतः वीतराग, अर्हत् या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है और उसे ही हम समत्वयोगी की संज्ञा दे सकते हैं। समत्वयोगी या वीतराग सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर इस प्रकार का व्यवहार करता है कि उसके निमित्त से किसी भी प्राणी को पीड़ा या उद्वेग न हो। इस प्रकार वह अपने सामाजिक सम्बन्धों में भी समायोजनपूर्ण एवं सन्तुलित रहता है। उसका चित्त उद्वेलित नहीं रहता। वस्तुतः जो न राग करता है, न द्वेष करता है और न कामना करता है; वही समत्वयोगी है। जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराएँ इसी समत्व की स्थिति को प्राप्त करने का सन्देश देती हैं।[११०]

।। पंचम अध्याय समाप्त ।।

---

[११०] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४१६-१६। -डॉ. सागरमल जैन।

अध्याय ६

आधुनिक मनोविज्ञान और समत्वयोग

आधुनिक मनोविज्ञान में विशेष रूप से तथा असामान्य मनोविज्ञान में मानसिक विक्षोभों एवं तनावों के स्वरूप एवं कारणों का विश्लेषण उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा तो असामान्य मनोविज्ञान के ग्रन्थों में की जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान में तनाव-प्रबन्धन (स्ट्रेस मेनेजमेण्ट) नामक एक नई विधा का विकास हुआ है। इस विधा का सम्बन्ध जैनदर्शन के समत्वयोग की साधना से है। अतः इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ चर्चा करेंगे।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार जब व्यक्ति में इच्छाओं और आकांक्षाओं का स्तर बहुत अधिक होता है, जैसा कि इस भौतिक उपभोक्तावादी संस्कृति में हुआ है, तब वह उनकी पूर्ति करने में असमर्थ होता है और उन इच्छाओं और आकांक्षाओं को दमित कर अपने अचेतन मन में डाल देता है। अचेतन में दबी हुई ये इच्छाएँ और वासनाएँ उसके व्यक्तित्व को असन्तुलित बना देती हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अपूर्ण इच्छाएँ वैयक्तिक असामान्यताओं को जन्म देती हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति की आत्मिक शान्ति अर्थात् समत्व भंग हो जाता है। ऐसा व्यक्ति बाह्य परिवेश से सन्तुलन बनाने में असमर्थ होता है। वह सदैव उद्विग्न बना रहता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसके परिणामों की चर्चा करते हुए यह बताया है कि असन्तुलित व्यक्ति न केवल अपने परिवेश के साथ सामन्जस्य बनाने में असफल रहता है, अपितु उसमें हीन भावग्रन्थि या श्रेष्ठ भावग्रन्थि का विकास होता है। इस प्रकार वह यथार्थ से अपना मुख मोड़ लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इच्छाओं या आकांक्षाओं के अति उच्च स्तर के परिणामस्वरूप व्यक्ति के जीवन में विक्षोभों और तनावों का जन्म होता है। मनोवैज्ञानिक इन विक्षोभों और तनावों के परिणामों को स्पष्ट करते हुए यह बताते

हैं कि विक्षोभों के परिणामस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार में असामान्यता का विकास होता है। उसका जीवन व्यवहार अव्यवस्थित बन जाता है। साथ ही तनावों के परिणामस्वरूप उसका मानसिक सन्तुलन भंग होता है। वह अति सांवेगिक बन जाता है। उसके मनोभाव असन्तुलित हो जाते हैं। चिन्ता, विषाद आदि उसे सदैव घेरे रहते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति आधुनिक मनोविज्ञान में असामान्य कहे जाते हैं एवं जैनदर्शन की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि अथवा समभाव रहित माने जाते हैं। ज्ञातव्य है कि जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन का आधार समत्व ही है। चित्तवृत्ति का समत्व सम्यग्दर्शन का मूल है। सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों में प्रथम लक्षण 'सम' है। जो समत्व या समभाव से रहित है, उसे ही जैनदर्शन मिथ्यादृष्टि कहता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व में असामान्यता या अव्यवस्था का मूलभूत कारण तो उसकी इच्छाओं और आकाक्षांओं का उच्च स्तर ही होता है। किन्तु कभी-कभी बाह्य परिवेशगत तथ्य भी व्यक्ति के व्यवहार को असामान्य बना देता है। वस्तुतः इस सब के पीछे परिस्थितियों की सम्यक् समझ का अभाव होता है। व्यक्ति अपनी क्षमता एवं परिस्थिति का विचार न करके अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के स्तर में वृद्धि कर उनकी पूर्ति चाहता है और जब उसमें असफल रहता है; तो मनोग्रन्थियों की रचना करके एक असामान्य व्यक्ति बन जाता है। उदाहरण के रूप में एक निर्धन व्यक्ति कार एवं बंगले की आकाँक्षा रखे और बाह्य परिस्थितियों अथवा अपनी अक्षमताओं के कारण उसमें सफल न हो, तो परिणामस्वरूप उसमें धनवानों के प्रति घृणा या द्वेष की ग्रन्थि का विकास होगा; जिससे न केवल उसका मानसिक सन्तुलन भंग होगा, अपितु सामाजिक जीवन भी अशान्त बनेगा।

जैनदर्शन के अनुसार मिथ्या दृष्टिकोण के कारण राग-द्वेष का जन्म होता है। फलतः अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति समत्व नहीं रख पाता है। उसका मानसिक सन्तुलन विकृत हो जाता है; जिससे मनोविकृतियों का जन्म होता है और वे मनोविकृतियाँ पुनः मानसिक विक्षोभों और तनावों को जन्म देती हैं। इस प्रकार इन विक्षोभों और तनावों के उत्पन्न होने के कारण वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के होते हैं। आगे हम इनकी चर्चा करेंगे।

६.१ विक्षोभों और तनावों के मनोवैज्ञानिक एवं वैयक्तिक कारण

मानसिक विक्षोभों और तनावों के वैयक्तिक कारणों में सबसे प्रमुख कारण तो व्यक्ति में सम्यक् समझ (सम्यग्दृष्टिकोण) का अभाव होता है। व्यक्ति जब तक अपनी योग्यताओं और परिस्थितियों को सम्यक् प्रकार से नहीं समझता है, तब तक वह अपने और अपनी परिस्थितियों के मध्य सामन्जस्य स्थापित नहीं कर पाता। अपनी क्षमता और परिस्थितियों का सम्यक् बोध न होने से ही वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं के अधीन होकर अपनी आकांक्षाओं का एक बहुत ही उच्च स्तर बना लेता है, जिसकी प्राप्ति उसकी वैयक्तिक क्षमताओं की कमी के कारण असम्भव होती है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी योग्यता का विचार किये बिना ही भारत के राष्ट्रपति होने का स्वप्न संजोले। बिना अपनी क्षमता या योग्यता का विचार किये हुए जो व्यक्ति बड़े-बड़े स्वप्न संजो लेता है; वह उसमें असफल होने के कारण विकृत मानसिकता को जन्म देता है। अतः हम कह सकते हैं कि विक्षोभों और तनावों के उत्पन्न होने का वैयक्तिक या मनोवैज्ञानिक कारण स्वयं की क्षमताओं और परिस्थितियों का सम्यक् आकलन नहीं कर पाना ही है। आकांक्षाओं या इच्छाओं का स्तर जितना ऊँचा होगा; असफलताओं की सम्भावना भी उतनी अधिक होगी और असफलताएँ ही हमारे व्यक्तित्व को विसन्तुलित करने का कारण बनती हैं। यदि व्यक्ति को विक्षोभों और तनावों से बचना है तो उसे अपनी क्षमता और अपनी परिस्थिति दोनों का सम्यक् आकलन करना होगा। जैनदर्शन में इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है जीवन और जगत् के सम्बन्ध में सम्यक् समझ।

जैनदर्शन की भाषा में कहें तो जब तक व्यक्ति के जीवन में सम्यग्दर्शन का विकास नहीं होता तब तक वह अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अधीन रहता है - मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विक्षोभों और तनावों से ग्रस्त रहता है। एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो व्यक्ति की दमित इच्छाएँ और वासनाएँ ही चैतसिक स्तर पर उसके असन्तुलन का कारण होती हैं। इसीलिए जैनदर्शन में कहा गया है कि जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता; तब तक व्यक्ति

का ज्ञान और आचरण सम्यक् नहीं होता है। अतः जैनदर्शन की दृष्टि से विक्षोभों या तनावों का वैयक्तिक कारण व्यक्ति में अपनी क्षमताओं और परिस्थितियों की सम्यक् समझ का अभाव ही है।

६.२ विक्षोभों और तनावों के सामाजिक कारण

व्यक्ति के जीवन में विक्षोभों या तनावों का जन्म न केवल उसके अपने व्यक्तित्व के कारण होता है, किन्तु उसके कुछ बाह्य परिस्थितिजन्य सामाजिक कारण भी होते हैं। सामाजिक परिवेश भी कभी-कभी मानसिक तनावों या विक्षोभों को जन्म देते हैं। उदाहरण के रूप में समाज में जब भोगवादी संस्कृति का विकास होता है, तो व्यक्ति में भी इच्छाओं आकांक्षाओं का स्तर ऊपर उठ जाता है। उदाहरण के रूप में जब भी सुख सुविधा की नई-नई वस्तु बाजार में आती है, तो व्यक्ति अपनी आर्थिक क्षमता का विचार किये बिना उनकी ओर आकर्षित होता है। उसमें उनको पाने की बलवती इच्छा जन्म लेती है। किन्तु अपनी आर्थिक क्षमता के अभाव के कारण वह उसकी पूर्ति करने में असफल होता है अथवा अनैतिक साधनों के द्वारा उसकी पूर्ति का प्रयत्न करता है। अनैतिक आचरण के कारण उसकी अन्तरात्मा उसे कचोटती है। यह सब उसमें विक्षोभों और तनावों को जन्म देता है। व्यक्ति यथार्थ और आदर्श का सम्यक् सन्तुलन नहीं बना पाता है।

कभी-कभी समाज में ऐसे आदर्शों का निर्माण हो जाता है, जिसे वैयक्तिक जीवन में और सम सामायिक परिस्थितियों में पूरा करना सम्भव नहीं होता। इससे भी व्यक्ति में हीन भावना की ग्रन्थि का विकास होता है और वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असन्तुलित बन जाता है। सामाजिक आदर्शों और मूल्यों की संरचना भी व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही की जानी चाहिए। कभी-कभी समाज द्वारा अयोग्य व्यक्ति को दिया गया अति उच्च आदर भी व्यक्ति के तनावों और विक्षोभों का कारण बनता है। इस प्रकार विक्षोभों और तनावों का कारण न केवल व्यक्ति होता है, अपितु समाज या बाह्य परिस्थितियाँ भी होती हैं। उदाहरण के रूप में आतंकवादियों की उपस्थिति व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक सन्तुलन या शांति को भंग करती है। वे

उच्च जीवन-स्तर की अन्धी दौड़ भी हमारे चैतसिक समत्व भंग करती है। इस प्रकार विक्षोभों और तनावों को जन्म देने में सामाजिक कारणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है।

व्यक्ति में मानसिक असन्तुलन से द्वन्द्व का जन्म होता है। मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्ति के यथार्थ और आदर्श के मध्य असन्तुलन उत्पन्न होता है। व्यक्ति में एक अर्न्तद्वन्द्व चलता है। इस अर्न्तद्वन्द्व की स्थिति में समत्वयोग की साधना सम्भव नहीं होती। ये अन्तर्द्वन्द क्यों और कितने प्रकार के होते हैं? इसकी की चर्चा डॉ. सुरेन्द्र वर्मा ने अपने लेख 'द्वन्द्व और द्वन्द्व निवारण' में की है। आगे हम उसी आधार पर इनकी विस्तृत चर्चा करेंगे।

द्वन्द्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। मनोविज्ञान मूलतः दो वृत्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति को द्वन्द्व के रूप में स्वीकार करता है; तो समाजशास्त्र द्वन्द्व के दो पक्षों के बीच विरोध मानता है। राजनीति में द्वन्द्व (संघर्ष) को सशस्त्र युद्ध अथवा शीतयुद्ध के रूप में माना जाता है। फादर बुल्के के हिन्दी-अंग्रेजी शब्द कोष में भी कंफ्लिक्ट (conflict) के तीन अर्थ मिलते हैं :

१. युद्ध; २. संघर्ष; और ३. द्वन्द्व या विरोध।[१]

प्राचीन भारतीय दर्शन में हमें द्वन्द्व और द्वन्द्व के निराकरण की अवधारणा उपलब्ध होती है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है; उसने द्वन्द्व के स्थान पर द्वन्द्व निराकरण पर बल दिया है। वस्तुतः जीवन का लक्ष्य या परम साध्य युद्ध, संघर्ष या द्वन्द्व नहीं है, अपितु उसका निराकरण है। जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नहीं हो सकता। जीवन के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ रही हैं। एक जैविक दृष्टि और दूसरी आध्यात्मिक दृष्टि। जैविक दृष्टि से हम देखते हैं कि जीवन एक ऐसी प्रक्रिया है जो सदैव ही परिवेश के प्रति क्रियाशील है।[२] जीवन की यह क्रियाशीलता सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी जीवन को गतिशील या सन्तुलित बताया है।[३] स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य

---

[१] देखिये 'हिन्दी अंग्रेजी-कोश' पृ. ४४८ - शब्द 'द्वन्द्व'। -कामिल बुल्के।

[२] 'Outlines of Zoology' पृ. २१।

[३] 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' पृ. २५१। -डॉ. राधाकृष्णन।

जीवन के सन्तुलन या समत्व को भंग करते रहते हैं; किन्तु जीवन पुनः क्रियाशीलता द्वारा सन्तुलन बनाने का प्रयास करता है। यही जीवन की प्रक्रिया है।[४] इस सम्बन्ध में जैनदर्शन का कहना है कि जीवन की क्रियाशीलता के साथ समत्व को बनाये रखने का प्रयास करना अधिक उचित है।[५] जैनदर्शन ने जीवन का परम लक्ष्य समत्व, सन्तुलन, समभाव या सामायिक को ही स्वीकार किया है।

जैनदर्शन में द्वन्द्व वाँछनीय स्थिति नहीं, अपितु निराकरणीय है। द्वन्द्व जीवन का यथार्थ तो है, किन्तु आदर्श नहीं है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार द्वन्द्व न तो अपने आप में शुभ है न अशुभ। उसके परिणाम ही उसे शुभ और अशुभ बनाते हैं। रचनात्मक दृष्टि से द्वन्द्व को एक ऐसे अवसर के रूप में देखा जा सकता है, जो व्यक्ति/समाज के विकास और सृजनात्मकता के लिए सहायक है। द्वन्द्व व्यक्ति को कर्म के लिए प्रेरित करने वाला तत्व है।[६] जैनदर्शन कर्मों को क्षयकर मुक्ति की प्राप्ति के लिए है। इसलिए कर्मों का बन्धन करने वाले तत्व जैनदर्शन में शुभ नहीं माने जा सकते। द्वन्द्व यदि कर्म को प्रेरित करता है, तो वह शुभ नहीं है।

अध्यात्म शास्त्र के अनुसार जीवन न तो जन्म है और न मृत्यु। जीवन तो जागृति है - चेतना है। वैयक्तिक दृष्टि से इसे ही जीव कहते हैं अर्थात् यही आत्मा है। जीवन चेतन तत्व की सन्तुलित शक्ति है। चेतना जीवन है और जीवन का कार्य है समत्व को बनाये रखना। दूसरे शब्दों में समत्व में स्थित रहना ही चेतना का स्वाभाविक गुण है।[७]

आत्मा प्रभु और स्वयम्भू है, वह किसी के अधीन नहीं है। जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।[८] प्रत्येक आत्मा अपने शरीर की स्वयं मालिक है। वह अच्छे-बुरे कर्मों के लिए स्वयं

---

४ 'फर्स्ट प्रिन्सीपल्स्' पृ. ६६। -स्पेन्सर।

५ 'Idealistic view of life' पृ. १६७। -डॉ. राधाकृष्णन।

६ कैट्स और लॉयर पृ. १०।

७ 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मा अध्ययन' भाग १ पृ. ४०६। -डॉ. सागरमल जैन।

८ आचारांगसूत्र १/५/५/१६६।

उत्तरदायी है। सन्त आनन्दघनजी कहते हैं कि आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। कर्मफल के दो रूप हैं :

(१) सुखरूप; और (२) दुःखःरूप।

आत्मा के अनुकूल संवेदना (अनुभव) होना सुखरूप कर्मफल है और आत्मा के प्रतिकूल संवेदना होना दुःख-रूप। वास्तव में निश्चयनय की अपेक्षा से तो शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःख रूप प्रतिपल का संवेदन आत्मा के स्वस्वभाव से भिन्न है; क्योंकि सुख-दुःख पुद्गल की अवस्था के निमित्त होते हैं। आत्मा तो केवल उनकी साक्षी है। वह तो मात्र दर्शक है। वस्तुतः जब आत्मा इन बाह्य तत्वों से प्रभावित होती है तो वह असन्तुलित होती है; उसका समत्व भंग होता है और चित्त में अर्न्तद्वन्द्व या द्वन्द्व का जन्म होता है।[९]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब चेतन-जीवन का विश्लेषण करते हैं तो हमें उसके तीन पक्ष मिलते हैं :

(१) जानना (Knowing);
(२) अनुभव करना (Feeling); और
(३) इच्छा करना (Willing)।

दूसरे शब्दों में ज्ञान, अनुभव तथा इच्छा (संकल्प) - ये तीनों चेतना के तीन पहलू हैं।[१०] इनके कारण ही जीवन में विविध चैतसिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति होती है। चेतन जीवन का लक्ष्य ज्ञान, अनुभूति और इच्छा (संकल्प) की क्षमताओं के विकास के रूप में परिलक्षित होता है। जैनदर्शन के अनुसार जीवन की प्रक्रिया समत्व के संस्थापन का प्रयत्न है तथा चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पनात्मक पक्षों का समत्व की दिशा में विकास करना है।[११]

---

[९] (क) 'सुख-दुःख रूप करम फल जानो, निश्चय एक आनन्दो रे
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचन्दो रे ।।'
-आनन्दघन ग्रन्थावली (वासुपूज्य जिन स्तवन)।

(ख) 'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुपट्ठियो ।। ३७ ।।' -उत्तराध्ययन अध्याय २०।

[१०] आनन्दघन का रहस्यवाद पृ. १७७।

[११] 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४०६।
-डॉ सागरमल जैन।

समयसार नाटक में बनारसीदासजी ने कहा है कि ज्ञान-चेतना मुक्ति-बीज है और कर्म-चेतना संसार का बीज है।[१२] लेकिन इसी चेतना के स्थान पर जैनदर्शन में 'उपयोग' शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी उपयोग (चेतना) के दो प्रकार बताये गए हैं :

(१) ज्ञानात्मक (ज्ञानोपयोग); और
(२) अनुभूत्यात्मक (दर्शनोपयोग)।[१३]

डॉ. कलघाटगी ने उपयोग शब्द में चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक, इन तीनों ही पक्षों को समाहित किया है।[१४] वस्तुतः आदर्श जीवन की दृष्टि से आत्मा के इन तीनों पक्षों में सन्तुलन आवश्यक है। प्रो. सिन्हा ने भी आत्मा में इन तीनों पक्षों के सन्तुलन को आवश्यक माना है। क्योंकि इस सन्तुलन के अभाव में चित्त का समत्व भंग होता है। समत्व को बनाये रखने के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। जहाँ चेतना या आत्मा है, वहाँ विवेक अवश्यम्भावी होता है। ऐसा कोई प्राणी नहीं होगा, जिसमें मूलतः विवेक का अभाव होगा। जैनदर्शन कहता है कि विवेक-क्षमता तो सभी में है, लेकिन प्रत्येक प्राणी में विवेक की योग्यता समान नहीं है। तनाव या द्वन्द्वग्रस्त प्राणी में विवेक-क्षमता तो है, किन्तु उसका उपयोग करने की योग्यता नहीं है। दूसरे शब्दों में विवेक का अस्तित्व सभी में है, लेकिन उसका प्रकटन सभी में समान रूप से सम्भव नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में निहित विवेक-शक्ति का सम्यक् उपयोग नहीं करना ही तनाव और द्वन्द्व का सबसे बड़ा कारण है। जब आत्मा में विवेक-क्षमता का विकास होता है; तब इस द्वन्द्व का निराकरण करके समत्व स्थापित होता है।

चेतना का दूसरा उपयोग दर्शनोपयोग है। जब तक व्यक्ति में

---

[१२] 'ज्ञान जीव की सजगता, कर्म जीव की भूल।
ज्ञान मोक्ष कौ अंकुर है, कर्म जगत् कौ मूल ।। ८५ ।।
ज्ञान चेतना के जगे, प्रगटै केवलराम।
कर्म चेतना मैं बसै, कर्म-बन्ध परिनाम ।। ८६ ।।' -समयसार नाटक अध्याय १०।

[१३] तत्त्वार्थसूत्र २/६।

[१४] 'Some Problems in Jain Psychology' Page 4. -Dr. Kalghatgi.

अनुभूत्यात्मक क्षमता नहीं होती, तब तक सम्यक् समझ सम्भव नहीं होगी। समत्व की साधना के क्षेत्र में इसकी अन्तिम परिणति निर्विकल्प समाधि (शुक्लध्यान) में या आत्म-साक्षात्कार में मानी गई है।

चेतना का तीसरा पक्ष संकल्पात्मक माना गया है। इसे आत्मनिर्णय की शक्ति भी कह सकते हैं। यदि आत्मा में आत्मनिर्णय की क्षमता नहीं मानी जायेगी, तो उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। आत्मनिर्णय की शक्ति समत्व जीवन के लिए आवश्यक है। उसके अभाव में आत्मा असन्तुलित बन जायेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में उपयोग (चेतना) लक्षण के अर्न्तगत् ज्ञानोपयोग के रूप में विवेक-क्षमता, दर्शनोपयोग के रूप में मुल्यात्मक अनुभूति की क्षमता या सम्यक् समझ और संकल्प की दृष्टि से आत्मनिर्णय (संकल्प) की शक्ति को स्वीकार किया गया है। अनन्त चतुष्टय की दृष्टि से आत्मा की ये तीनों शक्तियाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य के अर्न्तगत् विद्यमान हैं। ये आत्मा के स्वलक्षण हैं। इससे ही आत्मा को तनाव एवं द्वन्द्व से ऊपर उठने की दिशा मिलती है और इन्हीं से आत्मा समत्व में स्थिर रह सकती है। व्यक्ति अपने वासनात्मक और बौद्धिक पक्ष के मध्य होने वाले अन्तर्द्वन्द्व समाप्त करके जीवन को सन्तुलित बनाकर उसका निर्माण करता है।

समत्वयोग की साधना के विकास का इतिहास यही बताता है कि जिसके द्वारा वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख एवं शान्ति की उपलब्धि हो सके; चित्तवृत्ति बाह्य जीवन से हटकर समत्वयोग में स्थिर या अन्तर्मुखी बन सके; वही समत्वयोग की साधना है। फिर भी मानवीय जीवन में तीन प्रकार के संघर्ष समत्व को भंग करते रहते हैं :

(१) मनोवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष : यह संघर्ष दो वासनाओं या वासना एवं बौद्धिक आदर्शों के मध्य चलता रहता है। यह चैतसिक असन्तुलन को जन्म देकर आन्तरिक शान्ति भंग करता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारे इड (Id) और सुपर इगो (Super ego) में यह संघर्ष चलता रहता है।

(२) व्यक्ति की आन्तरिक अभिरूचियों और बाह्य परिस्थितियों का संघर्ष : यह व्यक्ति और उसके भौतिक परिवेश, व्यक्ति और

व्यक्ति के मध्य अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य चलता रहता है तथा कुप्रवृत्तियों को जन्म देकर व्यक्ति की जीवन-प्रणाली दूषित बनाता है तथा उसके समभाव या समत्व को भंग करता है।

(३) बाह्य वातावरण के मध्य होने वाले संघर्ष : ये विविध समाजों एवं राष्ट्रों के मध्य होते हैं। इनके कारण बाह्य एवं आन्तरिक शान्ति भंग हो जाती है और असुरक्षा के भाव का जन्म होता है।

डॉ. सागरमल जैन ने द्वन्द्व या संघर्ष के उपरोक्त तीन प्रकारों की चर्चा की है।[१५] डॉ सुरेन्द्र वर्मा ने अपने लेख 'द्वन्द्व और द्वन्द्व निवारण' में मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय आधार में द्वन्द्वों के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

(१) आन्तरवैयक्तिक द्वन्द्व : आन्तरवैयक्तिक द्वन्द्व मानसिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व है। इस प्रकार के द्वन्द्व को व्यक्ति अपनी परस्पर विरोधी या असंगत इच्छाओं/वृत्तियों के बीच अनुभव करता है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति अपनी इच्छा की सन्तुष्टि चाहता है और इतर कारणों से यदि उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता है, तब वह ऐसे द्वन्द्व या संघर्ष में फँस जाता है। ऐसे मानसिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व चित्त को उद्वेलित करते रहते हैं; जिससे व्यक्ति आन्तरिक रूप से टूट जाता है। वह सम्यक् प्रकार से सोच नहीं पाता है।

(२) सामुदायिक द्वन्द्व : व्यक्ति और समूह के बीच जो द्वन्द्व होता है, उसे सामुदायिक द्वन्द्व कहा जाता है।

(३) अन्तर-सामुदायिक द्वन्द्व : दो समुदायों के बीच जो द्वन्द्व होता है; वह अन्तर-सामुदायिक द्वन्द्व है।

(४) संगठनात्मक द्वन्द्व : व्यक्ति और जिस संगठन में व्यक्ति कार्य करता है, उसके बीच जो संघर्ष होता है; वह संगठनात्मक द्वन्द्व है।

(५) अन्तर-संगठनात्मक द्वन्द्व : दो संगठनों के मध्य जो द्वन्द्व होते हैं; वे अन्तर-संगठनात्मक द्वन्द्व हैं।

(६) साम्प्रदायिक द्वन्द्व : दो सम्प्रदायों के बीच के द्वन्द्व को

---

[१५] 'जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग १ पृ. ४०७। -डॉ. सागरमल जैन।

साम्प्रदायिक द्वन्द्व कहते हैं।[१६]

ये सभी द्वन्द्व या विरोध दो पक्षों के विपरीत हित-अहित के कारण होते हैं। किन्तु मूल में कहीं त्याग बुद्धि का अभाव और स्वार्थ-साधना की प्रमुखता ही होती है।

जैनदर्शन में द्वन्द्व के इन सभी स्तरों का क्रमशः विवेचन नहीं मिलता। जैनदर्शन ने अन्तरवैयक्तिक द्वन्द्व को ही अत्यधिक प्राथमिकता दी है। क्योंकि व्यक्ति के अन्तर में द्वन्द्व होगा, तो ही बाहर द्वन्द्वों का प्रकटन सम्भव होगा। शान्त मानस में द्वन्द्व का जन्म नहीं होता है।

जैनदर्शन में द्वन्द्व के दो आयाम मिलते हैं:

(१) आन्तरिक द्वन्द्व; और (२) बाह्य द्वन्द्व।

जैनदर्शन कहता है कि जिसने अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करली है, जो विभाव दशा से हटकर स्वभाव दशा में आ गया है, समत्व में अवस्थित हो गया है; वही आत्मा के शाश्वत् सुख अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा था कि बाह्य युद्ध तो केवल निमित्त मात्र है; युद्ध करना है तो अपने आप से करो। वस्तुतः अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना ही कठिन है।

जिस व्यक्ति ने आन्तरिक द्वन्द्व को उत्पन्न करने वाली कषायों की चौकड़ी समाप्त करली है, उसके बाह्य द्वन्द्व स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। अध्यात्म और बाह्य व्यवहार की एकरूपता ही जैनदर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। कहा गया है कि जो व्यक्ति अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को भी जान लेता है।[१७] इसी प्रकार जो व्यक्ति बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को भी जान लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्य द्वन्द्वों के मूल में आन्तरिक द्वन्द्व हैं और आन्तरिक द्वन्द्वों के निमित्त बाह्य तथ्य हैं। जब तक दोनों की सम्यक् समझ का विकास नहीं होगा, तब तक द्वन्द्वों से ऊपर नहीं उठा जा सकता है।

---

[१६] 'द्वन्द्व और द्वन्द्व निवारण' श्रमण पत्रिका – अक्टो.-दिसम्बर १९९६ पृ. १-१३। -डॉ. सुरेन्द्र वर्मा।

[१७] आचारांगसूत्र १/७/५७।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य हमेशा यही रहना चाहिए कि वह जीवन में असन्तुलन, कुपोषण और अव्यवस्था को समाप्त कर एक विकसित, सन्तुलित, सुनियोजित एवं व्यवस्थित जीवन प्रणाली का निर्माण करे और मानव समाज की संरचना में सहायक हो सके। वह समाज में समता को स्थापित कर सके और इन संघर्षों से मुक्त होकर स्वयं जीवन के अन्तिम लक्ष्य समत्व को प्राप्त कर सके; जिससे आन्तरिक मनोवृत्तियों का संघर्ष, आन्तरिक इच्छाओं और उनकी पूर्ति के बाह्य प्रयासों का संघर्ष और उसके परिणामस्वरूप होने वाले समाजगत एवं राष्ट्रगत संघर्ष स्वयं ही समाप्त हो जाये। जीवन का सन्तुलन जीवन के अन्दर ही निहित है। उसे बाहर खोजना प्रवंचना है। संघर्ष नहीं समत्व ही मानवीय जीवन का आदर्श हो सकता है और समत्व तब ही सम्भव है, जब जीवन में द्वन्द्व समाप्त हो।

विज्ञान के अनुसार भी जीवन का आदर्श या स्वभाव समत्व ही सिद्ध होता है; क्योंकि स्वभाव का निराकरण सम्भव नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में संघर्ष है और पूरा मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। लेकिन यह सत्य नहीं है; क्योंकि संघर्ष के निराकरण के लिए प्रयत्न किये जाते हैं और जिसका निराकरण किया जाता है, वह स्वभाव नहीं है। हमें इस संघर्ष का निराकरण करने के लिए समत्व रूपी औषधि ग्रहण करनी पड़ेगी। संघर्ष या द्वन्द्व का इतिहास स्वभाव का इतिहास नहीं, बल्कि विभाव का इतिहास है। मानव का मूल स्वभाव द्वन्द्व या संघर्ष नहीं, वरन् संघर्ष का निराकरण कर समत्व की अवस्था की प्राप्ति है। ये मानवीय प्रयास युगों से चले आ रहे हैं। इसी कारण सच्चा इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी नहीं - संघर्षों के निराकरण की कहानी है।

जीवन में समत्व से विचलन होता रहता है; लेकिन यह विचलन जीवन का स्वभाव नहीं है। जीवन की प्रक्रिया संघर्ष या द्वन्द्व का निराकरण करके समत्व में अवस्थित होना है। राग-द्वेष, वासना, आसक्ति, वितर्क आदि जीवन को असन्तुलित बनाकर तनाव उत्पन्न करते हैं। न केवल जैनदर्शन इन विकारों को अशुभ मानता है; वरन् सम्पूर्ण भारतीयदर्शन भी इसे अशुभ स्वीकार करता है। ये जीवन का साध्य नहीं बन सकते। जीवन का साध्य समत्व

ही बन सकता है। अतः समत्व शुभ है और ये विषमताएँ अशुभ हैं। समत्व का सृजन वीतरागदशा या अनासक्ति के भाव करते हैं। जीवन में समत्व को असन्तुलित करने का एक कारण वातावरण भी है। वातावरण भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। शुद्ध, निर्मल वातावरण में व्यक्ति का चित्त सन्तुलित या समत्वमय बना रहता है।

जैनदर्शन के साथ-साथ अन्य भारतीय दर्शनों के अनुसार भी जीवन का लक्ष्य समत्व में ही निहित है। समत्वपूर्ण जीवन ही आदर्श जीवन है। जैनदर्शन में पूर्ण समत्व की इस दशा को वीतराग दशा कहा जाता है। गीता इसी पूर्ण समत्व की स्थिति को स्थितप्रज्ञता कहती है; जबकि बौद्धदर्शन में इसे अर्हतावस्था कहा जाता है। जैनदर्शन में जीवन का आदर्श आध्यात्मिक समत्व ही है।

द्वन्द्व या संघर्ष निवारण के उपायों में जैनदर्शन समत्व या सामायिक को महत्त्वपूर्ण बताता है। जहाँ द्वन्द्व या संघर्ष है; वहाँ विरोध है, राग-द्वेष है। जहाँ समत्व या समभाव है; वहाँ द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।

द्वन्द्व पारस्परिक विरोध को अभिव्यक्त करता है; जैसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट, जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि। ऐसी परस्पर विरोधी स्थितियों के बिना द्वन्द्व सम्भव नहीं होता। दो विरोधी अवस्थाओं या दलों के बीच द्वन्द्व की स्थिति तभी बनती है, जब व्यक्ति के चित्त का समत्व भंग होता है। भारतीय दर्शनों का लक्ष्य सुख-शान्ति की उपलब्धि है, किन्तु सुख-शान्ति युग्म होकर एक दूसरे के परस्पर विरोधी नहीं हैं; अपितु पूरक हैं। ये कभी भी द्वन्द्वात्मक स्थिति को प्रदर्शित नहीं करते क्योंकि इनमें विरोध नहीं है। अतः पूरक युग्म नहीं, विरोधी-युग्म ही द्वन्द्व का हेतु है।

द्वन्द्व के निवारण के लिए यदि हम उसके विरोध को सम्यक् प्रकार से जानलें और समझलें, तो द्वन्द्व वहीं समाप्त हो सकता है। उसका आगे विकास नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने द्वन्द्व को सम्यक् प्रकार से जान लिया था। उन्होंने मान-अपमान, हर्ष-विषाद, लाभ-अलाभ, मैत्री-अमैत्री और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखा था। द्वन्द्वात्मक स्थितियों के प्रति वे स्वयं जाग्रत रहते और दूसरों को जाग्रत रहने के लिए प्रोत्साहित करते। वे कहते थे कि "अज्ञानी सदा सोते हैं और ज्ञानी सदा जाग्रत रहते हैं। जो

द्वन्द्व, संघर्ष, युद्ध या विरोध से ऊपर उठ गये हैं; ऐसे जाग्रत व्यक्ति ही वस्तुतः वीर हैं, समत्वयोगी हैं।"[१८]

यदि व्यक्ति में अपने लाभ की इच्छा और दूसरों को हानि पहुँचाने का भाव हो; तो द्वन्द्व की स्थिति निर्मित हो जाती है। किन्तु यदि व्यक्ति राग-द्वेष या लाभ-अलाभ से ऊपर उठकर समभाव की स्थिति में रहता है; तो द्वन्द्व का निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु जब व्यक्ति एकांगी दृष्टिकोण अर्थात् दूसरे की हानि में अपना लाभ देखता है; तो द्वन्द्व का शिकार हो जाता है। जैनदर्शन ने सदैव ही एकांगी दृष्टि का खण्डन किया है और एकांगी दृष्टि के त्याग में ही द्वन्द्व का निराकरण माना है। द्वन्द्व की स्थिति में चित्त में सदैव कोई न कोई उद्वेग उत्पन्न होते रहते हैं।

इन उद्वेगों के परिणामस्वरूप चित्त विकल या उद्वेलित बना रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनोविज्ञान यह मानता है कि जब तक चित्त में इच्छा, आकांक्षा और वासना जीवित रहती है; वह हमारे मानसिक सन्तुलन अर्थात् समत्व को भंग करती रहती है। इसीलिए विक्षोभों और तनावों से मुक्त होने के लिए इच्छाओं व आकांक्षाओं से ऊपर उठना होगा और परिस्थितियों के साथ समरस होकर एक ऐसा जीवन जीने का प्रयास करना होगा, जिसमें चित्त विकलताओं से रहित बन सके। इस स्थिति को उपलब्ध करने के लिए व्यक्ति को भूत और भविष्य में जीने की प्रवृत्ति को छोड़कर वर्तमान में जीने का अभ्यास करना होगा। जैनदर्शन के अनुसार पूर्व कर्म के उदय के निमित्त से और जैसा ज्ञानियों ने ज्ञान में देखा है; वैसा घटित होता है। जब इस प्रकार की जीवन दृष्टि का विकास होता है; तो व्यक्ति इच्छाओं-आकांक्षाओं से ऊपर उठकर वर्तमान में जीने का प्रयास करता है। इसी बात को हिन्दू परम्परा में इस प्रकार कहा गया है कि जो कुछ होता है वह प्रभु इच्छा से होता है। अतः व्यक्ति को न तो भविष्य के लिए सपने संजोने चाहिए और न ही भूत की स्थितियों से संक्लेशित होना चाहिये। वर्तमान में स्थित होकर जीवन जीने का अभ्यास ही एक ऐसा उपाय है, जिसके माध्यम से व्यक्ति विक्षोभों और तनावों से मुक्त हो सकता है। यदि घटनाओं को प्रभु

---

[१८] आचारांगसूत्र १/३/१/१ एवं १/३/१/८।

की इच्छा या जैनदर्शन की दृष्टि से पूर्व कर्म का उदय या केवली के ज्ञान के रूप में देखा जाये; तो फिर अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों से विक्षोभ या तनाव उत्पन्न नहीं होंगे।

व्यक्ति के जीवन में तनाव इसीलिए उत्पन्न होते हैं कि वह सदैव ही इच्छाओं और आकांक्षाओं से जुड़ा रहता है। इच्छाएँ और आकांक्षाएँ सर्व प्रथम हमारे चित्त को उद्वेलित करती हैं और एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व को जन्म देती हैं; क्योंकि इच्छाएँ अनेक होती हैं और कभी पूर्ण भी नहीं होती हैं। व्यक्ति को प्रतिसमय उनके तनाव के हेतु मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व से गुजरना होता है। मनोवैज्ञानिक या आन्तरिक परिणामस्वरूप उसका वैयक्तिक जीवन अशान्त बनता ही है; वह पारिवारिक और सामाजिक द्वन्द्वों को भी जन्म देता है। ये द्वन्द्व कितने प्रकार के हैं, इसकी विस्तृत चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

इन द्वन्द्वों का निराकरण कैसे हो और व्यक्ति तनावमुक्त बने; इसके लिए जैनदर्शन में निम्न उपाय बताये गये हैं :

(१) आन्तरिक या मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व से बचने के लिए व्यक्ति इच्छाओं-आकाँक्षाओं तथा राग-द्वेषपर उठकर समत्वयोग की साधना करे। समत्वयोग की साधना के द्वारा ही हम आन्तरिक विक्षोभों, तनावों या द्वन्द्वों से मुक्त हो सकते हैं। इसके लिए हमें वर्तमान में जीने का अभ्यास करना होगा और वर्तमान से सन्तुष्ट रहना होगा। समत्वयोग की साधना द्वारा इस आन्तरिक द्वन्द्व से मुक्त होकर व्यक्ति जैनदर्शन की भाषा में वीतराग और गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञ बनता है और आन्तरिक द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है।

(२) जहाँ तक सामाजिक द्वन्द्वों का प्रश्न है; उससे ऊपर उठने के लिए हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि का विकास करना होगा। आत्मतुल्यता का सिद्धान्त भी एक ऐसा सिद्धान्त है, जो सामाजिक विक्षोभों और तनावों से हमें मुक्त कर सकता है।

जैन दार्शनिकों ने इसके लिए मुख्य रूप से तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है :

१. वैचारिक संघर्षों को समाप्त करने के लिए वे अनेकान्त दृष्टि को आवश्यक मानते हैं;
२. आर्थिक संघर्षों के निराकरण के लिए अपरिग्रह का विकास आवश्यक है; और
३. सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों से ऊपर उठने के लिए

वे अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।

इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि जब व्यक्ति की वृत्ति में अनासक्ति, आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह, वैचारिक क्षेत्र में अनेकान्त और व्यवहार के क्षेत्र में अहिंसा का विकास होगा; तो ही व्यक्ति विक्षोभों, तनावों तथा द्वन्द्वों से मुक्त होकर समरसतापूर्वक और शान्तिपूर्वक जीवन जी सकेगा। समत्वयोग की साधना की पूर्णता ही इसी तथ्य में निहित है कि व्यक्ति तनावों से मुक्त बने और यह तभी सम्भव है; जब व्यक्ति समता, अहिंसा, अनेकान्त या अनाग्रह एवं अनासक्ति या अपरिग्रह अपने जीवन में अपनाये।

आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में भी इन मानसिक और सामाजिक द्वन्द्वों से ऊपर उठने की बात कही गई है। इसका सुन्दर चित्रण डॉ. सुरेन्द्र वर्मा ने द्वन्द्व निवारण की विधियों के रूप में से प्रस्तुत किया है। हम यहाँ उसे यथावत् प्रस्तुत कर रहे हैं।[१६]

६.३ द्वन्द्व निराकरण की प्रविधियाँ

आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में द्वन्द्व निराकरण के अनेक उपाय बताए गए हैं। किन्तु ये सभी उपाय तभी सफल हो सकते हैं; जब हम कुल मिलाकर अपने मानसिक गठन को इनके उपयुक्त बना सकें। कैट्स और लॉयर ने परस्पर विरोधी हितों पर आधारित द्वन्द्व के निराकरण हेतु जिस व्यापक मनोगठन (Overall Frame) की चर्चा की है उसमें चार तत्त्व महत्त्वपूर्ण बताए गए हैं। वे ये हैं :

(क) एक दूसरे के लिए सम्मान और न्यायप्रियता (Respect & Integrity);

(ख) सौहार्दपूर्ण सम्पर्क (Rapport);

(ग) साधन सम्पन्नता (Resourcefulness);

(घ) रचनात्मक वृत्ति (Constructive attitude).

सम्मान और न्यायप्रियता का अर्थ है कि हम द्वन्द्व की स्थिति

---

[१६] 'द्वन्द्व और द्वन्द्व का निराकरण-श्रमण' अक्टो.-दिसं. १९९६ पृ. ८-९। -सुरेन्द्र वर्मा।

में दूसरे पक्ष के विरोधी आचरण के बावजूद उसके लिए एक सकारात्मक दृष्टि को बनाये रखें। हम उसके व्यवहार को भले ही अच्छा न समझें और उसे अस्वीकार कर दें; पर मानव होने के नाते उसे जो प्रतिष्ठा और सम्मान मिलना चाहिये, उससे उसे वंचित न करें। न्यायप्रियता का अर्थ है हम अपने प्रति ईमानदार हों और जो भी कहें या करें, उसे अनावश्यक रूप से गुप्त न रखें। हमारा व्यवहार पारदर्शी हो। उसमें हम केवल एक ही पक्ष के हित पर विचार न करें।

द्वन्द्व के निराकरण हेतु यह भी आवश्यक है कि किसी भी हालत में हम दूसरे पक्ष से अपना सम्पर्क पूरी तरह तोड़ न लें। परिस्थिति को इस प्रकार ढालें कि एक सकारात्मक सम्बन्ध बना रह सके और दूसरा पक्ष हमारी बात सुनने/समझने के लिए तत्पर रहे।

द्वन्द्व और तनाव से परिपूर्ण परिस्थितियों के दबाव में हम अक्सर एक प्रकार के मानसिक प्रमाद से ग्रस्त हो जाते हैं और उन संसाधनों के प्रति जिनका हम द्वन्द्व निराकरण के लिए उपयोग कर सकते हैं; प्रायः उदासीन हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम द्वन्द्व के निराकरण के प्रति अपनी पूरी जागरुकता बनाए रखें और अपनी सभी योग्यताओं और क्षमताओं का इस दिशा में पूरा-पूरा उपयोग कर सकें। यही साधन-सम्पन्नता है।

इस चर्चा में अन्तिम रचनात्मक वृत्ति है। जब तक हम रचनात्मक वृत्ति को नहीं अपनाते द्वन्द्व का निराकरण असम्भव है। किसी भी पक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह इस बात के प्रति आश्वस्त हो कि द्वन्द्व का निराकरण, यदि उचित प्रबन्ध किया जाय तो अवश्य हो ही जाएगा। यह रचनात्मक वृत्ति द्वन्द्व से निपटने के लिए बहुत सहायक होती है।

वस्तुतः डॉ. सुरेन्द्र वर्मा ने कैट्स और लॉयर के द्वन्द्व निराकरण के उपायों के आधार पर उपरोक्त जिन चार सूत्रों को प्रस्तुत किया है उसमें समानता और न्यायप्रियता का आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। सौहार्दपूर्ण सम्पर्क के मूल में अनाग्रह दृष्टि या अनेकान्त दृष्टि निहित है। साधन सम्पन्नता एवं रचनात्मक वृत्ति के मूल में हम अपरिग्रह की अवधारणा को देख सकते हैं। यद्यपि यहाँ ऊपरी स्तर पर देखने में ऐसा लगेगा कि साधन सम्पन्नता और रचनात्मक वृत्ति अपरिग्रह और अनासक्ति की

भावना की विरोधी हैं; किन्तु जब जीवन में अनासक्ति और अपरिग्रह की दृष्टि विकसित होती है, तब सम्पन्नता वैयक्तिक उपभोग का कारण नहीं बनती है। साथ ही व्यक्ति में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास होता है और उसके द्वारा आर्थिक क्षेत्र के द्वन्द्व भी समाप्त हो जाते हैं।

वस्तुतः जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना व्यक्ति की भाव भूमि की विशुद्धता की साधना है। जब व्यक्ति में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणिजनों के प्रति आदरभाव, दुःखियों के प्रति करुणा या सेवा का भाव और विरोधियों के प्रति तटस्थ भाव विकसित होता है, तो द्वन्द्व अपने आप समाप्त हो जाते हैं। एक दूसरी दृष्टि से कहें तो समत्वयोग की साधना के द्वारा जब व्यक्ति अपने में क्षमा, सरलता, विनय और सन्तोष जैसे सद्गुणों का विकास करता है; तब द्वन्द्वों के उत्पन्न होने के कारण ही समाप्त हो जाते हैं।

इन गुणों की साधना ही समत्वयोग की साधना है और यह समत्वयोग की साधना ही द्वन्द्वों के निराकरण का उपाय है। डॉ. सागरमल जैन कहते हैं कि "समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है। यह जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सांग सन्तुलन है जिसमें न केवल चैतसिक एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं। शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी सामूहिक साधना में प्रयत्नशील हों।"[२०]

।। षष्ठम अध्याय समाप्त ।।

---

[२०] 'जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग' पृ. १६-१७। -डॉ. सागरमल जैन।

अध्याय ७

उपसंहार

सभी भारतीय साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य चित्त की निर्विकल्प अवस्था या समाधि को प्राप्त करना रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो चित्तवृत्ति का समत्व समग्र साधना पद्धतियों का सार है। जैनदर्शन में वीतराग अवस्था, बौद्धदर्शन में वीततृष्ण होना तथा हिन्दू धर्म-दर्शन में अनासक्त होना ही उनकी साधनाओं का लक्ष्य माना गया है। योगदर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। वस्तुतः जब चित्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर समभाव में स्थित होता है, तब ही व्यक्ति आत्मपूर्णता या आत्मतोष की अनुभूति करता है। चित्त की इसी निर्विकल्प अवस्था को ही समाधि, निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति आदि नामों से जाना जाता है। जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा था कि "मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मोक्ष है।"[1] बौद्धदर्शन में निर्वाण का अर्थ चित्त में लगी हुई तृष्णा की आग का बुझ जाना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैनदर्शन अपितु बौद्धदर्शन, वेदान्त और योगदर्शन सभी एक स्वर से यह मानते हैं कि चित्तवृत्ति का निर्विकल्प हो जाना अथवा उसका तनाव और विक्षेपों से रहित हो जाना ही जीवन का परम लक्ष्य है। जैनदर्शन में इसे ही सामायिक या समत्वयोग की साधना कहा गया है। भगवान महावीर ने भगवतीसूत्र में स्पष्ट रूप से यह बताया है कि आत्मा का स्वभाव समत्व है और उस समत्व को प्राप्त कर लेना यही जीवन का चरम पुरुषार्थ है। इसी प्रकार से श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है कि समत्व की साधना ही परमात्मा की आराधना है। गीता भी समत्व की साधना को ही योग कहती है। इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन का यह कहना समुचित प्रतीत होता है कि

---

[1] प्रवचनसार १/५ ।

गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और राजयोग की जो चर्चा है, वह साधनयोग की चर्चा है एवं गीता का साध्य योग तो समत्वयोग ही है। समत्व के अभाव में ज्ञान, कर्म अथवा भक्ति योग नहीं बनते हैं।[२] इस प्रकार सभी भारतीय चिन्तकों ने जीवन के चरम साध्य के रूप में समत्वयोग को ही स्वीकार किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हमने समत्वयोग के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि अनासक्ति, वीतरागता या तृष्णा का उच्छेद वस्तुतः समत्व के ही पर्याय हैं। भारतीय मनीषियों ने और विशेष रूप से जैनाचार्यों ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है कि यदि समत्व हमारे जीवन का साध्य है अथवा हमारा शुद्ध स्वभाव है, तो फिर उससे विचलन क्यों होता है ? प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमने इस प्रश्न पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है कि समत्व हमारा स्वभाव है, क्योंकि कोई भी प्राणी तनाव या विक्षोभ की अवस्था में रहना नहीं चाहता। उसके समस्त प्रयत्न तनाव और विक्षोभों को समाप्त करके समत्व की उपलब्धि के लिए ही होते हैं।

यह सत्य है कि समत्व हमारा स्वभाव है; किन्तु व्यक्ति में निहित इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और राग-द्वेष के तत्व हमारे उस समत्व को भंग कर देते हैं। जिस प्रकार शीतल जल अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेष, आसक्ति, तृष्णा आदि के कारण से हमारा चैतसिक समत्व भी भंग हो जाता है और हम विक्षोभों और तनावों में जीने लगते हैं। समत्व-स्वभाव से युक्त आत्मा में राग-द्वेष, इच्छा, आकांक्षा, आसक्ति और तृष्णा की उपस्थिति ही उसके समत्व से विचलन का कारण है। इसके कारण न केवल हमारा मानस विक्षोभित एवं तनावग्रस्त बनता है अपितु पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश भी तनाव से युक्त बन जाता है। व्यक्ति के चैतसिक समत्व का भंग होना न केवल उसके जीवन को अशान्त बनाता है, अपितु सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था को तनावग्रस्त और अशान्त बना देता है। इसलिए न

---

२ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १२ ।
-डॉ. सागरमल जैन ।

केवल आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से और न केवल चैतसिक शान्ति के लिए, अपितु सामाजिक और वैश्विक शान्ति के लिए भी समत्वयोग की साधना आवश्यक है।

जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। आधुनिक मनावैज्ञानिकों ने भी चेतना के तीन कार्य माने हैं :

(१) अनुभव करना; (२) जानना; और (३) संकल्प करना।

हमारी अनुभूति, हमारा ज्ञान, हमारा संकल्प और संकल्पजन्य व्यवहार जब तक सम्यक् या समत्व से युक्त नहीं होता, तब तक हमारी चैतसिक और सामाजिक शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। डॉ. सागरमल जैन का कथनं है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना है और उसके माध्यम से ही पारिवारिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक शान्ति की स्थापना की जा सकती है। वे लिखते हैं कि "चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प के पक्षों को समत्व से युक्त बनाने के हेतु जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप मोक्षमार्ग की स्थापना की गई है।"[३]

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में हमने यही बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र समत्वयोग की साधना के आधार हैं। वस्तुतः जीवन में जब तक सम्यग्ज्ञान रूपी आत्म-अनात्म का विवेक-ज्ञान जागृत नहीं होता; स्व-पर का बोध नहीं होता; तब तक चित्त अशान्त रहता है। अशान्त चित्त में सम्यग्दर्शन का प्रकटन नहीं होता है। सम्यग्दर्शन वीतरागता या आत्मा के समत्व-स्वरूप के प्रति अनन्य निष्ठा है। सम्यक्-चारित्र भी वस्तुतः समत्व को जीवन में जीने का एक प्रयास है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्ययन में हमने इसी तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जैनदर्शन का त्रिविध साधना मार्ग वस्तुतः समत्वयोग की साधना ही है।

---

[३] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १८।
-डॉ. सागरमल जैन।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का तृतीय अध्याय समत्वयोग के साध्य, साधन और साधना मार्ग के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में मोक्ष को चरम आदर्श के रूप में प्रतिपादित किया जाता है; किन्तु यह मोक्ष समत्व की अवस्था से पृथक् नहीं है। हम पूर्व में ही इसकी चर्चा कर चुके हैं कि मोह और क्षोभ से रहित जो आत्मा की अवस्था है, वही मोक्ष है। इस मोक्ष की साधक आत्मा भी अपने स्वस्वरूप की अपेक्षा से समत्व रूप ही है। यह सत्य है कि आत्मा में समत्व से विचलन पाये जाते हैं अर्थात् समत्व स्वरूप वाली आत्मा विभाव दशा को प्राप्त होती है या राग-द्वेष आदि से युक्त होती है। यही आत्मा साधक है। जिस प्रकार स्वस्थता व्यक्ति का निज लक्षण है, किन्तु बाह्य निमित्तों से उसमें बीमारी या रोगों का आगमन हो जाता है; उसी प्रकार से समत्वरूप आत्मा राग-द्वेष आदि के निमित्त से अपने स्वभाव से विचलित हो जाती है। वह पुनः स्वस्थता और स्वस्वभाव को प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न करती है, वही साधना मार्ग है और समत्व की पुनः उपलब्धि ही सिद्धि है। इस प्रकार तृतीय अध्याय में हमारा प्रतिपाद्य यही रहा है कि समत्वयोग में साधक, साध्य और साधना-पथ एक दूसरे से घनिष्ट रूप से न केवल सम्बन्धित हैं; अपितु निश्चय दृष्टि से तो वे एक ही हैं। भारतीय परम्परा में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की साधना के जो उल्लेख हैं, वे वस्तुतः प्रकारान्तर से समत्वयोग की साधना के ही रूप हैं। समत्वयोग की साधना में साधक आत्मा है, जिसका स्वरूप तो समत्व है, किन्तु बाह्य निमित्तों के कारण वह अपने स्वस्वरूप से विचलित हो गई है। उसकी साधना भी इस स्वस्वरूप की उपलब्धि से अन्य कुछ नहीं है। इसी आधार पर चतुर्थ अध्याय में हमने यह बताने का प्रयास किया है कि समत्वयोग की साधना वस्तुतः आत्म-साधना ही है। समत्वयोग की वैयक्तिक साधना राग-द्वेष से ऊपर उठने अथवा आसक्ति और तृष्णा का प्रहाण करने में है। वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति जितना अनासक्त, वीततृष्ण या वीतराग बनेगा, वह उतना ही समत्वयोग की साधना में आगे बढ़ेगा। किन्तु समत्वयोग की साधना का एक सामाजिक पक्ष भी है, जिसकी चर्चा हमने चतुर्थ अध्याय में की है। समत्वयोग की सामाजिक साधना के क्रियान्वयन के लिए डॉ. सागरमल जैन ने चार सूत्र प्रस्तुत किये हैं :

(१) वृत्ति में अनासक्ति;
(२) व्यवहारिक जीवन में असंग्रह; और
(३) विचार में अनाग्रह;
(४) सामाजिक आचरण में अहिंसा।

वस्तुतः अनाग्रह अनेकान्त का ही एक रूप है। असंग्रह और अनासक्ति अपरिग्रह के सूचक हैं और अहिंसा समत्वपूर्ण व्यवहार का सिद्धान्त है। इसीलिए वह कहते हैं कि वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनेकान्त या अनाग्रह, वैयक्तिक जीवन में असंग्रह और सामाजिक जीवन में अहिंसा – यही समत्वयोग की साधना का व्यवहारिक पक्ष है।[४] समत्वयोग की साधना नामक चतुर्थ अध्याय में हमने इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है। मात्र यही नहीं, हमने यह बताने का प्रयास किया है कि प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करूणा और विरोधियों के प्रति उपेक्षा के चार सूत्र वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्वयोग की सार्थकता को अभिव्यक्त करते हैं। इस अध्याय में हमने यह बताने का भी प्रयास किया है कि सामाजिक वैषम्य के निराकरण के लिए अहिंसा, आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए अपरिग्रह और मानसिक वैषम्य के निराकरण के लिए अनासक्ति कितनी उपयोगी है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में हमने विभिन्न धर्मों में समत्वयोग की साधना किस रूप में प्रस्तुत की गई है, इसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेखित किया है कि समत्वयोग की साधना के तत्व जैन धर्म के साथ-साथ हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में भी पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म के वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता तथा भागवत् आदि पुराण-साहित्य में समत्वयोग की अति विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। वेदों का यह कथन है कि हम सभी को मित्रता की आँख से देखें और सभी हमें भी मित्रता की दृष्टि से देखें।[५] इसी रूप

---

४ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १६-२०।
-डॉ सागरमल जैन।

५ 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्
मित्रस्याह्म चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।'
-यजुर्वेद ३६/१८।

में हिन्दू धर्म-दर्शन समत्वयोग की आधारशिला प्रस्तुत करता है। मित्रता का भाव शत्रुता का उपशमन करता है और इस दृष्टि से वह समत्व की संस्थापना का आधार बिन्दु है। इसी प्रकार ईशावास्योपनिषद् का यह कथन है कि जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह अपनी इस एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता।[६] घृणा या विद्वेष के उन्मूलन की उपनिषद् की यह युक्ति निश्चय ही हिन्दू धर्म में समत्वयोग की जीवन दृष्टि की प्रतिष्ठा का आधार वाक्य कहा जा सकता है। न केवल वेद और उपनिषद् अपितु महाभारत और गीता में समत्वयोग के अनेक सन्दर्भ प्रस्तुत हैं। हम पूर्व में यह बता चुके हैं कि गीता के अनुसार तो समत्वयोग की साधना में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग अनुस्यूत रहे हुए हैं। गीता में समत्वयोग को ही सारभूत योग माना गया है। समत्वयोग ही गीता का साध्य योग है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सागरमल जैन ने विस्तार से चर्चा की है। यहाँ हम उसे ही संक्षिप्त में प्रस्तुत कर रहे हैं। वे लिखते हैं कि ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी समत्व के लिए होते हैं। गीता यह बताती है कि बिना समत्व के ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं बनता है। जो समत्व दृष्टि रखता है, वही ज्ञानी है। उसी प्रकार बिना समत्व के कर्म अकर्म (कर्मयोग) नहीं बनता है। समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बना रहता है। गीता के शब्दों में जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व से युक्त होता है, उसे कर्म नहीं बन्धते। इसी प्रकार वह भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है, जिसमें समत्व का अभाव है। समत्व वह शक्ति है जिससे ज्ञान ज्ञानयोग के रूप में, भक्ति भक्तियोग के रूप में और कर्म कर्मयोग के रूप में बदल जाता है। गीता समत्व प्रतिपादक ग्रन्थ है, इस तथ्य पर बल देते हुए आगे वे कहते हैं कि गीता के अनुसार मानव का साध्य परमात्मा की प्राप्ति है। गीता में परमात्मा या ब्रह्म सम है। वस्तुतः जो समत्व में स्थित है वह ब्रह्म में स्थित है, क्योंकि सम ही ब्रह्म है। गीता की दृष्टि में परमयोगी वह है जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है। यदि हम

---

६ 'यस्तु सर्वाणि भूतात्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।' -ईशावास्योपनिषद् ६ ।

गीता की शिक्षा का विचार करें तो कह सकते हैं कि उसमें अनेक स्थलों पर समत्वयोग की शिक्षा दी गई है, जिसका विस्तृत उल्लेख डॉ. सागरमल जैन ने किया है।[७] 'समत्वयोग का तुलनात्मक अध्ययन' नामक पंचम अध्याय में हमने भी गीता की कुछ शिक्षाओं को प्रस्तुत किया है।

न केवल हिन्दू धर्म-दर्शन में अपितु बौद्धदर्शन में भी समत्वयोग के विपुल सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। बौद्ध धर्म-दर्शन का मुख्य लक्ष्य दुःख निवृत्ति है। वह दुःख का मूल कारण तृष्णा को मानता है और दुःख निवृत्ति के लिए तृष्णा के उच्छेद को आवश्यक मानता है। तृष्णा के उच्छेद की यह बात मूलतः समत्व की उपलब्धि को ही अभिव्यक्त करती है। संयुक्तनिकाय में बुद्ध ने कहा है कि आर्यों का मार्ग सम है, आर्य विषम परिस्थिति में भी सम का आचरण करते हैं। बौद्धदर्शन में राग-द्वेष से ऊपर उठने की बात कही गई है। वह भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करती है कि बुद्ध का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को मानसिक तनावों और विक्षोभों से मुक्त करना है। उन्होंने तृष्णा को ही दुःख का मूल कारण बताया है और अपने समस्त चिन्तन में दुःख से विमुक्ति के लिए समत्व की उपलब्धि का ही उपदेश दिया है। बौद्धदर्शन में भी मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार ब्रह्म विहारों का उल्लेख मिलता है; जिन्हें हम समत्वयोग रूपी भवन के चार स्तम्भ कह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समत्वयोग न केवल जैन धर्म-दर्शन का, अपितु बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है। 'समत्वयोग का तुलनात्मक अध्ययन' नामक पंचम अध्याय में हमने जैनदर्शन के समत्वयोग की तुलना गीता के स्थितप्रज्ञ से की है। इसमें हमने यह देखा है कि जो जैनदर्शन का वीतराग, सयोगी केवली या समत्वयोगी है; वही गीता का स्थितप्रज्ञ है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में हमने समत्वयोग पर आधुनिक मनोविज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है और यह पाया है कि आधुनिक मनोविज्ञान में भी आकांक्षाओं के उच्च स्तर को

---

[७] 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग २ पृ. १२-१३ । -डॉ सागरमल जैन ।

मानसिक विक्षोभों एवं तनावों का प्रमुख कारण माना गया है। आकांक्षा का यह उच्च स्तर तृष्णा, आसक्ति और रागात्मक वृत्ति का ही एक रूप है। यह सत्य है कि आधुनिक मनोविज्ञान विक्षोभ एवं तनावों के कारणों के विश्लेषण के रूप में बाह्य तथ्यों अर्थात् कारकों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है। इसकी चर्चा हमने प्रस्तुत अध्याय में की है; किन्तु यदि हम मूलभूत कारण के रूप में देखें तो आधुनिक मनोविज्ञान और समग्र भारतीय चिन्तन इस बात में एकमत हैं कि विक्षोभों और तनावों के मूल में कहीं न कहीं इच्छाओं, आकांक्षाओं और राग-द्वेष के तथ्य निहित हैं। साथ ही इस पर भी विचार किया गया है कि विक्षोभों और तनावों से निश्रित द्वन्द्व क्या है? वे कितने प्रकार के हैं और वे क्यों उत्पन्न होते हैं? उनके निराकरण के उपाय क्या हैं? यह समस्त चर्चा विस्तारपूर्वक इस शोध प्रबन्ध के षष्ठम अध्याय में की गई है। वर्तमान में वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर समत्वयोग की साधना ही एक मात्र ऐसा विकल्प है जिसके माध्यम से हम विक्षोभों और तनावों से ऊपर उठकर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति की स्थापना कर सकते हैं।

।। सप्तम अध्याय समाप्त ।।

सहायक ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
श्रीमद्भगवद्गीता		गीता प्रेस, गोरखपुर	१९५३
श्रीमद्भगवद्गीता रहस्यवाद	तिलक, बालगंगाधर	तिलक मन्दिर, पूना	७८२
अनुयोगद्वारसूत्र		आगमोदय समिति, सूरत	वीर सं. २४५०
भगवतीआराधना		आगमोदय समिति, सूरत	
आचारांगसूत्र भाग दो	आचार्य आत्मारामजी जैन	आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना	१९६३
आचारांगसूत्र (हिन्दी)		स्था. जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई	१९३८
आत्ममीमांसा	पं. दलसुख मालवणिया	जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, पो. ऑ. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस	१९५३
आनन्दघन का रहस्यवाद	साध्वी सुदर्शनाश्री	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, आय.टी.आय. रोड, वाराणसी	१९८४
आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवम् पूर्णता	विजयजयन्तसेनसूरि		
आवश्यकनिर्युक्ति	भद्रबाहु	आगमोदय समिति	वीर सं. २४५४
इण्डियन थाट्स एण्ड इट्स डेव्हलपमेण्ट	श्वेटजर	Adams & Charles Black, 4-5 6 Soho Square, London	१९५१
इण्डियन फिलासफी (भाग १-२)	डॉ. राधाकृष्णन	जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन	
इतिवुत्तक	धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ	बुद्धाब्द २४९९
इसिभासियन (ऋषिभाषित)		सूरत	१९८७
इशावास्योपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर	सं.२०१७
उत्तराध्ययनसूत्र चूर्णि	जिनदासगणि	रतलाम	१९३३

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
उत्तराध्ययनसूत्र दार्शनिक अनुशीलन एवम् वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्व	डॉ. विनीतप्रज्ञाश्री	श्री चन्द्रप्रभु महाराज जुना मन्दिर ट्रस्ट, साहुकार पेट, चेन्नई	२००१
उदान	अनु. जगदीश काश्यप	महाबोधि सभा, सारनाथ	
एथिकल फिलॉसफी ऑफ इण्डिया	आइ. सी. शर्मा	जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन	१९६५
ओघनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी	आगमोदय समिति	१९२७
ऋग्वेद		संस्कृति संस्थान, बरेली	१९६२
कठोपनिषद्	शंकरभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर	सं.२०१७
कर्मग्रन्थ (कर्म विपाक)	देवेन्द्रसूरी श्री आत्मानन्द	जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल	सं.२४४४
कषाय	साध्वी हेमपज्ञाश्री	ध्वचक्षण प्रकाशन, इन्दौर	१९९९
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिकेय, टीका शुभचन्द्र, सम्पा. ए. एन. उपाध्ये, रायचन्द्र जैन	शास्त्रमाला, अगास	१९६०
केनोपनिषद् (१०८ उपनिषदें)		संस्कृति संस्थान, बरेली	
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य	रामचन्द्र आश्रम, आगास	२०५४
गीता	डबल्यु. डी. पी.हिल	ऑक्सफोर्ड	१९५३
गीता (रामानुज भाष्य)		गीता प्रेस, गोरखपुर	सं.२०१८
गीता (शांकर भाष्य)		गीता प्रेस, गोरखपुर	सं.२०१८
गुणस्थान	वीरपुत्र आनन्दसागरजी महाराज		वीर सं. २४७१
गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण	प्रो. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	१९९६
गुणस्थान विवेचन	पं. रतनचन्द भारिल्ल शास्त्री	पतारी प्रकाशन संख्या घटप्रभा, जिला बेलगाँव, कर्नाटक	१९८७

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
गोम्मटसार		'श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला' आगास	सं.१९७२
गोम्मटसार	आचार्य नेमिचन्द्र	श्री परस श्रुत प्रभावक मण्डल	
जैनदर्शन में अतिन्द्रिय ज्ञान	डॉ. संयमज्योतिश्री	जैन कम्प्युटर सर्विस, जालोरी गेट, जोधपुर	सं.१९९७
जैनदर्शन में सम्यक्त्व का महत्व	डॉ. सुरेखा	श्री विचक्षण स्मृति प्रकाशन जयपुर (राजस्थान)	१९८८
जैन सिद्धान्त दीपिका	आ. श्री तुलसी	आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर (राज.)	२००२
जैन विद्या के आयाम	प्रो. डा. सागरमल जैन	पूज्य सोहनलाल स्मारक, पार्श्वनाथ शोधपीठ, आय. टी.आय रोड, करोंदी, पो.ऑ. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	
जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग १-२)	डॉ.सागरमल जैन	प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	१९८२
णमो सिद्धाणं पद : समीक्षात्मक परिशीलन	साध्वी धर्मशीला	श्री उज्जवल धर्म ट्रस्ट, मुम्बई	
तत्त्वार्थसूत्र	सम्पा. पं. सुखलाल सिंघवी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैन इन्स्टिट्यूट, आई. टी. आई. रोड, वाराणसी	१९९३
तत्त्वार्थसूत्र	सम्पा. श्री केवलमुनि	श्री जैन दिवाकर साहित्य पीठ, १५६, महावीर भवन, आगरा	१९८७
तत्त्वार्थसूत्र (राजवार्तिक)	सम्पा. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, प्रधान कार्यालय, १८, इन्स्टिट्युट एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली	१९४४

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका	सम्पा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, प्रधान कार्यालय, १८, इन्स्टिट्यूट एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली	१९९७
तत्त्वार्थवार्तिक भाग १, २	भट्ट अकलंक, महेन्द्रकुमार	भारतीय ज्ञानपीठ	वीर सं. २४९९
दशवैकालिकसूत्र (संस्कृत छाया सहित)	मुनि हस्तीमलजी मोतीलाल बालमुकुन्द मूथा		
दशवैकालिकसूत्र (हिन्दी अनुवाद)		स्थानक जैन कांफ्रेन्स, बम्बई	
दर्शनपाहुड	कुन्दकुन्द	देखिये अष्टपाहुड	
दशवैकालिकनिर्युक्ति		बम्बई	१९९३
ध्यानदीपिका	विजयकेशरसुरीश्वरजी	विजयचन्दसूरीश्वरजी, जैन ज्ञान मन्दिर, नवरंगपुरा, अहमदाबाद	१९७९
धम्मपद	अनु. राहुलजी	बुद्ध विहार, लखनऊ	
धम्मपद (संस्कृत अनुवाद - हिन्दी अर्थ सहित)		इन्द्र, देहली	
धवला	वीरसेन	अमरावती	१९३९-५९
नन्दिसूत्र	संम्पा. मुनि हस्तीमलजी	जैन आगम ग्रन्थमाला	
नवतत्त्वप्रकरण	पं. हीरालाल दूगड़ जैन	श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर संघ, चिकपेठ, बेंगलोर	सं.२०४२
नवपद ज्ञानसार	पुष्फभिक्खु	अगरचन्द नाहर, कलकत्ता	१९३७
नियमसार	कुन्दकुन्द (अनु. अगरसेन)	अजिताश्रम, लखनऊ	
पद्मनन्दिपंचविशतिका	पद्मनन्दि	जीवराज ग्रन्थमाला	१९३२
पुरूषार्थसिद्ध्युपाय		अमृतचन्द्र सेण्ट्रल जैन पब्लिक हाऊस, लखनऊ	१९३३
पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	बम्बई	१९७२

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
प्रज्ञापनासूत्र	आचार्य अमोलकऋषिजी	लाला ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद	
प्रतिक्रमणसूत्र सार्थ		तिलोक रत्न परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी	
प्रवचनसार	कुन्दकुन्दाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	१९३५
प्रवचनसारोद्धार	नेमीचन्दसूरी	श्री देवचन्द लालचन्द पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	वीर सं. २४४८
प्रश्नव्याकरणसूत्र	मुनि हस्तीमलजी	पाली	१९५०
प्रशमरति (भाग १-२)	सम्पा. भद्रगुप्तविजयजी	श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बोइनगर के पास, मेहसाना (राजस्थान)	वि.सं. २०४०
फर्स्ट प्रिंसीपल्स (६ठा संस्करण)	हर्बर्ट स्पेन्सर	वाट्स एण्ड को., लन्दन	
बाइबल (धर्मशास्त्र)		भारत लंका बाइबल समिति, बंगलोर	
बारह भावना : एक अनुशीलन	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए ४, बापूनगर, जयपुर	१९८५
बौद्धदर्शनमीमांसा	बलदेव उपाध्याय	चौखम्भा, वाराणसी	१९५४
बौद्धधर्मदर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना	
बृहद्कल्पनिर्युक्ति	पुण्यविजयजी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	१९३३
बृहद्कल्पभाष्य	पुण्यविजयजी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	१९३३
बृहदारण्यक उपनिषद्		गीता प्रेस	सं.२०१४
भगवतीआराधना	शिवकोट्याचार्य	सखाराम नेमिचन्द, दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर	१९३४
भगवद्गीता	राधाकृष्णन, अनु. विराज, एम. ए.		
भावपाहुड	आचार्य कुन्कुन्द (देखिये अष्टपाहुड)	राजपाल एण्ड सन्स, देहली	१९६२

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
भावनाशतक	शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी	वृन्दावनदास दयाल, कोर्ट, बाजार गेट, बम्बई	वीर सं. २४४७
मज्झिमनिकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप	नव नालन्दा महाविहार संस्करण	
मज्झिमनिकाय (हिन्दी)		महाबोधि सभा, सारनाथ	
मनुस्मृति		पुस्तक मन्दिर, मथुरा	सं.२०३४
महानारायणोपनिषद्	(१०८ उपनिषदें)	संस्कृति संस्थान, बरेली	
महाभारत		गीता प्रेस, गोरखपुर	
महायान	भदन्त शान्तिभिक्षु	विश्व भारतीय ग्रन्थालय, कलकत्ता	
मूलाचार	बट्टकेराचार्य	जैन मन्दिर, शक्कर बाजार, इन्दौर की पत्राचार प्रति	
मोक्खपाहुड (देखिये अष्टपाहुड)	कुन्दकुन्दाचार्य		
योगसार प्राभृत	टमितगति	भारतीय ज्ञानपीठ	२०००
योगसूत्र	देखिये पातंजल योग प्रदीप	गीता प्रेस	सं.२०१८
योगशास्त्र	हेमचन्द्र, सम्पा. मुनि समदर्शी	सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा	१९६३
योगशास्त्र (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)	हेमचन्द्र	श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर	सं. २४५२
योगवासिष्ठ		निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	१९१८
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	समन्तभद्र	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	१९२६
लंकावतारसूत्र			
व्याख्याप्रज्ञप्ति	सम्पा. वेचरदास दोशी	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई	१९७४
वसुनन्दिश्रावकाचार	सम्पा. हीरालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	१९५२
विशेषावश्यक भाष्य	श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण टीका	हेमचन्द्र, हर्षचन्द्र, भूराभाई, बनारस	सं.२४४१

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्रसूरि, लालभाई, दलपभाई	भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ६	१९६८
स्थानांगसूत्र	टीका अभयदेवसूरी	आगमोदय समिति	
स्थानांगसूत्र टीका	अभयदेवसूरी	आगमोदय समिति	
स्पीनोजा नीति	अनु. दीवानचन्द	हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश	
सागराधर्मामृत	पं. आशाधर	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला	१९१७
सम्मतितर्कप्रकरण	आचार्य सिद्धसेन दिवाकर	गुजरात पुरातत्व मन्दिर, अहमदाबाद	सं.१९८०
समत्वयोग : एक समन्वय दृष्टि	डॉ. प्रीतम सिंघवी	नवदर्शन सोसायटी ऑफ सेल्फ डेवलपमेण्ट, अहमदाबाद	१९९६
समयसार	कुन्दकुन्द	अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली	१९५९
समयसार (अंग्रेजी अनुवाद)	कुन्दकुन्द	अजिताश्रम, लखनऊ	
समवायांग	मुनि कन्हैयालाल कमल	आगम अनुयोग प्रकाशन	१९९६
समवायांगसूत्र	श्री मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, बियावर	१९९१
सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ	२०००
श्रमण पत्रिका	प्रो. सागरमल जैन	पार्श्व विद्यापीठ, आय.टी. आय मार्ग, करौंदी, पो. ऑ. बी.एच.यू., वाराणसी	१९९६
श्रमणसूत्र	अमरमुनिजी की व्याख्या सहित	सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा	१९६६
सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग	श्री विजय कलापूर्णसूरीजी महा.	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	१९८७
सामायिक पाठ		अमितगति, देहली	१९६६
सामायिकसूत्र	अमरमुनिजी की व्याख्या सहित	सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा	

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक/प्राप्ति स्थान	वर्ष
सुत्तनिपात	अनु. भिक्षु धर्मरत्न	महाबोधि सभा, बनारस	१९५०
सूत्रकृतांगसूत्र	श्री मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन	१९९२
सूत्रकृतांगसूत्र		स्था. जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई	१९३८
सूत्रकृतांग टीका	शीलंकाचार्य	आगमोदय समिति	वीर सं. २४४२
संयुक्तनिकाय		नवनालन्दा महाविहार	
षट्आवश्यक - एक परिचय			२००१
संयुक्तनिकाय (हिन्दी)	अनु. जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित	महाबोधि सभा	१९५४
हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी	फ्रेंकथिली	सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद	१९६५

आराधना भवन

श्री पार्श्वमणि जैन तीर्थ

पेद्दतुम्बलम, आदोनि.

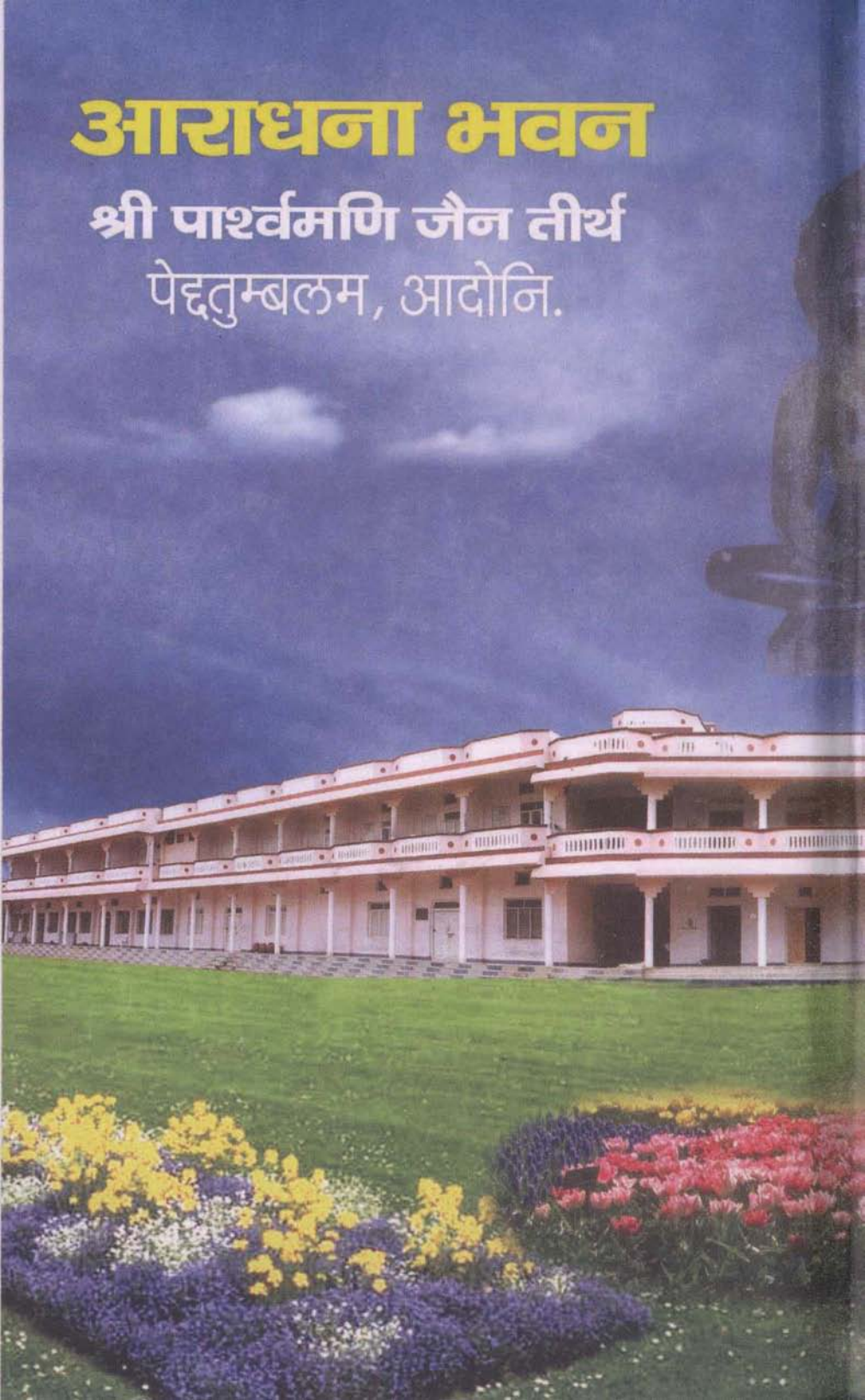

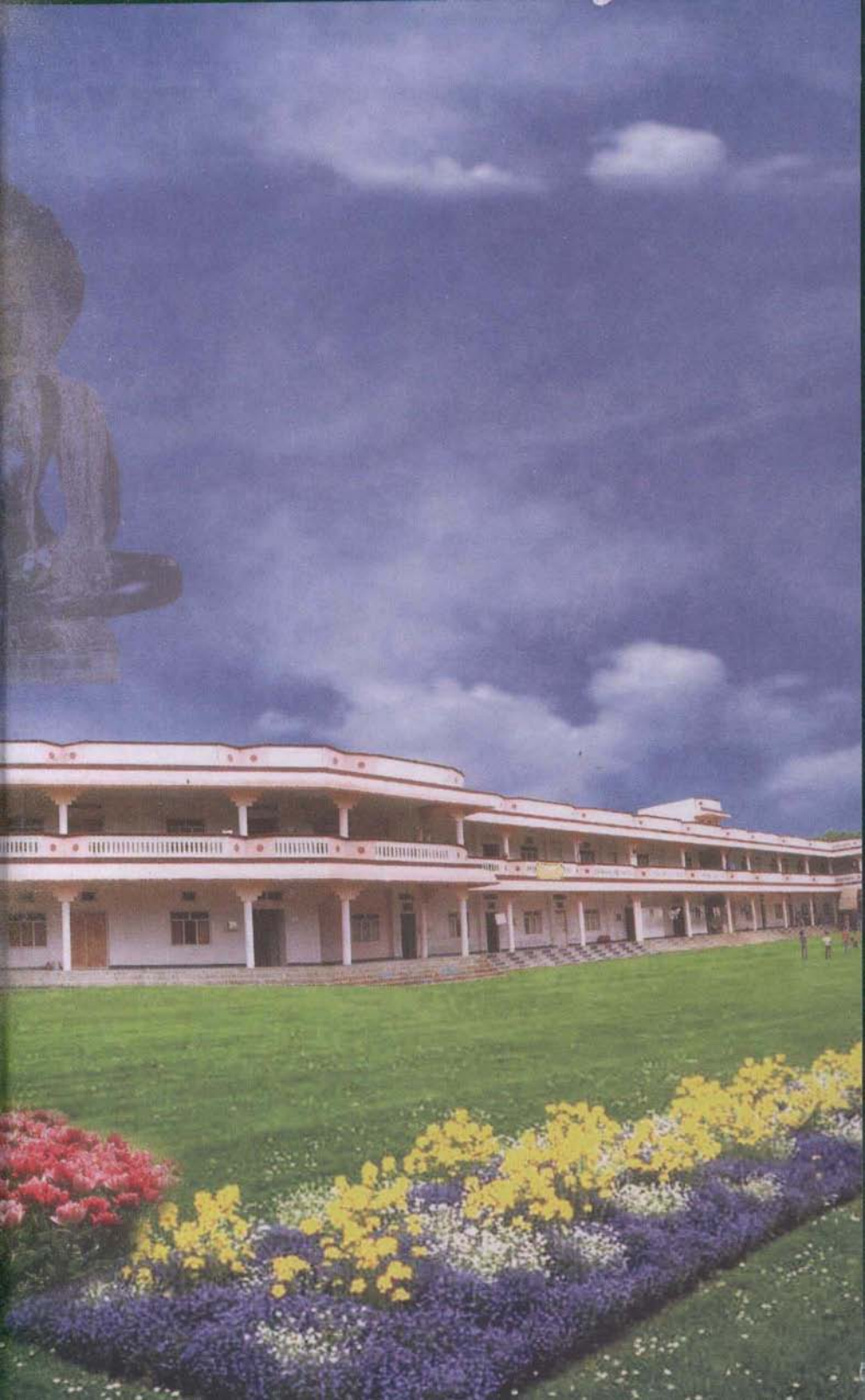

प.पू. गुरुवर्या

सुलक्षणाश्रीजी म.सा.

हे उग्रतपस्वी! ज्ञान मनस्विनी!
सहजता की हो तुम प्रतिमूर्ति...
हे वर्धमान तपाराधिका!
अध्यात्म साधिका!
जिनशासन की तुम हो ज्योति।
ध्यान साधना से आपश्रीने
गहन सागर से पाये मोती।
मनोमस्तिष्क का परिमार्जन कर
'भावना स्रोत' का निर्माण किया।
ओली 108 पूर्णकर,
गच्छ खरतर का गौरव बढ़ाया।
हे उर्जस्विता! निष्कपटता!
सेवा भाव में तुम निरंतर अग्रसर।

हे समतामूर्ति! अट्ठम तपाराधिका!
अन्तर में है वैराग्य का स्पंदन।
हे परमवंदनीया! महातपस्वी!
तुम से धन्य-धन्य है संयम उपवन।
हे आत्म साधिका ! भक्ति रसिका!
तुम हृदय बगिया ज्यूं चंदन।
गुरुवर्या श्री के पावन पद्मों में है
कोटि-कोटि मेरा वंदन।

साध्वी डॉ. प्रियवंदनाश्री

जन्म नाम	:	कु. मंजु गोलेछा
पिताश्री का नाम	:	स्व. श्रीमान भंवरलालजी गोलेच्छा
माताश्री का नाम	:	स्व. श्रीमती मदनबाई
जन्मतिथि, दिनांक	:	आसोज सुदि सातम, 10 अक्टूबर 1967
जन्म स्थान	:	जगदलपुर, बस्तर (छत्तीसगढ़)
दीक्षा तिथि व दिनांक	:	फाल्गुन सुदि चौथ, 7 मार्च 1984
दीक्षा स्थल	:	फलोदी (राज.)
छोटी-बड़ी दीक्षादाता	:	स्व. प.पू. आचार्य श्रीमज्जिन कान्तिसागरजी म.सा.
गुरुवर्या श्री	:	पार्श्वमणि तीर्थ प्रेरिका प.पू. गुरुवर्या श्री सुलोचनाश्रीजी म.सा. उग्रतपस्विनी प.पू. सुलक्षणाश्रीजी म.सा.
विचरण क्षेत्र	:	राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, केरला, तमिलनाडु, छत्तीसगढ़, उड़िसा
तपश्चर्या	:	मासक्षमण, वर्षीतप, वीशस्थानक तप, नवपद ओली, ज्ञानपंचम, मौनएग्यारस
अध्ययन	:	तर्क न्याय, संस्कृत, व्याकरण, हिन्दी तत्त्वज्ञान, आगमादि एम.ए. जैन विद्या और तुलनात्मक धर्म-दर्शन पीएच.डी. - जैन दर्शन में समत्वयोग-एक समीक्षात्मक अध्ययन

विशेषता :

सुलझे हुए निर्णय लेना, निर्णय में समभाव, मन में सेवा भावना, प्राणीमात्र के प्रति दया, करूणा व मैत्री के भाव, प्रसन्नचित्त, हंसमुख चेहरा, वाणी में मधुरता, मृदुता, सरलता, सहजता, शालीनता, व्यवहार कुशलता, क्षमा, परोपकार आदि।

प्रकाशित पुस्तकें :

- सुर सरिता
- श्रद्धांजलि
- सुलोचन सुरभि
- नित्य स्मरण माला
- नित्य स्मरण मालाजैन दर्शन में समत्वयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन